UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186784

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H323.65 Accession No. H176

Author A27N

Title नागरिक शास्त्र की रूपरेखा

This book should be returned on or before the date last marked below.

नागरिक शास्त्र की रूपरेखा

लेखक
नवीन नारायण अग्रवाल, एम. ए.,
राजनीति विभाग,
राजपूत कालेज, आगरा।

१९४८

प्रीश्विपर पब्लिशिंग कम्पनी
पुस्तक प्रकाशक
कच्चारा, देहली

प्रकाशक—
गौरीशंकर शर्मा मैनेजर
एस चाँद एण्ड कम्पनी, देहली

CHECKED 1956

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ४॥)

मुद्रक
राजधानी प्रेस, देहली।

*

लेखक की ओर से

नागरिक शास्त्र का महत्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। भारत के स्वाधीन हो जाने पर तो अब यह और भी आवश्यक हो गया है कि हमारे युवक और युवती नागरिकता की शिक्षा लें, जिससे वे स्वतन्त्र भारत के योग्य और सफल नागरिक बन सकें।

प्रस्तुत पुस्तक नागरिक शास्त्र के ऊंची श्रेणी के विद्यार्थियों और जन साधारण के लिये लिखी गई है। इसमें यथासम्भव इस बात का प्रयास किया गया है कि सभी नवीन विचार-धाराओं का समावेश हो जाय। विद्वान लेखकों और विचारकों से भी आवश्यकानुसार पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। सारांश यह है कि वह सभी सामग्री, जिसकी एक विद्यार्थी अथवा साधारण नागरिक को आवश्यकता हो सकती है, यहां एक ही स्थान पर दे दी गई है।

पर लेखक का यह विश्वास है कि नागरिकता की सच्ची शिक्षा तो सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने से ही प्राप्त हो सकती, यद्यपि पुस्तकों के ज्ञान को भुलाया जा सकता।

यदि इस पुस्तक को पढ़कर विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों को इस विषय के समझने में सुगमता हुई तो पाठक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

साथ ही, लेखक का पाठकों से यह भी अनुरोध है कि पुस्तक पढ़ने पर यदि उन्हें कोई बात समझ में न आवे अथवा खटके, तो वह निस'कोच लेखक को सूचना कर दें। वह इस प्रकार के पत्र-व्यवहार का स्वागत करता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि पाठकों की कठिनाइयों को समझ कर ही अगले संस्करणों को बहुतर बनाया जा सकता है।

१५ मार्च, १९४८. नवीन नारायण अग्रवाल

लेखक की अन्य पुस्तकें

१. संसार के विधान (आगरा, १९४७ ई०)
डा० पट्टाभिसीतारमैय्या की Constitutions of the World का हिन्दी रूपान्तर तथा सम्पादन ।

२. India's Saviour Crucified ! (आगरा फरवरी, १९४८)

३. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ क्या है ? (आगरा फ़रवरी १९४८)

४. बापू का बलिदान, हमारे लिये खुली चुनौती है ! (आगरा, फरवरी, १९४८)

समर्पित

बापू की स्मृति को

जिन्होंने हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया, अत्याचार का सामना करने का साहस दिया, और भाई-भाई की लड़ाई के लिए अपनी जान दे दी।

विषय सूची

पहला	अध्याय	कुछ प्रारम्भिक बातें	१
दूसरा	अध्याय	व्यक्ति और समाज	३६
तीसरा	अध्याय	व्यक्ति और समुदाय	५७
चौथा	अध्याय	परिवार तथा अन्य सम्प्रदाय	७२
पांचवा	अध्याय	राज्य और राष्ट्र	६२
छठा	अध्याय	राज्य की उत्पत्ति तथा स्वरुप के सिद्धान्त	१२६
सातवां	अध्याय	राज्य सत्ता	१५५
आठवां	अध्याय	राज्य के उद्देश्य तथा कार्य	१७०
नवां	अध्याय	कानून आज्ञा पालन और दण्ड	१६१
दसवां	अध्याय	नागरिकता	२१६
ग्यारहवां	अध्याय	अधिकार और कर्तव्य	२२८
बारहवां	अध्याय	स्वतंत्रता और समानता	४८
तेरहवां	अध्याय	शासन प्रणालियां	२६२
तेरहवां	अध्याय	शासन विधान	२६१
चौदहवां	अध्याय	सरकार का संगठन	२६६
पन्द्रहवां	अध्याय	मताधिकार और प्रतिनिधित्व	३२०
सोलहवाँ	अध्याय	राजनीतिक दल	३४१
सतरहवां	अध्याय	लोकमत	३४८
अठारहवां	अध्याय	स्थानीय स्वशासन	३५७
उन्नीसवां	अध्याय	विश्व शांति की समस्या	३६४
बीसवां	अध्याय	Test Questions 1 to 18	

नागरिक शास्त्र की रूपरेखा

पहला अध्याय

कुछ प्रारम्भिक बातें

आधुनिक नागरिक शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है...केवल बीता इतिहास और वर्तमान प्रश्न ही नहीं वरन् वे सभी बातें नागरिक के विचार और उसके प्रोत्साहन की अपेक्षा रखती हैं जिनमें उन्नति योजनायें निहित हैं, जो आवश्यक सुधार करती हैं और जो मानवीय प्रतिभा और प्रयास की ज्योति को सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ाती हैं।

ई० एम० व्हाइट

एक समय था जब कि राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर सोच विचार करना जन साधारण का काम नहीं समझा जाता था किंतु अब समय बहुत बदल चुका है। आज के प्रजातन्त्रवादी युग का विश्वास है कि जब तक नागरिक (citizen) स्वयं अपनी बातों में रुचि नहीं लेते जनता की सच्ची भलाई नहीं हो सकती। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि आप स्वयं अपने हित का ध्यान रक्खें, और अपने अधिकारों (rights), कर्तव्यों (duties) और समस्याओं को समझने का प्रयत्न करें। आज़ाद हिन्दुस्तान में यह जिम्मेदारी पूरी तरह आपके ही कन्धों पर आजायगी। इस लिये यह उचित होगा कि आप अभी से अपने को इस योग्य बनाने का प्रयत्न

करें। इस सम्बन्ध में नागरिक शास्त्र आपके बहुत काम का विषय है। यह आपको उन सभी बातों से परिचित करावेगा जिनका जानना समझदार नागरिकों के लिये नितान्त आवश्यक है।

नागरिक शास्त्र क्या है ?

अपने जीवन के साथ नागरिक शास्त्र के घनिष्ट सम्बन्ध का कुछ आभास पाकर स्वाभावतः ही उसके सम्बन्ध में आप का कौतूहल बहुत बढ़ गया होगा। नागरिक शास्त्र जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है मनुष्यों के कार्यों और समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला एक मानव ज्ञान है। मानव-ज्ञान साधारणतः दो प्रकार के होते हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत। सामाजिक ज्ञान वे हैं जो मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करते हैं और व्यक्तिगत ज्ञान व्यक्तियों की विशेषताओं पर ध्यान देते हैं। नागरिक शास्त्र एक सामाजिक ज्ञान है क्यों कि वह सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के जीवन का अध्ययन करता है। इस प्रारम्भिक सूचना के पश्चात् हम इसके अर्थ पर विचार करेंगे।

शाब्दिक अर्थ—नागरिक शास्त्र एक पाश्चात्य विद्या है। अतएव इसका ठीक अर्थ समझने के लिये आपको इसके अंगरेजी शब्द 'सिविक्स' (civics) की ओर ध्यान देना चाहिये। यह शब्द लैटिन भाषा से अंगरेजों में आया है। लैटिन में इससे मिलते-जुलते दो शब्द मिलत हैं। इनमें एक हैं 'सिविस' (civis) जिसका अर्थ नागरिक है और दूसरा है 'सिविटास' (civitas) जिसका तात्पर्य नगर है। इससे यह ज्ञात होता है कि नागरिक-शास्त्र वह विषय है जिसका सम्बन्ध 'नागरिक' और 'नगर के जीवन' से है।

इस कथन का अभिप्राय ठीक से समझने के लिये आपको 'नगर' और 'नागरिक' शब्दों के प्राचीन और आधुनिक अर्थों को समझ

लेना चाहिये। आज नगर ऐसे स्थानों को कहा जाता है जहां हजारों की संख्या में मनुष्य बसते हैं, जहां पक्के मकान और सड़कें होती हैं और जहाँ के निवासी व्यापार या उद्योग धन्धों द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं। पर प्राचीन ग्रीस या रोम में नगर केवल एक निवास-स्थान मात्र न था, वह एक स्वतन्त्र राज्य भी होता था। वह युग छोटे-छोटे नगर-राज्यों (city states) का था। उस समय नगर और उसके आसपास का प्रदेश मिलाकर एक स्वाधीन राज्य होता था। प्राचीन रोम स्वयं इसी प्रकार का एक नगर-राज्य था। इन राज्यों के बाहरी सम्पर्क बहुत कम थे। नगर अपने में ही एक राज्य भी था और समाज भी। ग्रीक भाषा में तो इन तीनों अर्थों में केवल एक ही शब्द प्रयुक्त होता था—'पोलिस' (polis) इसके अर्थ यह हुए कि उनकी भाषा में नगर का जीवन, सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन एक ही बात थी।

अब आप 'नागरिक' का अर्थ देखिये। प्राचीन युग में नागरिक उन स्वाधीन निवासियों को कहा जाता था जिन्हें राज्य में समान रूप से सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार था। आप शायद साधारण बोलचाल में नागरिक का अर्थ 'नगर का रहने वाला' समझते हों। प्राचीन रोमन युग में नागरिक नगर-निवासी तो अवश्य होता था किंतु प्रत्येक नगर-निवासी नागरिक न था। दास-नारियाँ, बच्चे, विदेशी इत्यादि नागरिक नहीं समझे जाते थे। यही नहीं नगर से बाहर रहने वालों को भी नागरिकता की सुविधाएं प्राप्त न थीं। केवल 'अधिकार प्राप्त नगर-निवासी' ही नागरिक होते थे। उस समय सामाजिकता यानी मेलमिलाप का क्षेत्र भी बहुत सीमित था। उन दिनों न तो आज की सी सड़कें थीं और न मोटर, रेल, जहाज़ या वायु यान। बाहरी सम्पर्क भी बहुत कम होते थे। पर अब समय बहुत

बदल चुका है। नगर-राज्यों का स्थान अबदे श-राज्यों (Country-States) ने ले लिया है और एक राज्य में अब अनेक छोटे-बड़े नगर और हज़ारो की संख्या में गांव होते हैं। यही नहीं अब राज्य में रहने वाले ऐसे सभी व्यक्तियों को जो विदेशी नहीं हैं बिना जाति, धर्म व्यवसाय और लिंग का ख्याल किये नागरिक माना जाता है। इन परिवर्तनों के कारण सामाजिक मेलजोल का दायरा भी अब बहुत बढ़ गया है यहां तक कि विज्ञान ने यातायात और सन्देश के सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दुनियां के प्रत्येक भाग को एक दूसरे क बहुत समीप ला दिया है। अब आप जहा चाहें जा सकते हैं, घर बैठे दूर-दूर के लोगों से पत्र व्यवहार कर सकते हैं, बातें कर सकते हैं और उनकी आवाजें सुन सकते हैं। दुनियाँ की यह एकता इस सीमा पर पहुंच गई है कि संसार के किसी भाग में होने वाली घटनाओं के असर से आप अछूते नहीं रह सकते। पिछले दो विश्व-युद्धों की घटनायें इस बात को स्पष्ट कर देती हैं। इन्हीं बातो को ध्यान में रखते हुये कुछ विचारकों* क यह सुझाव है कि नागरिकता को भी अब राज्य की सीमा तक संकुचित न रक्खा जाये। समय आ गया है कि अब राज्य के भी ऊपर मनुष्य मात्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझा जाय। इसके लिये अपने दृष्टिकोण को राज्य के संकुचित घेरे से निकाल कर व्यापक बनाना होगा। संसार में शांति बनाये रखने का यही एक मात्र उपाय है।

इस प्रकार आपके सामने यह स्पष्ट हो गया कि नागरिक शास्त्र के अध्ययन का केन्द्रःबिन्दु नागरिक है और यह नागरिकता अब स्थानीय न रह कर राष्ट्रीय तथा सार्वभौमिक हो गई है।

---

*सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद का यही मत है। देखिए 'The Democratic Process' (1935) pp 5-6,

नागरिक शास्त्र की अध्ययन सामग्री—नागरिक शास्त्र के अर्थ देखने के बाद आपके सामने उसकी अध्ययन सामग्री पर विचार किया जायगा। आप जानते हैं कि नागरिक अनेक सम्बन्धों का केन्द्र होता है। वह राज्य का सदस्य तो होता ही है पर साथ ही वह दूसरे समुदायों (associations) और सम्प्रदायों (Communities) का भी सदस्य होता है। अपने परिवार, स्थान, प्रान्त तथा देश के निवासी होने के अतिरिक्त वह जन्म से या इच्छा से अन्य समुदायों का भी सदस्य बन जाता है। आप स्वयं भी कालेज, क्लब, पुस्तकालय, छात्र-संघ आदि के सदस्य होंगे। इनके सदस्य होने के नाते आपको कुछ सुविधायें (Privilages) मिलती हैं और साथ ही आपकी जिम्मेदारियां यानी कर्तव्य (duties) बढ़ जाते हैं। नागरिक शास्त्र इन सभी का समुचित अध्ययन करता है। साथ ही वह व्यक्ति के साथ समुदायों और सम्प्रदायों के सम्बन्धों और इनके आपसी सम्बन्धों पर भी विचार करता है।

नागरिक के ये सम्बन्ध कभी कभी बड़ी कठिनाई उत्पन्न कर देते हैं। उसकी विभिन्न जिम्मेदारियों के बीच जब एक विरोध या संघर्ष उपस्थित हो जाता है तो उसकी समझ में यह नहीं आता कि वह क्या करे। इसी प्रकार कभी कभी नागरिकों, समुदायों और सम्प्रदायों के स्वार्थ भी आपस में टकराने लगते हैं। यदि इन में खुले आम टक्कर होने दी जाय तो समाज की शान्ति और व्यवस्था ही खतरे में पड़ जाय। अतएव इस कठिनाई को दूर करने में सहायता देने के लिये नागरिक शास्त्र कुछ ऐसे मोटे सिद्धान्त निर्धारित करता है जिनके अनुसार काम करने से व्यक्ति का भी पूर्ण विकास हो सके और समाज की भी अधिक भलाई हो। इसलिये एक विद्वान ने इसे 'उचित सामाजिक व्यवहार

का विज्ञान' कहा है। पर नागरिक शास्त्र के अध्ययन का यह तो केवल एक पक्ष है। अतएव यह परिभाषा पूर्ण नहीं है।

इसके अतिरिक्त नागरिक शास्त्र आपके सामने उठने वाली नित्य प्रति की समस्याओं पर भी विचार करता है। ये समस्यायें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक, सम्प्रदायिक अथवा राजनीतिक हो सकती हैं। उदाहरण के लिये आपके सम्मुख बेकारी, बीमारी, गरीबी, अशिक्षा छुआछूत, नारी समस्या, मजदूर-समस्या, औद्योगीकरण, राष्ट्रीयकरण, जमींदारी का प्रश्न, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न आदि ऐसे सवाल प्रस्तुत हैं जिन्हें आपको हल करना है। इनका समाधान करने के लिये आपको वर्तमान (present) दशा का समुचित अध्ययन करना होगा। पर वर्तमान अवस्था को ठीक ढग से तभी समझा जा सकता है जब आप उसे ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के साथ देखें। इससे आपको वर्तमान अवस्था को समझने में बहुत सहायता मिलेगी। साथ ही आपको यह भी पता लग जायगा कि समय का प्रवाह किस ओर है। इससे आपको भविष्य के लिये अपना आकर्श निर्धारित करने और उस तक पहुंचने में भी आसानी हो जायगी। इस प्रकार नागरिक शास्त्र में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो ही अवस्थाओं का अध्ययन करना होता है और जैसा कि आप ऊपर देख चुके हैं यह अध्ययन अब केवल स्थानीय न रह कर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह शांति रक्षा के लिये बनाये गये पिछले राष्ट्र संघ (League of Nations) और वर्तमान सयुक्त राष्ट्रीय संघ (United Nations Organisation) के सगठन तथा प्रयत्नों पर भी ध्यान देता है। मिस व्हाइट ने कहा भी है कि 'नागरिक शास्त्र वह विषय है जो नागरिकता से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार

करता है; भूत भविष्य और वर्तमान; स्थानीय राष्ट्रीय और मानवीय।'

अध्ययन के क्षेत्र के इतने व्यापक होने पर भी आपको यह न भूलना चाहिए कि अब भी नागरिक शास्त्र में वर्तमान दशा और राष्ट्रीय समस्याओं पर ही विशेष बल दिया जाता है।* अतएव नागरिक शास्त्र में राजनीति के मूल सिद्धान्तों तथा शासन विधान का अध्ययन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आज के प्रजातन्त्रीय युग में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। प्रजातन्त्र का अर्थ ही यह है कि नागरिक स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य चलावें। वे यह काम सफलता पूर्वक तभी कर सकते हैं जब उन्हें राज्य के ध्येय, कार्य, संगठन आदि का समुचित ज्ञान हो। यही नहीं उन्हें अपने देश की शासन-व्यवस्था से भी अच्छी तरह परिचित होना चाहिये।

नागरिक शास्त्र की अध्ययन-सामग्री पर सरसरे ढंग से विचार करने के बाद आप यह कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र में नागरिक के विभिन्न सम्बन्धों, उसके अधिकार तथा कर्तव्यों, राजनीतिक के मूल सिद्धान्तों तथा देश की शासन-प्रणाली का परिचय दिया जाता है और साथ ही नागरिक समस्याओं का विश्लेषण और उनको हल करने के सुझाव दिये जाते हैं।

नागरिक शास्त्र का उद्देश्य—यों तो प्राचीन काल से ही शिक्षा का उद्देश्य 'नागरिकता की तैयारी' बतलाया जाता रहा है किन्तु वर्तमान समय के पहले ऐसे किसी विषय की नींव नहीं पड़ी जो इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन करता हो। पिछली सदी के अन्तिम भाग में जाकर कहीं

---

*देखिये Dr. Beni Prasad, the A. B. C. of civics (1935) p. 7 और C. M. white, the Foundation of civics, pp. 8—9.

यह कभी पूरी हुई और 'सिविक्स' की पढ़ाई की शुरूआत हुई। (आक्स फोर्ड इङ्गलिश डिक्सनरी के अनुसार 'सिविक्स' शब्द का प्रयोग ही सन् १८८७ ई० के पूर्व कहीं नहीं मिलता।) इस नये विषय का उद्देश्य शिक्षा को वास्तविकता के समीप लाकर उसे व्यावहारिक बनाना है। साथ ही यह उच्चतम नागरिक जीवन के लिये आवश्यक दशा और संस्थाओं की खोज निकालना चाहता है जिससे नागरिकों का जीवन सुखमय, शान्ति पूर्ण और सब प्रकार से पूर्ण बनाया जा सके।

नागरिक शास्त्र का स्वरूप—यहां आपको देखना यह है कि नागरिक शास्त्र किस प्रकार का ज्ञान है: क्या यह एक 'विज्ञान' (Science) है अथवा 'कला' (Art)? या यह विज्ञान और कला दोनों ही है? इसके पूर्व कि आप इस प्रश्न का ठीक उत्तर दे सकें आपको यह समझ लेना होगा कि 'विज्ञान' और 'कला' के ठीक अर्थ क्या हैं।

एक विधिवत् ज्ञान विज्ञान भी हो सकता है और कला भी। विज्ञान स्वयं दो प्रकार का होता है; यथार्थवादी (Positive) और आदर्श-वादी (Normatie) निम्नलिखित वर्गीकरण से यह स्पष्ट हो जायगा :—

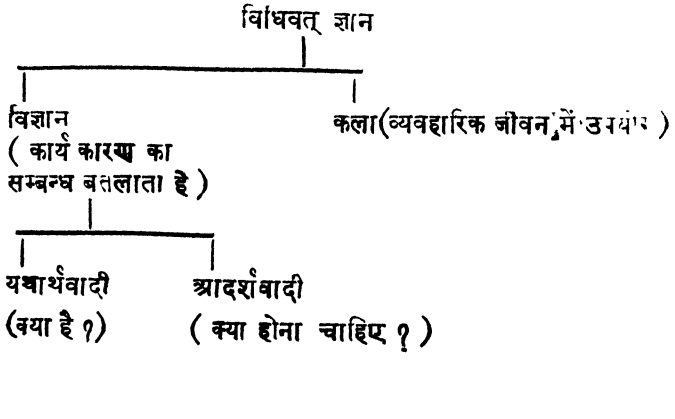

१—एक यथार्थवादी विज्ञान वर्तमान दशाओं का अध्ययन करता है। वह अपने क्षेत्र में यह बतलाता है कि कोई बात क्यों और कैसे है। उसे इस बात से कोई मतलब नहीं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। उसका काम केवल घटनाओं के कारण बतलाना है और कारणों से परिणाम पर पहुंचना है। २—कला दूसरी ओर इस बात का प्रयास है कि कुछ आदर्शों को किस भांति सरलता से प्राप्त किया जाय; और त्रुटियों को दूर किया जाय, किंतु इन आदर्शों या त्रुटियों का निर्णय नागरिक शास्त्र का आदर्शवादी पक्ष करता है। ३—एक आदर्शवादी विज्ञान उन आदर्शों को बतलाता है जिनको हमें अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त करना है। वह यह विचार करता है कि समाज के लिए क्या आदर्श अवस्था है। दूसरे शब्दों में आप यों कह सकते हैं कि वह क्या होना चाहिए' पर विचार करता है।

ज्ञान की इन विभिन्न शाखाओं में अन्तर यह है कि यथार्थवादी विज्ञान नागरिक बातों का साधन करता है, उनकी व्याख्या करता है और उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करता है; यानी यह 'क्या है' का अध्ययन करता है। आदर्शवादी विज्ञान 'क्या होना चाहिए' पर विचार करता है यानी उन आदर्शों को बतलाता है जिन्हें प्राप्त करना है। कला पक्ष उन उपायों को सुझाता है जिनके द्वारा आदर्श प्राप्त किये जा सकते हैं, यानी 'जो है' (वर्तमान) 'जो होना चाहिए' आदर्श के समीप लाने का प्रयत्न करता है। कला इस प्रकार से वह पुल है जो वर्तमान और आदर्श के बीच की खाई को पाट कर प्रगति के लिए मार्ग तैयार करती है।

नागरिक शास्त्र की परीक्षा करने से यह पता चलता है कि यह एक विज्ञान भी है और कला भी। १—एक यथार्थवादी विज्ञान के नाते यह नागरिकों के सामाजिक, नैतिक आर्थिक, बौद्धिक, धार्मिक साम्प्र-

दायिक और राजनीतिक बातों के सम्बन्ध में तथ्यों को एकत्रित करता है उनकी तुलना और वर्गीयकरण करता है और उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करता है। नागरिक शास्त्र यह देखता है कि वर्तमान समस्यायें कब, क्यों और कैसे उठ खड़ी हुईं। २–एक आदर्शवादी विज्ञान के नाते कुछ ऐसे नियम, सिद्धान्त, विचार अथवा आदर्श सामने रखता है जिन पर ध्यान रख कर चलने से समाज को बहतर बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिये इसका कहना है कि सच्ची नागरिकता अपने कर्तव्यों में उचित सामंजस्य स्थापित करने में है, क्षुद्र स्वार्थों को बड़े हितों के लिये त्याग देना चाहिये आदि। नागरिक शास्त्र में भले और बुरे की पहिचान करने की एक कसौटी भी है : सामाजिक हित के लिये अनुकूलता। इसी आधार पर यह सभी बातों की जांच करता है। नागरिक शास्त्र के अध्ययन का यह पक्ष इतना महत्वपूर्ण है कि यदि इसे निकाल दिया जाय तो यह विषय किसी व्यावहारिक लाभ का न रहेगा। ३—एक कला के नाते नागरिक शास्त्र उन उपायों को बतलाता है जिन पर चल कर आदर्श अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यहं नहीं वह 'अपनी खोजों के परिणामों का उपयोग लोक-कल्याण की वृद्धि के लिये करता है।'

परिभाषा—नागरिक शास्त्र के अर्थ, उसकी अध्ययन सामग्री, उसके उद्देश्य तथा स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेने के पश्चात् अब नागरिक शास्त्र की एक ऐसी परिभाषा दी जा सकती है जिसमें इसकी सभी महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़े : **नागरिक शास्त्र एक ऐसा विज्ञान और कला है जो नागरिकों को उनके विभिन्न सम्बन्धों उनके अधिकारों और कर्तव्यों, राजनीति के मूल सिद्धान्तों तथा देश की शासन-प्रणाली से परिचित कराता है और साथ ही उनकी समस्याओं का विश्लेषण करके उनको हल करने के हेतु**

सुझाव उपस्थित करता है जिससे नागरिक जीवन की उन्नति में व्यावहारिक सहायता मिल सके।

२—अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध

जैसा कि आप देख चुके हैं नागरिक शास्त्र एक मानव ज्ञान है। अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों से इसका घनिष्ट सम्बन्ध हो। यहां एक एक करके इन पर विचार किया जायगा।

नागरिक शास्त्र और समाज शास्त्र—समाज शास्त्र (Sociology) एक आम सामाजिक विज्ञान है और सामाजिक जीवन के मूल तत्वों का अध्ययन करता है।* यह समाज की उत्पत्ति, उसके विकास और समस्त सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार यह ऐसा विज्ञान है जो मनुष्यों के सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों का अध्ययन

---

* देखिये Beni Prasad, The A B C of Civics, P-3. 'Sociology deals with social development in general and analyses the groundwork of social life'. साथ में देखिये Gilchrist, Principles of Political science. [1940], p. 11. गिलक्राइट लिखते हैं, 'Sociology is the general social science...society is the study of elementary principles of social union. It is not the sum of various social sciences but the fundamental science of which to use thl term of a well-known American writer Professor Giddings, they are "differentiations".

करता है। इसी कारण इसे 'समाज का विज्ञान' भी कहा गया है। इस अर्थ में इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है और नागरिक शास्त्र, राजनीति अर्थ शास्त्र इत्यादि सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस ज्ञान के जन्मदाता कामठे ने इसे 'सामाजिक विद्वानों के पिता' का पद देना भी चाहा था। इस प्रकार नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र की एक शाखा मात्र रह जाता। किन्तु कामते अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके और समाज शास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ केवल एक सामाजिक विज्ञान का पद ही मिल सका। इसलिये नागरिक शास्त्र को समाज शास्त्र का एक शाखा समझना या कहना एक गहरी भूल है। वास्तव में ये दोनो ही स्वन्त्र विषय हैं।

इन दोनों के बीच का भेद स्पष्ट है। १—समाज शास्त्र एक आम सामाजिक विज्ञान है और उसके अध्ययन का विषय समस्त सामाजिक जीवन है। इस प्रकार उसके अध्ययन का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। किन्तु नागरिक शास्त्र केवल सगठित समाज में नागरिकता का ही अध्ययन करता है। २—नागरिक शास्त्र में हमारे अध्ययन का केन्द्र वर्तमान दशा और नागरिक समस्यायें होती हैं। केवल उन्हें समझने के लिये ही हम पूर्व इतिहास पर दृष्टि डालते हैं और भविष्य के लिये सुधार के प्रयत्न भी करते हैं। किंतु समाज शास्त्र मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था से वर्तमान स्वरूप तक का सिलसिलेवार अध्ययन करता है। वह सगठित और असंगठित सभी समाजों से सम्बन्ध रखता है और देखता है कि समाज किस प्रकार परिवर्तित होकर क्रमशः वर्तमान रूप में आया। वह सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर भी समान रूप से ध्यान देता है। ३—नागरिक शास्त्र में हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जब कि समाज शास्त्र इस बात की अच्छी तरह खोज बीन करता है कि मनुष्य कब, क्यों और कैसे सामा-

जिक बना, और उसके प्राचीनतम समाज का क्या रूप था। ४-समाज शास्त्र अच्छी-बुरी सभी संस्थाओं प्रथाओं और प्रवृत्तियों का निर्मम रूप से अध्ययन तथा वर्णन करता है। वह मुख्यतया एक यथार्थवादी विज्ञान है और सभी बातों का बिना भेदभाव के वर्णन करना उसका काम है। किन्तु नागरिक शास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान और कला भी है। उसका काम यह है कि वह नागरिक जीवन के लिये आदर्श स्थापित करे, भलाई बुराई से नागरिकों को आगाह करे और उन्हें अच्छे नागरिक बनने की प्रेरणा दे। इस कारण नागरिक शास्त्र चुनकर केवल उन्हीं प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है जो नागरिकों के व्यावहारिक जीवन पर असर डालती हैं, अथवा जो उनके लिये हितकर हैं, या हो सकती हैं।

इन भेदों के रहते हुये भी नागरिक शास्त्र को समाज शास्त्र से बहुत सहायता मिली है। समाज शास्त्र ने ही नागरिक शास्त्र को प्राचीन समाज से परिचित कराया है और सामाजिक विकास के सम्बन्ध में उन मोटे सिद्धान्तों को बताया है जिनके सहारे नागरिक जीवन को सुन्दर और सुखमय बनाया जा सकता है।

१. नागरिक शास्त्र और इतिहास—इतिहास विगत जीवन की घटनाओं का वर्णन है। वह आपको बतलाता है कि किस प्रकार मनुष्य धीरे धीरे उन्नति करके वर्तमान अवस्था तक पहुंचा। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि हर समय मनुष्य ने उन्नति ही की हो, किन्तु मोटे रूप में यह बात सच है। इस प्रकार इतिहास मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और बौद्धिक जीवन के विकास की एक रंगीन और मनोरंजक कहानी है। एक विद्वान ने इतिहास को 'मानव सभ्यता की कहानी' भी कहा है। सीधे सादे शब्दों में आप कह सकते हैं कि इतिहास मनुष्य जाति के अनुभवों का कोष है। इससे हमें मनुष्य

की सफलताओं और विफलताओं बुद्धिमानी और भूलों का पता चलता है।

इस प्रकार का अध्ययन यों तो मनोरंजक होता ही है, किन्तु नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिये यह बड़े काम का भी है। इतिहास आपको वर्तमान नागरिक जीवन को समझने में बहुत सहायता देता है। कहा जाता है कि वर्तमान भूत काल की देन है, अतएव आज की बातों को पिछली घटनाओं की रोशनी में ही ठीक से समझा जासकता है। आप किसी भी नागरिक समस्या को लेलीजिये बिना पिछला इतिहास जाने न तो आप उसे ठीक से समझ ही सकेंगे, और न उसका कोई हल ही खोज सकेंगे। इन गुत्थियों को सुलझाने के लिये सर्वप्रथम आपको यह देखना होगा कि यह प्रश्न पैदा कैसे हुआ, इसे हल करने के क्या प्रयत्न हुये, उन्हें कितनी सफलता मिली, अब समस्या क्या है इत्यादि, इस प्रकार आप यह देख लेते हैं कि आपके पूर्वजों ने क्या प्रयत्न और क्या भूलें की, उनका क्या परिणाम हुआ और अब उन्हें सुधारने के लिये आप क्या कर सकते हैं। इस प्रकार इतिहास हमें ऐसी सामग्री प्रदान करता है जिसके आधार पर नागरिक शास्त्र का निर्माण किया गया है।

यही नहीं कुछ विषय ऐसे भी हैं जिन्हें इतिहास तथा नागरिक शास्त्र दोनों ही अध्ययन करते हैं जैसे, सामाजिक अवस्था, आर्थिक विकास राजनीतिक, तथा धार्मिक, जाग्रति, शासन व्यवस्था इत्यादि। इस प्रकार इन दोनों विषयों का बहुत घनिष्ट सबंध है।

पर इन दोनों का अन्तर भी हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिये। (१) इतिहास का काम केवल सिलासिलेवार घटनाओं पर विचार करना है। नागरिक शास्त्र का इससे कोई संबंध नहीं। वह तो केवल इतिहास की सहायता इसलिये लेता है कि वर्तमान अवस्था पर प्रकाश पड़े। (२) इतिहास वर्णनात्मक होता है पर नागरिक का काम है इन

घटनाओं और तथ्यों पर विचार करना जिससे व्यावहारिक जीवन में पथ-प्रदर्शन के लिये कुछ नियम सिद्धान्त स्थिर किये जा सक । इस प्रकार दोनों के अध्ययन के दृष्टिकोण भिन्न २ हैं (३) नागरिक शास्त्र का काम आदर्श तथा सिद्धान्त स्थिर करना है किन्तु इतिहास का नहीं। इस प्रकार नागरिकता के सिद्धान्तों से इतिहास का कोई सीधा लगाव नहीं। (४) इतिहास में भी ऐसी अनेक बातें होती हैं जो नागरिक शास्त्र के किसी भी काम की नहीं है। उदाहरण के लिये नागरिक शास्त्र को युद्ध विशेष से और उसके पक्षों से कोई मतलब नहीं, किन्तु उसे यह अवश्य सोचना पड़ता है कि युद्ध मानव जीवन पर पक्का प्रभाव डालते हैं और हम इनसे मुक्ति पाई जा सकती है ।

नागरिक शास्त्र और राजनीति—राजनीति वह सामाजिक विज्ञान है जो राज्य तथा सरकार से सबन्धित है ।

राजनीति तथा नागरिक शास्त्र का प्रारम्भ से ही बहुत घनिष्ट सबंध रहा है। यदि इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति* पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि दोनों का अर्थ एक ही है,—नगर-राज्य के कार्यों का अध्ययन' । वास्तव में काफी समय तक दोनों शब्द एक ही ज्ञान के सूचक रहे भी। पर धीरे धीरे दोनों में अन्तर पड़ता गया नगर-राज्यों के अन्त हो जाने के पश्चात राजनीति ने नगर के साथ के अपने पुराने सबंध का लगभग भुला सा दिया और वह राज्य तथा शासन की विद्या का द्योतक हो गई। दूसरी ओर नागरिक

---

*व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों ही में बहुत समीपता है । लैटिन शब्द Civilas जिससे Civics का सबंध है और ग्रीक शब्द Polis जिससे Political Science का सबंध है, के अर्थ एक ही हैं 'नगर' अथवा 'नगर-राज्य'। प्रारम्भ में दोनों ही शब्द पर्यायवाची माने जाते थे ।

शास्त्र में नगर तथा नागरिक के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे से दूर दूर होते गये।

इन दोनों ज्ञानों के अलग २ हो जाने पर भी इनका आपस का संबंध अत्यन्त समीपता का है। दोनों ही मनुष्य को एक संगठित समाज के प्राणी के रूप में अध्ययन करते हैं। दोनों मे ही मनुष्यों समुदायों राज्य और इनके पारस्परिक सबंधों का वर्णन रहता है। दोनों ही अधिकारों, कर्तव्यों, राज्य तथा शासन के सबंध में विचार करते हैं। दोनों ही विषयों का स्वरूप और उनकी अध्ययन पद्धति एक सी है। दोनों एक ही प्रकार के सिद्धान्त स्थिर करते हैं। दोनों ही उन अवस्थाओं को पता लगाने और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं जिनमें सुखी जीवन की प्राप्ति हो सकती है। दोनों ही उन संस्थाओं के संगठन तथा उनके संचालन के बारे में जानने का प्रयत्न करते हैं जिनके द्वारा सामाजिक शांति और सुव्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

उपरोक्त समता के आधार पर कभी कभी नागरिक शास्त्र को राजनीति की एक शाखा मात्र कह दिया जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे 'प्राथमिक राजनीति' (Elementary Politics) कह कर भी पुकारा है। यह ठीक है कि नागरिक शास्त्र और राजनीति के कुछ विषय एक ही हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि कुछ विषय मूलतः हैं तो राजनीति के पर नागरिक शास्त्र भी उनका अध्ययन करता हैं। किन्तु इस आधार पर नागरिक शास्त्र को एक शाखा या अंग मात्र घोषित कर देना उचित नहीं है। दोनों ही अपना अलग अस्तित्व रखते हैं और दोनों में अन्तर भी है। (१) राजनीति के अध्ययन का विषय राज्य और शासन हैं जब कि नागरिकता के अध्ययन का विषय

नागरिक और शासन है जबकि नागरिकता के अध्ययन का विषय नागरिक और उसकी समस्यायें हैं। यह ठीक है कि नागरिक शास्त्र राज्य तथा शासन सबंधी बातों का कुछ अध्ययन करता है किन्तु यह केवल इसलिये है कि यह प्रजातन्त्र का युग है जिसमें जनता के चुने हुये प्रतिनिधि शासन कार्य चलाते हैं। अतएव, सफल नागरिकों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे राज्य तथा शासन के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी रक्खें। (२) नागरिक शास्त्र का क्षेत्र राजनीति से बहुत अधिक विस्तृत है। वह राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक आदि पक्षों पर भी विचार करता है। इसके विपरीत राजनीति का अध्ययन उतना विस्तृत न होकर अपेक्षाकृत बहुत अधिक गहरा होता है। यदि राजनीति नागरिक शास्त्र के समान विस्तीर्ण नहीं है तो गहराई में नागरिक शास्त्र भी राजनीति की तुलना नहीं कर सकता। (३) नागरिक शास्त्र पास-पड़ोस और राष्ट्रीय विषयों पर अधिक बल देता है और नागरिकों को कर्तव्य-पालन के लिये प्रेरित करता है। इसके विपरीत राजनीति के मुख्य विषय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न हैं और उसका ध्यान अधिकारों और उन्हें प्राप्त करने के उपायों की ओर अधिक रहता है। (४) नागरिक शास्त्र का उद्देश्य है अच्छे सामाजिक जीवन के उपयुक्त संस्थाओं का निर्माण और उसके लिये उपयोगी सिद्धान्तों की खोज निकालना। दूसरी ओर राजनीति भी राज्य व्यवस्था के उस संगठन और सिद्धान्तों का वर्णन करती है जो शान्ति-व्यवस्था स्थापित करता है। इस प्रकार जहां राजनीति के अध्ययन के विषय राज्य मात्र हैं, वहां नागरिक शास्त्र सभी सामाजिक संस्थाओं और समुदायों से सम्बन्ध रखता है।

दोनों में अन्तर रहते हुए भी दोनों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। नागरिक शास्त्र नागरिकों को योग्य और सफल नागरिक बनाना चाहता

जिससे सामाजिक जीवन शान्तिपूर्ण और सुखमय हो सके। राजनीति उन्हें राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में बतलाती है और शासन कार्य की शिक्षा देता है। इस प्रकार ये विषय एक दूसरे के पूरक हैं। बिना राजनीति की कुछ जानकारी रक्खे कोई व्यक्ति सफल नागरिक नहीं बन सकता और न राजनीतिक संस्थायें ही बिना योग्य नागरिकों के ठीक से चल सकती हैं फिर राज्य-व्यवस्था के ठीक न होने से नागरिकता के विकास में भी आवश्यक बाधायें आ उपस्थित होती हैं। इसलिये दोनों का ही सहयोग आवश्यक है। शिक्षा के क्षेत्र में यह सहयोग स्पष्ट दिखलाई भी पड़ता है और नागरिक शास्त्र के पश्चात् अध्ययन की अगली सीढ़ी राजनीति ही होती है।

नागरिक शास्त्र और नीति शास्त्र—नीति शास्त्र (Ethics) उचित और अनुचित का बोध कराता है। यह बतलाता है कि क्या ठीक है और क्या बुरा; क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यह उचित आचरण की शिक्षा देता है। इसका सम्बन्ध नैतिकता (morality) से है जो विवेक और आत्मा (Consciousness) का प्रश्न है इस प्रकार, नीति शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक विकास से है। यह भी बतलाता है कि मानव जीवन का चरम उद्देश्य (end) क्या है। इसलिये आप कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र वह विषय है जो मनुष्य के आचरण, उसके आन्तरिक विकास और चरम उद्देश्य से सम्बध रखता है।

आपने देखा कि नागरिक शास्त्र भी उचित सामाजिक व्यवहार की शिक्षा देता है। वह यह बतलाता है कि अच्छा नागरिक जीवन कैसा होता है और किस प्रकार आप अच्छे नागरिक बन सकते हैं। इसमें आप यह देखते हैं कि आपके नागरिक जीवन में किन बुराइयों ने घर कर लिया है और कैसे आप उन्हें दूर कर जीवन सुखमय और शांति-

मय बना सकते हैं। कहने का तत्पर्य यह है कि नागरिक शास्त्र को भी बराबर अच्छाई और बुराई का ध्यान रखना पड़ता है और आदर्श उपस्थित करने होते हैं और इस कार्य में इसे नीतिशास्त्र से बहुत सहायता मिलती है।

यदि आप गम्भीरतापूर्वक सोचें तो आप इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सामाजिक उन्नति और सुख के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य नैतिक रूप से भी उन्नत हो। समाज का भलाई तभी सम्भव है जब उसका प्रत्येक सदस्य अपने चरित्र और आचरण पर ध्यान दे। यदि व्यक्ति नैतिकता की ओर ध्यान नहीं देते, अपने ही मतलब की बात सोचते हैं, तो उनसे समाज अथवा देश का कोई भला नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति प्रायः अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिये देश के बड़े से बड़े हित का बलिदान कर देते हैं। स्पष्ट है कि जिस समाज में ऐसे व्यक्तियों की बहुतायत है उसका उन्नति करना अत्यन्त कठिन है। नागरिक शास्त्र, जैसा कि आपने देखा, वह विषय है जिसका उद्देश्य नागरिकों की भलाई करना है। इसलिये नैतिकता की ओर ध्यान भी अत्यन्त आवश्यक है। सच बात तो यह है कि इस ओर ध्यान दिये बिना किसी भी नागरिक समस्या का ठीक हल निकाला ही नहीं जा सकता। नागरिक शास्त्र में 'सामाजिक भलाई', 'सामाजिक न्याय', 'समानता' इत्यादि की जो बातें उठाई जाती हैं वे इसी बात की द्योतक हैं। यदि नागरिक शास्त्र इस ओर ध्यान न दे तो वह एक बेकार माथापच्ची करने वाला ज्ञान भर रह जाय। इसकी जो कुछ भी उपयोगिता है वह इसी कारण कि यह इस सम्बन्ध में जागरूक है। नागरिक शास्त्र का आदर्शवादी विज्ञान का पक्ष तो पूरा का पूरा इसी प्रकार का है।

किंतु आपको यह न भूलना चाहिये कि ये दोनों ही ज्ञान एक दूसरे से भिन्न है। (१) नीतिशास्त्र सिद्धान्तिक (Theoretical) है और

केवल यह बतलाता है कि क्या उचित है या आदर्श है। नागरिक शास्त्र (Practical) है और यह बतलाता है कि वास्तव में आदर्श किस प्रकार प्राप्त किये जा सकते हैं। (२) नीतिशास्त्र मनुष्य को एक सगठित समाज के प्राणी के रूप में अध्ययन करता है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के साथ उसका सम्बन्ध केवल वहीं तक है जहाँ तक उसका असर समाज पर पड़ता है। इस प्रकार अपेक्षाकृत नीतिशास्त्र का क्षेत्र नागरिक शास्त्र से अधिक विस्तृत है। (३) जहां नीतिशास्त्र के निर्णय का आधार विवेक और आत्मा हैं नागरिक शास्त्र की अपनी एक अलग कसौटी है। यह कसौटी है जन साधारण की भलाई की। इस दृटिकोण में धार्मिकता की पुट नहीं है। नागरिकशास्त्र एक विशुद्ध सामाजिकता और मानवता का दृष्टिकोण लेकर चलता है और इसी आधार पर सब बातों का निर्णय करता है।

नागरिक शास्त्र और धर्म—यों तो धर्म (Religion) में अनेक बातें होती हैं। इसमें नीति होती है, दर्शन होता है, पूजा की विधि होती है और कर्म काण्ड का आडम्बर भी होता है। कुछ धर्म तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और सामाजिक व्यवस्था भी निर्धारित करते हैं। हिन्दू धर्म भी इसी प्रकार का एक सामाजिक-नैतिक धर्म (Socio-ethical Religion) है। किंतु धर्म का मूल तत्व है, आत्मा तथा परमात्मा का सम्बन्ध। वह बतलाता है कि जीवन का लक्ष्य क्या है और किस प्रकार उसकी प्राप्ति कर मनुष्य पूर्णावस्था को प्राप्त हो सकता है। इस धर्म का सम्बन्ध आत्मा और मृत्यु के पश्चात की अवस्था से है। धर्म के इस रूप से नागरिक शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। नागरिक शास्त्र परलोक से अपना कोई मतलब नहीं रखता। वह इस जीवन और इस दुनिया में विश्वास करता हैं और इसी ससार को स्वर्ग बनाना चाहता है। वह सामाजिकता को मनुष्य का एक विशेष

गुण मानता है, और समाज में हिल-मिल कर रहने को ही स्वाभाविक आवश्यक और उचित समझता है। उसको ऐसे किसी आदर्श मे आस्था नहीं जिसमें मनुष्य के लिये जीवन, सुख और ससार से मुख मोड़कर एकाकी हो समय बिताने की बात कही गई हो। उसके लिये ऐसा एकांगी जीवन कोई तात्पर्य नहीं रखता।

किंतु साधारणतया जिस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग होता है, उससे नागरिक शास्त्र का भी सम्बन्ध है। धर्म यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को प्रेम, सहानुभूति, सेवा और स्वार्थ-त्याग का जीवन बिताना चाहिये। नागरिक शास्त्र भी इन गुणों का महत्त्व स्वीकार करता है। अन्तर केवल यह है कि धर्म इन्हें अध्यात्मिक उन्नति का साधन समझता है और नागरिक शास्त्र सुखमय सामाजिक जीवन का।

यहां नहीं नागरिक शास्त्र यह भी देखता है कि धर्म का नागरिक जीवनमें क्या स्थान है? इसने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन पर क्या २ प्रभाव डाला है, क्या सुधार के आन्दोलन इस क्षेत्र में उठे और उनका क्या प्रभाव पड़ा इत्यादि। सरांश में नागरिक शास्त्र का क्या धर्म के साथ वहीं तक सम्बन्ध है जहाँ तक उसका असर नागरिक जीवन और नागरिक समस्याओं पर पड़ता है।

नागरिक शास्त्र और अर्थ शास्त्र—अर्थ शास्त्र वह विषय है जो मनुष्य के धन-सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करता है। वह धन की उत्पत्ति उसके वितरण, विनिमय और उपयोग आदि का वर्णन करता है। वह मनुष्यों की आवश्यकताओं और उन्हें पूर्ति करने के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों का अध्ययन करता है। इस प्रकार, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्यों के भौतिक सुखों से है।

आपने देखा कि नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध केवल भौतिक सुखों से ही नहीं किन्तु उसके नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति से भी है! नागरिक शास्त्र मनुष्यों को अच्छा नागरिक बनाना

चाहता हैं और उसको सब दिशाओं में उन्नति करते हुए देखना चाहता है। अतएव स्वभावतः ही उसका अर्थ शास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सर्वमान्य बात है कि बिना भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किये कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। भोजन, कपड़ा, मकान इत्यादि तो ऐसी आवश्यकतायें हैं जिनके बिना किसी व्यक्ति का काम चल ही नहीं सकता। मनुष्य कहलाने योग्य जीवन की ये न्यूनतम आवश्यकतायें हैं। इनकी पूर्ति के लिये आवश्यक धन होना चाहिये। स्पष्ट है कि नागरिक शास्त्र जो सफल नागरिक जीवन की आवश्यकताओं और सिद्धान्तों को ढूंढ़ निकालने की चेष्टा करता है, अर्थशास्त्र की अवहेलना नहीं कर सकता।

आज सभी इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि दारिद्रता एक बहुत बड़ा अभिशाप है। जिस देश में आम गरीबी फैली हुई है वहां के लोगों से आदर्श नागरिक होने की आशा करना या उनमें इसकी बातें करना एक मखौल मालूम होता है। पेट का ख्याल सबसे पहले आता है और बाकी की बातें बाद में। हिन्दी की एक ग्रामीण कहावत है, 'भूखे भजन न होय गोपाला' यानी खाली पेट कोई काम नहीं हो सकता। सचमुच गरीबी मनुष्यों को बहुत बुरी जिन्दगी बिताने के लिये बाध्य कर देती है और धीरे धीरे उनके सभी सद्गुणों और सद्भावनाओं का लोप कर देती है। इस कारण, नागरिक शास्त्र के लिए इस प्रश्न का ठीक से हल होना बहुत आवश्यक है। बिना इस समस्या का समाधान किये आदर्श नागरिक बनाने का स्वप्न देखना एक दुराशा मात्र है। सफल नागरिक बनने के लिये सबसे पहली आवश्यकता यह है कि नागरिकों का एक अच्छा रहन सहन हो और उन्हें कुछ अवकाश भी मिले जो सामाजिक कामों में लगाया जा सके। इसी बात का ध्यान में रख कर 'न्यूनतम आय' के अधिकार की माँग उठाई गई है जिसका

तात्पर्य यह है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो काम करने के लिये तत्पर हो, या तो काम दे या कम से कम इतना मुआवजा दे कि वह साधारण ढंग से अपना जीवन व्यतीत कर सके।

यही नहीं आज कल का सामाजिक जीवन बहुत जटिल हो गया। आज की लगभग सभी नागरिक समस्यायें आर्थिक बातों से इतनी गुथी हुई हैं कि उन्हें समझने और हल करने के लिये अर्थ शास्त्र की जानकारी होना बहुत आवश्यक है। सच बात तो यह है कि नागरिक आज जो राजनीतिक संस्थाओं को इतना महत्व देते हैं उसका मुख्य कारण यही है कि वे उनकी आर्थिक भलाई में बहुत सहायक होती हैं।

आज इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि मनुष्यों को गरीबी या अमीरी की बहुत कुछ जिम्मेदारी राज्य पर है। यदि कोई व्यक्ति गरीब या बेकार है तो इसका कारण यह नहीं है कि यह उसके भाग्य या कर्मों का दोष है बल्कि यह है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था ठीक नहीं है। यदि राज्य चाहे तो समाज की आर्थिक व्यवस्था पर इस प्रकार से नियन्त्रण कर सकता है अथवा उसमें ऐसे परिवर्तन कर सकता है कि जनता की आम गरीबी और उनमें फैली हुई बेकारी दूर की जा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक और आर्थिक मामले एक दूसरे से सुथे हुये हैं। सरकार की जो भी नीति है उसका प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर भी पड़ता है। सरकार यदि पूँजीवाद को प्रोत्साहन देती है तो देश का आर्थिक ढाँचा एक तरह का होगा और यदि समाजवाद में विश्वास रखती है तो उसका रूप दूसरा ही होगा। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने से सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तो सोवियत रूस का इतिहास देखिये।

दोनों विषयों के इस निकट सम्पर्क के रहते हुए भी दोनों का अन्तर भी स्पष्ट है (१) अर्थशास्त्र का क्षेत्र नागरिक शास्त्र के समान व्यापक नहीं। वह मनुष्य की केवल भौतिक आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति की ओर ध्यान देता है जब कि नागरिक शास्त्र भौतिक सुखों के अतिरिक्त मनुष्यों की सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक, धार्मिक उन्नति की ओर भी समान रूप से ध्यान देता है। (२) नागरिक शास्त्र का काम गहराई से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करना नहीं है। वह तो अर्थशास्त्र के केवल उन मोटे सिद्धान्तों और उन बातों का अध्ययन करता है जिनका नागरिक जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। अतएव भिन्न भिन्न रहते हुए भी दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नागरिक शास्त्र और भूगोल—भूगोल उन प्राकृतिक दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

विद्वान लोग इस बात को बहुत दिनों से कहते और मानते चले आ रहे हैं कि जिन प्राकृतिक अवस्थाओं—पृथ्वी, जलवायु इत्यादि—में मनुष्य रहते हैं उनके जीवन पर उनका काफी असर पड़ता है। कुछ विद्वानों ने इस प्रभाव का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है। उदाहरण के लिये उनमें से कुछ का यह कहना है कि उष्ण कटिबन्ध में रहने वाले निवासी आलसी और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसी बातों को आज नहीं माना जाता। फिर भी प्राकृतिक अवस्थाओं का जो प्रभाव होता है, उसको ध्यान में रखना आवश्यक है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में रहने वालों और अरब देश के निवासियों की आदतों में और रीत-रिवाजों में यदि अन्तर हो, तो आश्चर्य की बात न होगी। अरब देश में पानी की कमी है और इस बात की छाप वहाँ के धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाजों पर स्पष्ट पड़ी हुई है।

इसी प्रकार तीन ओर महासागर होने से और एक ओर विशालकाय गगनचुम्बी हिमालय तथा अन्य पर्वतों के होने के कारण हिन्दुस्तान सदियों तक बाहरी हमलों से बचा रहा। जो भी आक्रमणकारी आये वे उत्तर पूर्व के दर्रों से। इसी प्रकार ब्रिटेन भी अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण काफी समय तक स्वतन्त्रतापूर्व अपना विकास कर सका। एक टापू होने के कारण उसके निवासी अच्छे नाविक बन गये और यही बात उसके लिये एक बड़ा वरदान साबित हुई। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राकृतिक दशायें मनुष्य के जीवन पर कोई निर्णायक प्रभाव डालती हैं। मनुष्य प्रकृति का खिलौना मात्र नहीं है। अपने साहस और बुद्धि के बल पर उसने प्रकृति पर भी विजय पाई है और वह प्राकृतिक दशाओं को भी कृत्रिम रूप से अपने अनुकूल बना सकता है।

फिर भी नागरिक शास्त्र और भूगोल में एक निकट का सम्बन्ध है और भूगोल की अनेक बातें उसके बड़े काम की हैं।

नागरिक शास्त्र और कानून शास्त्र—कानून शास्त्र (Jurisprudence) में कानून के सिद्धान्तों का अध्ययन होता है। वह कानून के स्वरूप और उसके गुण दोष, अपराध और दण्ड, अधिकार और कर्तव्य, राज्य प्रभुता और स्वतन्त्रता इत्यादि का अध्ययन करता है।

कानून शास्त्र का अध्ययन नागरिकों के बड़े काम का है। वह नागरिकों को उन मोटे सिद्धान्तों को बतलाता है जिन पर सभी अच्छे कानून आधारित होते हैं। वह बताता है कानूनों का वास्तविक उद्देश्य जन-साधारण का हित और समाज की भलाई है इसलिये कानूनों को 'स्वतन्त्रता को छीनने वाला' नहीं समझना चाहिये। यह हो सकता है कि कुछ कानून ऐसे भी हों किन्तु वे अपवाद स्वरूप हैं, और बुरे हैं। उन्हें जितना शीघ्र बदला जाय उतना ही अच्छा है। कानून ही समाज में

अधिकारों और कर्तव्यों की वह व्यवस्था करते हैं जिस पर समाज का ठीक से चलना निर्भर है। सच बात तो यह है कि सामाजिक नियमों अथवा कानूनों के अभाव में मिल जुल कर रहना यानी 'सामाजिकता' लगभग असम्भव है। इसलिये, नागरिक शास्त्र में संक्षेप में इन बातों का भी अध्ययन किया जाता है। इसमें कानूनों के स्वरूप, उसकी किस्में और जरियों पर विचार किया जाता है। साथ ही इसमें अधिकारों, कर्तव्यों, राज-प्रभुता इत्यादि विषयों का भी अध्ययन किया जाता है। ये विषय समान रूप से कानून शास्त्र और राजनीति दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं और नागरिक शास्त्र में भी इनको एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

नागरिक शास्त्र और मनोविज्ञान—मनोविज्ञान (Psychology) अपेक्षाकृत एक नया विषय है। यह मन और चेतना सम्बन्धी विज्ञान है। इसके अध्ययन के विषय मनुष्य के भाव, विचार, कल्पना इच्छा शक्ति, प्रेरणा, अनुभूति इत्यादि हैं।

नागरिक शास्त्र में आप मनुष्य को एक नागरिक के रूप में अध्ययन करते हैं। मनुष्य की अपनी एक विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग कर देती है। यह विशेषता है उसकी बुद्धि यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य प्राणियों में इसका एकदम अभाव है किन्तु वे किसी भी भांति मनुष्य की समता में इस कसौटी पर नहीं ठहर सकते। पर बुद्धि के रहते हुए भी मनुष्य केवल उसी के सहारे नहीं चलता। भावनाओं का भी उसके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ता है। कभी कभी मनुष्य भावनाओं में ऐसा बह जाता है कि वह बुद्धि को एक गौण स्थान दे देता है। अतएव नागरिक शास्त्र के लिये जो मानव और उनके कार्यों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है, मनोविज्ञान की सहायता अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। यही कारण है कि मनोविज्ञान की सहायता से

मनुष्य के कार्यों को अध्ययन करने का अब तक आम रिवाज हो गया है।

नागरिक शास्त्र भी मनोविज्ञान की सहायता लेता है। वह यह देखता है आदतों, नकलों और सुझावों का नागरिकों के जीवन में क्या स्थान है। इस अध्ययन से नागरिक शास्त्र महत्वपूर्ण और उपयोगी निष्कर्षों पर पहुंचता है। उदाहरण के लिये, वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि लोकप्रिय होने के लिये कानूनों को नागरिकों की आदतों संस्कारों, विचारों और भावनाओं पर आधारित होना चाहिये। सरकार को अपना स्थायित्व और लोकप्रियता बनाये रखने के लिये जनता की नैतिक भावनाओं, विचारों और आदर्श का प्रतिनिधित्व करना चाहिये, किसी भी वर्ग अथवा जन समुदाय को सदा के लिये तलवार के बल पर दबा कर नहीं रक्खा जा सकता, शान्ति तभी रह सकती है जब शासन जनता की इच्छा के अनुकूल हो, इत्यादि। इस प्रकार नागरिक शास्त्र को मनोविज्ञान से अनेकों काम की बातें मिल जाती हैं।

नागरिक शास्त्र का विज्ञान कहलाने का दावा

पीछे हम कह आये हैं कि नागरिक शास्त्र एक विज्ञान है किन्तु कुछ विद्वान इस मत की कड़ी आलोचना करते हैं। इनके मतानुसार केवल प्राकृतिक विज्ञान (Physicial sciences) और प्राणि-विज्ञान (Biology) ही विज्ञान कहलाने के अधिकारी हैं। इनका तर्क यह है कि सच्चे अर्थ में 'विज्ञान' कहलाने का केवल वही अधिकारी है जो ऐसे अकाट्य और निश्चित नियमों को निर्धारित करता है जो देश, काल और परिस्थिति के भिन्न रहने पर भी परीक्षा में खरे उतरें। उदाहरण के लिये कहीं भी आप दो भाग हाइड्रोजन को एक भाग आक्सीजन से मिला दीजिये, पानी बन जायेगा। इनका कहना यह है

कि नागरिक शास्त्र में ऐसे कोई भी नियम नहीं हैं। इसके विचार और सिद्धान्त समय की गति के साथ बदलते रहते हैं।

आलोचकों के विचारों को देखने से सहसा ऐसा लगता है कि बात तो उनकी ठीक है। पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से उनके तर्क की कमजोरी स्पष्ट होती है। वे अटल और निश्चित नियमों को विज्ञान की एक मात्र कसौटी बतलाते हैं। ऐसा करते समय वे ऋतु-विज्ञान (Meteorology) को भुला देते हैं जो स्वयं भी ऐसे अटल नियमों को नहीं बना पाया। पर उसको विज्ञान कहने में कोई मना नहीं करता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचकों की धारणा ठीक नहीं है।

विज्ञान की सच्ची कसौटी नियमों की अटलता नहीं वरन् ज्ञान की अध्ययन-विधि होती है। यदि किसी विषय की अध्ययन-विधि वैज्ञानिक है तो उसे 'विज्ञान' मानने में कोई हिचक न होनी चाहिये। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सले (Huxley) के अनुसार कोई भी ऐसा ज्ञान जो युक्ति और साक्षी के ऊपर आधारित है विज्ञान कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। शैपर्ड ने वैज्ञानिक अध्ययन विधि को तीन भागों में बाटा है : (१) तथ्यों को एकत्रित करना, (२) उनका क्रम-बद्ध करके उनमें कार्य कारण का सम्बन्ध स्थापित करना, और (३) उनसे ऐसे निष्कर्ष निकालना जो बुनियादी नियमों अथवा सिद्धान्तों का काम दें।* नागरिक शास्त्र भी इसी अध्ययन विधि को अपनाता है। अतएव वह विज्ञान कहलाने का अधिकारी है। यह ठीक है कि इसके नियम प्राकृतिक विज्ञानों के समान स्थिर और अकाट्य नहीं हैं। पर यह कमी तो प्रायः सभी सामाजिक शास्त्रों में पाई जाती है।

---

*देखिये Garner, Political Science and Government, p 13.

सामाज विज्ञानों की विशेषतायें—सामाजिक विज्ञानों की अपनी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण वे प्राकृतिक विज्ञानों के समान नहीं हो सकते। (१) प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध जड़ पदार्थों से होता है उनमें चेतना तो होती नहीं, अतएव पदार्थ के एक भाग और दूसरे में कोई अन्तर नहीं होता। फिर उन पर बाहरी कारणों से होने वाली प्रतिक्रिया भी देश और काल की भिन्नता रहने पर भी एक सी रहती है। पर सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के विषय सामाजिक मनुष्य हैं। उन्हें प्रकृति की ओर से विचार, इच्छा और क्रिया की शक्तियां मिली हुई हैं। ये शक्तियां एक-समान नहीं होती। फिर चेतन प्राणी होने के कारण वातावरण केवल उस पर ही नहीं वरन् वह भी वातावरण पर प्रभाव डाल सकता है। यही नहीं मनुष्य पर पड़ने वाले बाहरी प्रभाव को भी ठीक से आंकना। एक कठिन कार्य है क्यों कि एक तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्पर्क भिन्न प्रकार के होते हैं और दूसरे बाहरी प्रभाव व्यक्ति की अपनी ग्रहण शक्ति (Receptivty) पर निर्भर है। यही कारण हैं कि एक ही वातावरण में पले सगे भाइयों तक में महान् अन्तर पाये जाते हैं। वह बात सामाजिक जीवन में भी उतनी ही लागू होती है जितनी व्यक्तिगत जीवन में। (२) प्राकृतिक विज्ञानवेत्ता पदार्थ पर अन्य शक्तियों का प्रभाव डाल कर उसकी प्रतिक्रिया देख सकते हैं किंतु मनुष्य को प्रयोग शाला का विषय नहीं बनाया जा सकता और हमें इतिहास और निरीक्षण से प्राप्त अनुभवों पर ही सन्तोष करना होता है। (३) आपने देखा कि मनुष्य की अपनी योग्यता, स्वभाव और उस पर प्रभाव डालने वाला वातावरण सभी भिन्न होते हैं अतएव कोई सर्वमान्य और व्यापक निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन काम हो जाता है। (४) वैज्ञानिकों के पास नाप तौल के ऐसे यंत्र हैं जो छोटे से छोटे भेद को भी स्पष्ट कर देते हैं। सामाजिक शास्त्रों को मनुष्य के

कार्य और प्रवृत्तियों को समझने में ऐसे किसी यन्त्र का सहारा प्राप्त नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि नागरिक शास्त्र में व्यक्ति की रुझान, उसके दृष्टिकोण और विचारों का भी प्रभाव पड़ जाता है। (५) प्राकृतिक पदार्थ जड़ होने से अध्ययन में उनके साथ पक्षपात करने का प्रश्न नहीं उठता पर नागरिक शास्त्र में तटस्थ वृत्ति को अपनाना कुछ कठिन हो जाता है। वरा उसे प्रचार का सामना करना पड़ता है और इस दल दल से सच्ची बात निकालना सरल नहीं होता। (६) प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों की सत्यता-असत्यता सरलता से प्रमाणित की जा सकती है। पर नागरिक शास्त्र में तो अपने-अपने विचार होते हैं जो किसी विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखकर दिये जाते हैं और केवल समय ही बता सकता है कि वे ठीक थे या नहीं। सामाजिक विज्ञानों की इन विशेषताओं के कारण वे प्राकृतिक विज्ञानों के समान निश्चित (exact) नहीं बन पाते पर अध्ययन-विधि के वैज्ञानिक होने के कारण वे विज्ञान के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

यहाँ एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि आधुनिक नागरिक शास्त्र अभी एक नया विषय है और अधिक उन्नति नहीं कर पाया है। फिर भी इसमें कुछ ऐसे नियम हैं जो व्यापक और सर्वमान्य हैं। उदाहरण के लिये इन दो नियमों को देखिये। प्रबन्ध में कुशलता बनाये रखने के लिये सरकारी कर्मचारियों का चुनाव नहीं होना चाहिये, न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उनकी नियुक्ति थोड़े समय के लिये न होकर जीवन भर (अवकाश ग्रहण करने की अवस्था) तक के लिये होनी चाहिये और उनके वेतन निश्चित होने चाहिये। नागरिक शास्त्र के विकसित हो जाने पर इस प्रकार के अनेक सिद्धांत ज्ञात हो जावेंगे।

नागरिक शास्त्र की अध्ययन-विधि

ऊपर हम कह आये हैं कि नागरिक शास्त्र की अध्ययन-विधि वैज्ञानिक है। यहां हम बतावेंगे कि वह किन पद्धतियों का प्रयुक्त करता है।

सर्व प्रथम हम देखेंगे कि नागरिक शास्त्र संयोजनात्मक पद्धति (Inductive method) को अपनाता है। इसमें तथ्यों तथा आँकड़ों का एकत्रित कर उनके आधार पर व्यापक नियम बनाये जाते हैं। यह पद्धति निरीक्षणात्मक (Observational) हो सकती है जिसमें प्रत्यक्ष निरीक्षण से यानी वास्तविक जीवन के सम्पर्क में आकर जानकारी प्राप्त की जा सकती है। लार्ड ब्राइस (Bryce) इसके बड़े समर्थक थे पर इसमें कठिनाई यह रहती है कि यदि निरीक्षक कुशल नहीं है अथवा कुछ पूर्व धारणायें बनाये हुये है तो न तो वह निष्पक्षतापूर्वक तथ्यों का ही संग्रह कर सकता है और न ठीक निष्कर्षों पर ही पहुंच सकता है। अतएव यह आवश्यकता है कि सूचना के स्रोतों पर आलोचनात्मक दृष्टि रक्खी जाय और भ्रामक धारणों को आकस्मिक बातों से अलग करके देखा जाय। यह पद्धति ऐतिहासिक (Hitorical) भी हो सकती है। सीले (Seeley) के अनुसार यह पद्धति यह देखती है कि संस्थायें क्या थीं, क्या हैं और क्या होती जा रही हैं। इस अध्ययन से भविष्य में निर्भर रहने योग्य कुछ निष्कर्ष निकल आते हैं। इसमें भी ऊपर बताई गई कठिनाइयां तो हैं ही पर साथ ही एक खतरा यह भी है कि इसके प्रयोग करने वाले वर्तमान दशा को ठीक समझकर सुधार की योजनाओं के विरोधी बन जाते हैं। भूलों से बचने के लिये यह आवश्यक है कि जो भी निष्कर्ष निकाले जांय उनकी अच्छी तरह परीक्षा करली जाय। यह पद्धति तुलनात्मक (Comparative) भी हो सकती है। इसमें तुलना के द्वारा निष्कर्ष

निकाले जाते हैं। पर दिखावटी तुलनाओं से सावधान रहना चाहिये और ऐसा करते समय समानता तथा भेद दोनों का ही देखना चाहिये। यदि ऐसा न किया गया तो लाभ के स्थान पर हानि होने का डर रहता है। तुलनात्मक ऐतिहासिक और निरीक्षणात्मक पद्धति के समन्वय से एक दूसरे की त्रुटियां कुछ सीमा तक दूर हो जाती हैं। संयोजनात्मक पद्धति का एक रूप प्रयोगात्मक (Experimental) भी होता है। जैसा कि आप देख चुके हैं मनुष्य जीवन में जड़ पदार्थों के समान प्रयोग करना सम्भव नहीं है फिर भी एक दूसरे अर्थ में नागरिक जीवन में निरन्तर प्रयोग होते रहते हैं। प्रत्येक नया कानून, नई नीति, संस्था और सुधार एक प्रयोग के रूप में होता है। सफल होने पर वह एक अनुकरणीय उदाहरण हो जाता है नहीं तो बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिये नौकरियों के लिये प्रति योगिता-परीक्षायें, सोवियत रूस की आर्थिक योजनायें और स्वर्गीय प्रेसीडेण्ट रूजवैल्ट की न्यू डील नीति प्रयोगों के रूप में सामने आई हैं। अपने देश की वैधानिक और साम्प्रदायिक परिस्थिति को सुलझाने के लिये जो अनेक प्रयोगात्मक योजनायें बनी उनसे आप भली भांति परिचित होंगे। यों तो इतिहास भी मानवीय प्रयत्नों और प्रयोगों की एक कहानी है पर अब समझ सोचकर योजना बनाने और उसके अनुसार करने को ठीक समझा जाता है। अतएव ये योजनायें भी हमारे जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती जा रही हैं। समय की गति के साथ प्रयोगों का यह क्षेत्र और भी अधिक बढ़ जायगा।

उपरोक्त संयोजनात्मक पद्धतियों के अतिरिक्त नागरिक शास्त्र में विश्लेषणात्मक (Deductive) पद्धति भी काम में लाई जाती है। इसमें पहले कुछ व्यापक आदर्शों को स्थापित किया जाता है और उन्हीं के आधार पर वर्तमान दशा की आलोचना की जाती है और

सुधार के प्रस्ताव रक्खे जाते हैं। एक निश्चित लक्ष्य प्रस्तुत रहने से अध्ययन में गम्भीरता आ जाती है। इस पद्धति को दार्शनिक (Philosophical) कहा जाता है। पर इसका तात्पर्य हवाई किले बनाना नहीं है। सच्ची दार्शनिक पद्धति तथ्यों और वास्तविकता के धरातल का बराबर ध्यान रखती है। इस पद्धति और ऊपर की पद्धतियों में इसी कारण कोई विरोध नहीं है। संयोजनात्मक पद्धति से हमें बहुतेरी उपयोगी बातों का पता लग जाता है और दार्शनिक पद्धति इन प्राप्त अनुभवों का उपयोग करना बतलाती है इस प्रकार नागरिक शास्त्र की अध्ययन-विधि में इन सभी पद्धतियों का समन्वय होता है।

अध्ययन की उपरोक्त विधि को आपने देखा। पर नागरिकता का सच्चा अध्ययन तो जीवन की गहराई में उतरने पर होता है और यह अध्ययन कभी समाप्त नहीं होता*। यह प्रारम्भिक शिक्षा तो केवल इसलिये है कि नागरिकों को स्वतन्त्र विचार, निष्पक्ष दृष्टिकोण और मानसिक सन्तुलन बनाये रखने का अभ्यास पड़ जाय। इन आदतों को डालने के लिये और अनुसन्धान का वैज्ञानिक रीति की शिक्षा के लिये डा० बेनीप्रसाद ने लोक सेवा का व्यवहारिक उपाय सुझाया है। उनके अनुसार अनुसंधान और अभ्यास दोनों का ही समावेश होना चाहिये और फिर इससे प्राप्त निष्कर्षों का समाज की भलाई के काम में लग जाना चाहिये, प्रोफेसर गेडस (Geddes) ने कहा भी है कि 'समाज-सेवा के निमित्त सामाजिक निरीक्षण के उपयोग का नाम ही नागरिक शास्त्र है।' मिस व्हाइट के शब्दों में भी नागरिक शास्त्र का ध्येय केवल सामाजिक संस्थाओं और उनके विकास की जानकारी

---

*देखिये H. M. white, the teaching of Modern civics, (1923), pp 61 62.

ही नहीं है वरन् समाज (राष्ट्र) के प्रति सक्रिय अनुरक्ति की प्रेरणा देना है।+

नागरिक शास्त्र की उपयोगिता

उपयोगिता की दृष्टि से विद्याओं को प्रायः दो प्रकार का बतलाया जाता है। सिद्धान्तिक यानी प्रकाश देने वाली और व्यावहारिक यानी फल देने वाली। नागरिक शास्त्र दोनों ही प्रकार का ज्ञान है।

इसके अध्ययन के व्यापक लाभ ये हैं कि यह निरीक्षण और तर्क में कुशल बना देता है। यह चित्त को उदार कर देता है और मनोवृत्ति को संकीर्णता से मुक्त कर देता है। बराबर तथ्यों, आंकड़ों और विचारों की काट-छांट करने और अच्छाई-बुराई देखने से दृष्टि-कोण सन्तुलित हो जाता है और आपेक्षिक मूल्यांकन (relative Valuation) की योग्यता आ जाती है। यही नहीं, इस अध्ययन से नागरिक के ज्ञान कोष में वृद्धि होती है और साथ ही नागरिक को समाज में अपने स्थान और महत्व का भी पता लग जाता है।

यह अध्ययन व्यावहारिक जीवन के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक है और मानव-जीवन के सभी पक्षों से इस प्रकार सम्बन्धित है कि सभी को इससे कुछ न कुछ सहायता मिल सकती है। राजनीतिज्ञों को यह राजकीय संस्थाओं और सामयिक समस्याओं से परिचित करा देता है और समाज-सुधारकों को यह समाज के सम्बन्ध में वह सब जानकारी देता है जिसके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता। जहां तक साधारण नागरिकों का प्रश्न है उनके लिये तो यह विषय उपयोगी है ही। यह उन्हें मनुष्य की सामाजिकता, मनुष्य को समुदायों और सम्प्रदायों से सम्बन्ध, इन सम्बन्धों के कारण उठ खड़ी होने वाली कठिनाइयों और समस्याओं से अवगत कराता है और

+देखिये the philosophy of citizenship,(1921) p-16.

सामाजिक जीवन में पथ-प्रदर्शन के लिए कुछ मोटे सिद्धान्त बतलाता है। वह उन्हें बतलाता है कि समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। वह बतलाता है कि सहयोग ही जीवन की कुंजी है। अतएव समाज में इस तरह रहना होगा कि व्यक्ति का भी पूर्ण विकास हो सके और समष्टि का भी हित हो। वह बतलाता है कि व्यक्ति से ही समाज बना है अतएव समाज की उन्नति व्यक्ति के प्रयत्नों पर ही निर्भर है और उन्हें इस ओर प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस प्रकार वह सार्वजनिक जीवन में व्यक्ति के महत्व को बतलाता है। वह उन्हें बतलाता है कि आपस में मेल-जोल से रहना चाहिये। जब कभी आपस के स्वार्थों में संघर्ष उपस्थित हो तो उन्हें थोड़ा सा दब कर या टाल जाना ही अच्छी नागरिकता है। साथ ही नागरिकों को अनुशासन तथा कर्तव्य-पालन का पाठ भी पढ़ाता है। वह कहता है कि व्यक्ति को बड़े हितों के सामने अपने क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ने में हिचक नहीं करनी चाहिये। वह उनमें सामाजिक सेवा की भावना भर कर उन्हें सामाजिक हित में जीवन लगा देने की प्रेरणा देता है।

यही नहीं, नागरिक शास्त्र कहता है कि मिल-जुल कर रहने के लिये कुछ नियमों को मानकर चलना आवश्यक होता है। ये स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते वरन् उनका उपभोग सम्भव बनाते हैं। यदि नियम न हों तो शान्ति और व्यवस्था ही खटाई में पड़ जाय और 'जिसकी लाठी उसका भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हो। ऐसी दशा में सभ्य जीवन एक स्वप्न की बात रह जायगी। ये नियम ही सामाजिक जीवन का सम्भव बनाते हैं, मनुष्यों के अधिकारों और कर्तव्यों की व्यवस्था कायम करते हैं, और साथ ही इनके विरुद्ध कार्य करने पर दण्ड का भी विधान करते हैं। यदि व्यक्ति को इनका समुचित ज्ञान न तो वह स्वयं राज्य द्वारा प्राप्त सुविधाओं का उपभोग कर सकता है।

नागरिक शास्त्र बतलाता है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही मुद्रा के दो पहलू हैं। एक नागरिक का जो अधिकार होता है वही दूसरों के लिये कर्तव्य बन जाता है। अतएव कर्तव्य पालन के बिना अधिकारों का उपभोग भी सम्भव नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त नागरिको को प्रतिदिन की सामाजिक आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक, साम्प्रदायिक और राजनीतिक समस्याओं से परिचित कराता है, उनके कारणों और विकास पर प्रकाश डालता है और उसको हल करने के लिये सुझाव देता है।

फिर प्रजातन्त्रीय युग में तो नागरिक शास्त्र की उपादेयता और भी बढ़ जाती है क्यों कि इसमे शासन की बागडोर स्वय जनता के हाथ मे होती है। प्रजातत्र को सफल बनाने के लिये नागरिकों के लिये सामाजिक और राजकीय विषयों की जानकारी होना आवश्यक है। एक अच्छी से अच्छी प्रणाली बुरे हाथों में पड़कर बुरी बात बन जाती है। अतएव यदि नागरिक स्वय सार्वजनिक जीवन में दिलचस्पी नहीं लेते, आवश्यकतानुसार राजकीय कामो में अपना सहयोग और अपनी क्रयात्मक आलोचना नहीं देते और बराबर सतर्कता से काम नहीं लेते तो प्रजातन्त्र का दुरुपयोग निश्चित है। नागरिक शास्त्र का उद्देश्य ऐसे विचारशील और कर्मठ नागरिकों का बनाना है जो इस युग को सच्चे अर्थ में जनयुग कहलाने योग्य बना सकें। इसीलिये नागरिक शास्त्र उन्हें राज्य के सगठन और विधान तथा मूल राजनीतिक सिद्धांतों से भी परिचित कराता है। वह बतलाता है कि सार्वजनिक जीवन में स्थानीय बोर्ड का क्या महत्व है, और क्यों मताधिकार के साथ खिलवाड़ नहीं किया जाना चाहिये। मत का यह दुरुपयोग ही आगे चलकर राज्य में अव्यवस्था और बेईमानी का बोलबाला कर देता है। पर बाद में ह शिकायतें व्यर्थ हैं। अपने किये का फल भुगतना ही होता है।

हां, इस चेतावनी से पहले ही यदि लाभ उठा लिया जाय तो अच्छा है।

भारतवर्ष के लिये इसकी विशेष उपयोगिता—भारतवर्ष में नागरिक शास्त्र के अध्ययन की और भी आवश्यकता है। हमारा एक पिछड़ा देश है। हमारे यहां गरीबी का ही नहीं, वरन् अशिक्षा का भी राज्य है। हम बहुत पिछड़ गये हैं। हमारी समस्यायें बहुत बड़ी और जटिल बन गई हैं। उनका ठीक समाधान तभी हो सकता है जब कि सभी नागरिक जाग्रत होकर सुधार के लिये प्रयत्न करें। जब तक प्रत्येक नागरिक समाज सेवा और सुधार करना अपना परम कर्तव्य नहीं समझेगा हमारी उन्नति कठिन है। ऐसी भावना उत्पन्न करने में नागरिक शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा।

पिछले सामाजिक सुधार-आन्दोलन और राष्ट्रीय नव जाग्रति के कारण सदियों से सोया भारत आज जाग उठा है। जनता में चेतना आ गई है और उनकी उदासीनता गायब हो चुकी है। पराधीन भारत आज स्वतन्त्रता के द्वार पर खड़ा है। शीघ्र ही वह स्वतन्त्र होगा। स्वतन्त्र भारत को अपने नागरिक जीवन को मधुर स्वस्थ और समृद्धिशाली बनाने के लिये उसे अकथ परिश्रम करना पड़ेगा। स्वराज्य प्राप्त करने के पश्चात् भारतवासियों के सम्मुख सच्ची परीक्षा का अवसर आकर उपस्थित होगा। यदि हम समझ और दूरदर्शिता से काम लेकर इस अवसर का उपयोग जनता की गरीबी, अशिक्षा, असमानता को दूर करने में लगावेंगे तो हम प्रगतिशील कहलायेंगे अन्यथा जन साधारण के लिये स्वतन्त्रता के कोई भी अर्थ को न रह जायगी। यदि हम इस बात को निश्चित कर लेना चाहते हैं कि अवसर आते ही उसका उचित उपयोग किया जाय तो हमें जन साधारण को नागरिकता की समुचित परीक्षा देना चाहिये जिससे वह अपने देश की आवश्यकताओं को समझ सके और भाईचारे

का खून बहाना छोड़ कर सामाजिक उत्थान के काम में अपने योग दें।

पाठ्य-क्रम में स्थान क्यों ?—युवा छात्रों के लिये इस विषय का अध्ययन परम आवश्यक है। आज का युवा-समाज ही कल का सक्रिय नागरिक-समुदाय बनेगा और उसके हाथों में देश के शासन की बागडोर होगी। उन्ही के हाथों में देश रक्षा, मान और कल्याण का भार होगा और साथ ही मानवता की प्रगति में योग देने का उत्तरदायित्व भी। इसलिये यह आवश्यक है कि उनकी शिक्षा ऐसी हो कि वे जीवन को अच्छी तरह समझ सकें। छोटी आयु में ही प्रितिदिन की बातों में दिलचस्पी पैदा करने से इस कार्य में बहुत सहायता मिलती है। नागरिक शास्त्र के अध्यन से यह रुचि पैदा की जा सकती है और स्वस्थ नागरिकता की नींव डाली जा सकती है। अतएव नागरिक शास्त्र के अध्ययन का महत्व स्वय सिद्ध है। यह छात्रों को अनेक जीवनोपयोगी बातों से परिचित कराता है, उनमें नागरिक चेतना उत्पन्न करता है और उनके दृष्टिकोण को विस्तीर्ण करता है। यह उनके मन और भावनाओं को उच्च बनाता है। यह उनमें सामाजिक सेवा और गुणों को विकसित करता है जिससे वह सामाजिक जीवन में अच्छी तरह भाग ले सकें। इन कारणों से यह स्पष्ट है कि सभी शिक्षण संस्थाओं और पाठ्य क्रमों में नागरिक शास्त्र को उचित स्थान मिलना चाहिये विभिन्न प्रांतों के शिक्षा-विभागों और विश्वविद्यालयों ने नागरिक शास्त्र हाई-स्कूल और इण्टरमीडियेट के पाठ्य-क्रमों में एक वैकल्पिक विषय मान कर इसके महत्व को स्वीकार किया है। किन्तु यह विषय वास्तव में इतना महत्वपूर्ण है कि उक्त श्रेणियों में तो इसका अध्ययन अनिवार्य कर देना अनुचित न होगा।

दूसरा अध्याय

व्यक्ति और समाज

'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।''समाज के बाहर रहने वाला मनुष्य या तो देवता है अथवा पशु।'

—अरस्तू

हम ऊपर 'समाज' और 'सामाजिकता' शब्दों का प्रयोग करते आये हैं। आगे बढ़ने के पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि आप समाज शब्द के अर्थ को स्पष्ट समझ लें। समाज (Society) शब्द बहुत व्यापक है। इसका तात्पर्य उन सम्बन्धों के समूह से है जिसमें मनुष्य एक दूसरे के प्रति बन्धे हुये हैं।' लीकौक (Leacock) इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समाज से हमारा तात्पर्य केवल उन राजनीतिक सम्बन्धों से ही नहीं जिसमें मनुष्य आपस में बंधे हुये हैं वरन् मानवीय सम्बन्धों और सामूहिक कार्यों के पूरे दायरे से है।* यह दायरा छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। छोटे दायरे में परिवार भी एक समाज है और बड़े दायरे में मानव-समाज की बात कही जा सकती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

अब आप यह समझ गये होंगे कि 'सामाजिक' शब्द का तात्पर्य क्या है? लगभग तेईस सदियां बीत गईं जब अरस्तू ने यह कहा था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' इस कथन का अभिप्राय यही

---

*देखिये Leacock, the Element of Political service, (1931), p. 10.

है कि व्यक्ति अकेले जीवन यापन नहीं कर सकता। उसे अपने साथियों के बीच में रहना पसन्द है। समाज के बाहर वह रह ही नहीं सकता। उसका स्वभाव और आवश्यकतायें उसे बाध्य कर देती हैं कि वह समाज में रहे। जहां-तहां यदि व्यक्ति समाज के बाहर रहता भी है तो भी उसके रहन-सहन और सोचने-समझने का ढङ्ग और भाषा वही रहती है जो उन्होंने सामाजिक जीवन में सीख रक्खी थीं। अरस्तू (Aristotle) तो यहां तक कहता है कि 'समाज के बाहर रहने वाला व्यक्ति या तो देवता है अथवा पशु।' राबिन्सन क्रूसो का वृतांत इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है कि एकान्त में व्यक्ति का मन सदैव साथियों से मिलने को तड़पता रहता है। सभ्यता के विकास ने समाज की आवश्यकता को बजाय कम करने के और भी बढ़ा दिया है।

समाज मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है—हम कह आये हैं कि मनुष्य की प्रकृति इस प्रकार की है कि समाज के बिना उसका काम चल ही नहीं सकता। स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद ने इसके निम्न तीन प्रमुख कारण बतलाये हैं :—

१ **बचपन की असहाय व्यवस्था**—पशु और मनुष्य दोनों ही के बच्चे जन्म के समय अत्यन्त असहाय अवस्था में होते हैं और काफी समय तक वे दूसरों पर निर्भर रहते हैं। उन्हें पनपने और बढ़ने के लिये सहायता की आवश्यकता होती है। यदि उन्हें समय पर यह सहायता न मिले तो उनका जीवित रहना तक कठिन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के पालन-पोषण के लिये समाज अत्यन्त आवश्यक है। कुछ जानवरों के बच्चे २-३ घण्टे अथवा चन्द दिनों में ही इस योग्य हो जाते हैं कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन कर सकें। किन्तु मानव-शिशु को काफ़ी लम्बी अवधि तक दूसरों पर आश्रित रहना

पड़ता है। कुछ समय तक तो मां का दूध ही उसका एकमात्र आहार होता है पर बाद में भी वर्षों तक उसकी देखभाल की अतीव आवश्यकता रहती है। यदि उसे माँ बाप या किसी अन्य व्यक्ति का यह आश्रय न मिले तो वह जीवित ही नहीं रह सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि मानव-जाति को जीवित रखने के लिये समाज का होना अनिवार्य है। दूसरों पर १०-१२ वर्ष की आयु तक रहने वाली यह निर्भरता यह स्पष्ट बतलाती है कि मनुष्य के लिये एकाकी जीवन स्वाभाविक नहीं है। साथ ही यह बात उसकी सामाजिकता की प्रवृत्ति को भी दृढ़ बना देती है।

२ मनुष्योचित भावनाओं का विकास-सामाजिकता का दूसरा कारण है अपनी असहाय अवस्था होते हुए भी उसकी ग्रहण करने की असाधारण योग्यता। समाज में रह कर बच्चा सरलता से सभी मनुष्योचित बातों को सीख जाते हैं। उसमें अनेक योग्यताएं होती हैं। वह भाषा सीख सकता है, बोल सकता है, सोच सकता है, अनुभव कर सकता है, कार्य कर सकता है, खेल सकता है, दूसरों की सहायता कर सकता है, उन्हें हानि पहुंचा सकता है इत्यादि। लेकिन यह सभी बातें वह समाज में रह कर ही सीख सकता है उसके बाहर नहीं। साथियों के बीच रह कर ही वह बोलना, हंसना, खेलना, मिल कर रहना सीखता है। कहा जाता है कि एक बार सम्राट अकबर ने मनुष्यों की नैसर्गिक भाषा का पता लगाने के लिये कुछ बच्चों को एकान्त में इस प्रकार रख दिया कि वे मनुष्य की बोली कतई न सुन सकें। चार वर्ष पश्चात् जब बच्चों को उसके सन्मुख लाया गया तो वे गूंगे निकले। कुछ इसी प्रकार की बात उन बच्चों के बारे में मालूम हुई है जिन्हें भेड़िया उठा कर ले गया था और जिन्हें बाद में पकड़ा गया। वे न तो मनुष्यों के समान बोलते थे, न चलते थे और न सोच सकते

वे चारों हाथ पावों के बल चलते थे, गुर्राते थे और काटने दौड़ते थे। बहुत कठिनाई से उन्हें काबू में किया जासका। ये घटनायें इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि मनुष्य के गुण समाज की उपज हैं। वे समाज में ही विकसित हो सकते हैं। समाज के बाहर मनुष्य कुछ भी नहीं बन सकता और पशु तुल्य हो जाता है। समाज में रह कर ही वह अपना विकास कर सकता है।

३—मनुष्य के मस्तिष्क की कोमलता और बुद्धि की प्रखरता—डा० बेनीप्रसाद ने इसे सामाजिकता का तीसरा कारण बतलाया है। उन का कहना है कि बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर बहुत शीघ्र आस पास की बातों का प्रभाव पड़ता है। वह दूसरों का अनुकरण करना और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेना सीख जाता है। अनजाने में ही मिल जुल कर रहने की यह प्रवृत्ति उस पर एक अमिट छाप छोड़ जाती है और यह संस्कार तथा दृष्टिकोण जीवन भर उसके साथ रहते हैं।

समाज मनुष्यों के लिये आवश्यक है—हम पहले ही कह चुके हैं कि सामाजिकता मनुष्य के लिये केवल स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। बिना समाज के उसका काम चल ही नहीं सकता। निम्नलिखित बातें इस कथन को स्पष्ट करदेंगी।

(१)मनुष्य जाति की रक्षा—आप देख चुके हैं कि बिना समाज के बच्चों की थोड़ी आयु में ही मृत्यु हो जायगी। समाज के कारण ही बच्चे बड़े हो पाते हैं और इस प्रकार मानव जाति नष्ट होने से बच सकती है। (२) जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति—अकेला कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करसकता। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे दूसरों का सहयोग लेना होता है। मिल जुल कर व्यक्ति आपस में काम बांट लेते हैं और अपने २ भाग का काम करते हैं। इस शुभ-विभाजन (Division of Labour) का परिणाम यह

होता है कि सभी काम ठीक हो जाते हैं, शक्ति और समय की बचत हो जाती है और आराम से विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो जाती है। यदि समाज न होता तो प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न स्वयं ही करने होते और सम्भवतया वह अपनी भूख प्यास मिटाने के अतिरिक्त किसी अन्य आवश्यकता की पूर्ति न कर पाता। (३) **बुरे मौसम, जंगल, जानवर, और विरोधी समूहों से बचाव**—समाज की आवश्यकता आरम्भ में इस कारण भी पड़ी कि मनुष्य को शक्तिशाली और चतुर जंगली जानवरों से बचाव करने के लिये तत्पर रहना होता था। किसी भी समय वे हमला कर सकते थे और उन से बचने का एकमात्र उपाय यही था कि मनुष्य समूह बना कर उनके मुकाबिले के लिये तैयार रहें। पर इन समूहों को विरोधी समूहों का ही सामना करना पड़ा और इस बात ने समाज को संगठित कर दिया। इस के अतिरिक्त बुरे मौसम से रक्षा करने के लिये भी सहयोग की आवश्यकता पड़ी। पहले इसके लिये सम्भवतः वे पहाड़ी कन्दराओं या पेड़ों के नीचे रहे होंगे। किन्तु कन्दरायें सभी जगह नहीं होतीं और न पेड़ ही प्रत्येक मौसम में आश्रय दे सकते हैं। अतएव स्थायी निवास स्थानों की आवश्यकता समझी गई होगी जो सामूहिक रूप से बनाये गये होंगे और इस प्रकार समाज को भी कुछ स्थिरता प्राप्त हुई होगी। (४) **शांति और सुव्यवस्था के लिये**—समाज के अन्दर ही शांति और सुव्यवस्था सम्भव है। समाज व्यक्तिगत बदले की भावना के स्थान पर न्याय तथा दण्ड की व्यवस्था कायम करता है और इस प्रकार अराजकताका अन्त कर शांति पूर्ण जीवन सम्भव बनाता है। (५) **ज्ञान प्राप्त करना सम्भव बनाता है**—एक व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो अपनी छोटी सी आयु में स्वयं सभी बात नहीं सोच सकता, यदि समाज न होता तो पूर्वजों के सारे अनुभव

व्यर्थ जाते और कभी काम न आते। समाज ने भाषा को जन्म देकर परस्पर वार्तालाप से और लेखन विधि का आविष्कार कर यह सम्भव कर दिया है कि यह ज्ञान और अनुभव व्यर्थ न जाकर पीढ़ी दर पीढ़ी काम आता रहे। मनुष्य थोड़े सी आयु में ही मनुष्यों के लाखों वर्षों के संचित अनुभवों के खज़ानों को आत्मसात कर लेता है। इस भण्डार में वह स्वयं अपने अनुभवों को मिला कर इसे बढ़ाता रहता है। अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क से उसे नये विचार मिलते हैं। और इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि होती है। समाज यदि न होता तो न तो उसे सोच विचार के लिए अवकाश ही मिलता, न वह पूर्वजों के अनुभवों और ज्ञान से लाभ उठा सकता, और न अपने अनुभवों को ही सुरक्षित रख सकता। (६) यह सभ्यता तथा संस्कृति को सम्भव बनाता है—समाज में ही संस्कृति का प्रश्न उठता है। मनुष्यों के बीच रह कर अपने भावों को प्रगट करने के लिये बोली और लिपि का विकास हुआ। इसी प्रकार भावों के प्रकाशन केलिये मनुष्यने नृत्यकला, साहित्य, चित्रकारी, संगीत इत्यादिको माध्यम बनाया। समाजके कारणही यही नहीं सभ्यताका विकास भी—सम्भव हो सका है। मनुष्य ने सहयोग द्वारा अपनी बुद्धि का उपयोग कर प्रकृतिपर विजय प्राप्त की है और रेल, हवाई जहाज़, रेडियो, टेलीफोन इत्यादि काम में लाकर जीवन को सुखमय बनाया है। (७) इसने आर्थिक उन्नति को सम्भव बनाया है—यदि समाज में सहयोग, शुभ-विभाजन, विशेसीकरण (Specialisation) से काम न लिया जाता तो कभी भी आर्थिक उन्नति न हो पाती। मशीनों के उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। सामूहिक जीवन ने ही आर्थिक उन्नति को सम्भव बनाया है।

इस प्रकार आपने देखा कि समाज मनुष्यों के लिये स्वाभाविक ही नहीं, जीवन-रक्षा और उन्नति के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है।

समाज का विकास

हम देख आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहां तक हम जानते हैं वह किसी न किसी रूप से समाज में रहता आया है। अतएव समाज की उत्पत्ति (Origin) का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। मनुष्य बराबर समाज में रहता चला आ रहा है, हां, समाज के रूप में परिवर्तन अवश्य होते रहे हैं। जो प्राचीन काल में समाज था उसमे आज का समाज कहीं भिन्न है। यहां उसके क्रमिक विकास पर विचार किया जायगा। पर इसके पूर्व सामाजिक विकास के सम्बन्ध में कुछ मोटी बाते जान लेना अच्छा होगा। (१) समाज का विकास सभी स्थानों पर एक-साथ और एक-समान नहीं हुआ। आज भी कुछ ऐसी पिछड़ी जातियां हैं जो विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। हम यहां विकास का जो व्यापक क्रम है उसका उल्लेख करेंगे। (२) सामाजिक विकास सदा उन्नतिशील नहीं रहा। बीच में अवनति के दिन भी आये। पर सब मिलाकर यह उन्नतोन्मुख रहा।

प्रारम्भिक युग—अभी तक की गई खोजों के आधार पर विकास वादी इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि प्रारम्भिक अवस्था* में व्यक्ति गिरोहों में रहते थे जिन्हें 'टोटम' (Totem) नाम दिया गया है। प्रत्येक टोटम का किसी प्राकृतिक वस्तु के ऊपर नाम होता था, जैसे सर्प पत्थर आदि। इन्हीं नामों से इन गिरोहों की पहिचान होती थी।

---

*देखिये(E.Jenks the Nation and the State (1919). उसी के आधारपर यह विकास दिखलाया गया है। हिन्दी मे कहानी के रूप मे इस विकास का दिग्दर्शन श्री भगवतशरण उपाध्याय ने 'सवेरा' म और राहुल साँकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' में किया है।

इन लोगों का भोजन था जंगली फल, पशु, पक्षी मछली इत्यादि। इसलिये इस काल को 'आखेट युग' भी कहा गया है। ये लोग वृक्षों की छाल, पत्ते या चर्म ओढ़ कर सर्दी से अपनी रक्षा करते थे, इनके औज़ार और हथियार लकड़ी तथा पत्थर के थे। उस समय सम्पत्ति का कोई प्रश्न ही न था। सभी व्यक्ति साथ साथ भोजन-संग्रह करते थे और जो भी मिलता था आपस में मिल-बांट कर खा लेते थे। उनका संगठन सीधा-सादा था। कहा जाता है कि उस समय एक टोटम की दूसरे से शादी हो जाती थी और स्वछन्द यौन-सम्बन्ध (Free sexrelationiship) प्रचिलित थे। उनका ज्ञान परिमित था। और जो बात उनकी समझ में नहीं आती थी, उसे वह रहस्यमय समझने लगते थे। उनका विश्वास था कि संसार खतरे से भरा पड़ा है और इनसे बचने का उपाय आत्माओं को प्रसन्न करना है। अतएव आत्माओं को प्रसन्न रखने के लिये वे नाना प्रयत्न किया करते थे। उनका सगुनों में भी विश्वास था।

चारागाह युग—प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य कुछ बना रखने की बात सोचता ही न था। जब कभी खूब शिकार हाथ लग जाता था, खूब खाना पीना होता था और कुछ न मिलने पर फलों का ही आश्रय लेना होता था। लेकिन खाने की भी एक सीमा होती है। शायद अधिक शिकार के हाथ लगने पर व्यर्थ हत्या से बचने के लिये कभी सीधे और छोटे पशुओं को बांध रक्खा जाता होगा और उन्हें आवश्यकता के समय काम में लाया जाता रहा होगा। इस पशु-पालन ने आगे चलकर उनके जीवन को ही बदल दिया।

एक दिन सुबह उठकर मनुष्य ने देखा होगा कि उसने जो बच्चे घेरे में रक्खे थे उनके बीच एक सुन्दर बच्चा भी खेल रहा है। इसी खोज ने पशु-पालन को प्रोत्साहन दिया। उसने सोचा कि मारने के

बजाय क्यों न पशुओं को पाला जाय ? न जाने वे कब दुगने हो जाँय ! शीघ्र ही उसे अनेकों धन्धों का पता लगा जैसे दूध, ऊन इत्यादि। अब मनुष्य चारागाह की खोज में पशुओं के लिये घूमने लगे। वे दुश्मनों को मारने के स्थान पर उन्हें दास बनाकर उनसे पशु-पालन का काम लेने लगे। पुरुषों को तो अब भी मार दिया जाता था किंतु स्त्री-बच्चों को दास बना लिया जाता था। अब तरु गिरोह में स्त्री-पुरुष साथ-साथ शिकार करते थे, अब स्त्रियों के ऊपर पशु-पालन का कार्य छोड़ा जाने लगा। व्यक्तिगत परिवार और बहु-पत्नी विवाह का आम रिवाज हो गया था। पर लोग अभी भी कबीलों (Tribes) में रहते थे और जिस कबीले के पास सबसे अधिक पशु होते थे, वही सम्पन्न समझा जाता था। चारागाहों के लिये झगड़े भी होते थे। इस समय का धर्म पूर्वजों की पूजा और प्रकृति की शक्तियों की उपासना के रूप में था और प्रत्येक कबीला अपना धर्म अत्यन्त गोपनीय रखता था।

कृषि युग—अभी तक मनुष्यों को खेती करने की विधि ज्ञात न थी। झोपड़ियों के आसपास छिटके हुए जंगली फलों के बीजों से उत्पन्न पौदों को देखकर उसने अनुमान लगाया कि खेती करके खाद्य पदार्थ उपजाये भी जा सकते हैं। इस जानकारी ने समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिये। जंगलों को काट कर साफ किया जाने लगा स्थायी निवास-स्थानों की नींव पड़ीं। सुरक्षा के विचार से लोगों ने एक ही स्थान पर झोपड़ियां बना कर रहना शुरू किया और इस प्रकार ग्राम्य जीवन का प्रारम्भ हुआ। उपज बढ़ जाने से एक ही स्थान पर अब काफी व्यक्ति रह सकते थे। इसलिये गांवों की आबादी बढ़ने लगी। विभिन्न रक्त सम्बन्ध वाले परिवार साथ साथ गाँवों में रहने लगे। साथ-साथ रहने से उनमें आपस में काफी मेल-जोल हो गया।

उन्हें अपनी रक्षा के लिये साथ साथ मिलकर काम करना पड़ता था। परिणामतः रक्त-सम्बन्ध का स्थान अब पड़ौस ने ले लिया और वही सामाजिक एकता का आधार बन गया। एक ही गाँव में अलग-अलग रक्त वाले परिवार और कभी कभी विपरीत भी साथ साथ रहने लगे। इस प्रकार सामाजिक संगठन भी अब जटिल होने लगा।

शिल्प युग—कृषि को अपनाने से मनुष्य एक ही स्थान में स्थिर होकर तो रहते ही थे। समय के साथ जैसे जैसे ज्ञान बढ़ा, खेती के नये नये ढङ्ग अपनाये गये जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्यों को काफी अवकाश मिलने लगा। इसलिये मनुष्य आराम की वस्तुओं के बारे में सोचने लगे। खेती के लिये भी अनेक छोटी-मोटी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ी। इस लिये अनेक उद्योगों का जन्म हुआ। लुहार, बढ़ई, चमार, जुलाहे इत्यादि गावों में रहने लगे। समाज भी कई श्रेणियों में पेशे या सम्पत्ति आदि के आधार पर विभक्त होने लगा। आबादी बढ़ने लगी उपज भी बढ़ी और व्यापार भी। धीरे धीरे ये गाँव संस्कृति के केन्द्र बन गये। इसी समय राज्य का प्रादुर्भाव हुआ और नगर राजा बने।

औद्योगिकयुग-सामाजिक विकास का अगला साल औद्योगिक युग कहकर पुकारा जाता है। इस समय में भाप के इञ्जिन और नई-नई मशीनें और औजारों को ईजाद किया गया जिन्होंने उत्पादन के ढंग की कायापलट करदी। बड़े बड़े कारखाने खुलने लगे और बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा। नई मशीनें कीमती थीं। उन्हें मामूली शिल्पकारों के औजारों के समान नहीं खरीदा जा सकाता था। उत्पादन के साधन अमीर लोगों के हाथ में आ गये। मशीनों का बना माल सस्ता होने से शिल्पकार बेकार हो गये और उन्हें कारखानों में साधारण मजदूरों के समान जीवन बिताने के लिये मजबूर होना पड़ा। अब पूँजीवाद का निकृष्टतम रूप लोगों के सामने आया। इने गिने व्यक्तियों के हाथों में

सम्पत्ति आ गई और जन-साधारण नर्क तुल्य जीवन बिताने के लिये बाध्य हो गये। आर्थिक क्षेत्र में एक ओर तो पूँजीपतियों और मज़दूरों में संघर्ष उत्पन्न हो गये हैं और दूसरी ओर समाजवाद की लहर फैलने लगी है। सामाजिक क्षेत्र में भी औद्योगीकरण ने पुराने रीति-रिवाज़ों, संयुक्त परिवार प्रथा इत्यादि का अन्त कर दिया है। स्त्रियों को भी समानाधिकार दिये जाने लगे हैं। दास-प्रथा का अन्त हो गया है। धर्म, अन्ध विश्वास आदि से लोगों की आस्था कम हो गई है और इनका स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है। विद्या और शिक्षा के क्षेत्र में भी बहुत उन्नति हुई है।

राजनीतिक व्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन हुये। प्रायः प्रत्येक ही देश में औद्योगीकरण के साथ ही साथ राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र की भावनायें फलने लगीं। मताधिकार धीरे-धीरे बढ़ाये जाने लगे यहाँ तक कि अब प्रगतिशील राज्यों में सभी वयस्क नर नारियों को मताधिकार दिया जाने लगा है। किन्तु प्रजातन्त्र की यह भावना राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित रही। कुछ औद्योगिक राज्यों में पूँजीपतियों ने जनता की राष्ट्रीयता की भावना से लाभ उठा कर राजनीतिज्ञों को इस बात के लिए सहायता दी कि वे बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित कर सकें जो उनके शोषण के क्षेत्र बन सकें। इन साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के परिणाम स्वरूप संसार को दो भयंकर विश्वव्यापी युद्धों का सामना करना पड़ा। किन्तु फिर भी साम्राज्यवादी लिप्सा शांत होती नहीं दिखाई देती। आज की प्रमुख समस्यायें ये हैं :

[क] पूंजीवाद और समाजवाद का संघर्ष—आज यह प्रमाणित हो चुका है कि अनियन्त्रित पूँजीवाद विनाश की ओर ले जाने वाला है। अमरीका को छोड़ सभी देशों ने किसी न किसी अंश तक समाजवाद का स्वीकार कर लिया है। [ख] साम्राज्यवाद और

स्वाधीनता-संग्रामों का संघर्ष—विजित जातियाँ आज जागकर स्वतन्त्र होना चाहती हैं किन्तु साम्राज्यवादी देश उन्हें अधिकार में रखना चाहते हैं। अतएव संघर्ष अनिवार्य है। [ग] रंग-भेद और अल्प संख्यकों का प्रश्न—गोरे-काले का भेद और अल्प-संख्यकों के साथ बुरा व्यवहार आपसी मेल में रुकावट डालता है। मानव-समाज का भविष्य इसी पर निर्भर है कि वह इन प्रश्नों का हल शान्ति पूर्वक करता है या लड़ कर ?

निष्कर्ष—समाज के इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। कोई बात प्राचीन या नवीन होने से न अच्छी हो जाती है और न बुरी। उसकी एक मात्र ऊँची कसौटी हो सकती है : समाज के लिये उसकी उपयोगिता। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन से हमें कुछ ऐसे अनुभव भी प्राप्त हो जाते हैं जो सामाजिक जीवन के लिये उपयोगी प्रमाणित होते हैं।

III व्यक्ति और समाज का संबंध

मूलतः दोनों एक हैं—हम कह आये हैं कि समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक और अत्यन्त आवश्यक है। आपने यह भी देखा कि समाज को मनुष्य ने किसी विशेष समय किसी विशेष ढंग से नहीं बनाया। व्यक्ति और समाज दोनों का ही प्रादुर्भाव साथ साथ हुआ और दोनों की उन्नति और भलाई में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः समाज व्यक्ति से पृथक अथवा उसके ऊपर कोई चीज नहीं है। समाज व्यक्तियों से ही मिलकर बनता है। जब हम अकेले किसी मनुष्य की बात करते हैं तो 'व्यक्ति' का नाम लिया जाता है और सब व्यक्तियों के समूह की बातों पर ध्यान देते हैं तो 'समाज' का उल्लेख किया जाता है। मूलतः दोनों एक ही हैं। बिना व्यक्ति के समाज नहीं हो सकता और न बिना समाज के सभ्य जीवन ही सम्भव है।

व्यक्ति और समाज की उन्नति भी एक दूसरे पर निर्भर है। बिना व्यक्तियों की उन्नति और उनके प्रयत्नों के समाज उन्नति नहीं कर सकता। किसी भी देश के इतिहास को देखिये, उसके महापुरुषों ने थोड़े ही समय में वे परिवर्तन कर दिखाये हैं जिनका साधारणतः होना कठिन होता दूसरी ओर अनुकूल वातावरण रहने पर ही व्यक्ति ऐसे कार्य करपाता है कि समाज की उन्नति कर सके। यदि हम किसी समाज को उन्नति कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि उस समाज के व्यक्ति अधिक उन्नत हैं। उदाहरण के लिये हमारे ही देश में एक से एक धनी व्यक्ति वर्तमान है किन्तु जन-साधारण की निर्धनता के कारण हिन्दुस्तान को एक गरीब देश कहा जाता है। इस दृष्टि से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि व्यक्ति और समाज में कोई बुनियादी विरोध नहीं है।

समाज की शरीर से तुलना—व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की इस घनिष्टता के कारण कभी-कभी समाज की तुलना शरीर से की जाती है। यह कहा जाता है कि व्यक्ति का स्थान समाज में वही है जो कि अंगों का शरीर में होता है। व्यक्ति समाज के ऊपर उसी प्रकार आश्रित है जिस प्रकार अंग शरीर पर। दूसरी ओर जिस प्रकार शरीर का स्वास्थ्य अंगों के सुचारु रूप से कार्य करने पर निर्भर है उसी प्रकार समाज की सुव्यवस्था भी व्यक्तियों और उनके समुदायों के कर्तव्य-पालन पर निर्भर है। किन्तु प्रायः इस तुलना से यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि व्यक्ति समाज के आधीन है। क्यों कि बिना समाज के मनुष्य का कोई जीवन नहीं, अतएव समाज ही प्रधान है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज साध्य (end) है और व्यक्ति केवल साधन (means) मात्र है। पर यह विचार गलत है। व्यक्ति अपने में महत्वपूर्ण है। उसे कभी एक साधन मात्र नहीं समझा जा सकता। समाज उसके हित के

लिये हैं, वह समाज के हित के लिये नहीं। वस्तुतः समाज का हित व्यक्ति के हित से अलग कुछ हो ही नहीं सकता।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध : अब और तब-व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों पर प्राचीन काल से ही विचारक सोचते आये हैं। किन्तु प्राचीन काल मे व्यक्ति को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। समाज ही सब कुछ समझा जाता था। वैसे भी समाज की इकाई व्यक्ति न होकर परिवार थे। आधुनिक काल में आकर यह विचार एक-दम बदल गया और व्यक्ति के महत्व का स्वीकार किया गया। आज सभी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि समाज व्यक्तियों की उन्नति तथा भलाई के लिये है। समाज का ऐसा कोई ध्येय नहीं हो सकता जो व्यक्तियों के हित के विरुद्ध हो। समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तियों को विकास के अधिकतम अवसर दे। उसी प्रकार व्यक्तियों को भी सामाजिक हित में अपने क्षुद्र स्वार्थों को बलिदान करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

क्या समाज एक बन्धन है-यह तो हमने आदर्श की बात बतलाई किन्तु व्यवहार मे प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि सामाजिक नियमों का पालन क्यों किया जाय? इस सम्बन्ध मे केवल यह बता देना पर्याप्त है कि सामाजिक नियमों को यदि न माना जाय तो कोई भी समाज चल नहीं सकता। यदि सभी व्यक्ति अपनी मनमानी करेंगे तो तो अराजकता फैल जायगी, कोई भी किसी के अधिकारों का आदर न करेगा और सामाजिक मेल-जोल के स्थान पर सँघर्ष होने लगेंगे। बिना नियमों का पालन किये मिल-जुलकर रहना हो ही नहीं सकता।

किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि क्या सभी सामाजिक नियम माननीय होते हैं? क्या उनको मानना हर हालतमें

ठीक है ? उदाहरण के लिये हमारे सामाजिक नियम बहुत दक़ियानूसी हो गये हैं। वे जाति-पाँत प्रथा के मानने पर बल देते हैं, हरिजनों के प्रति घृणा का भाव सिखलाते हैं और स्त्रियों को एक हेय पद देते हैं। इसी प्रकार रहन-सहन, विवाह-शादी, और खान-पान के बारे में अनेकों बन्धन हैं। क्या इन्हें मानना भी चाहिये ? यदि समाज इनके मानने को मजबूर करता है तो क्या उसे बन्धन कहना ठीक नहीं है ?

वास्तव में समाज बन्धन नहीं है और सामाजिक नियम भी व्यक्ति को बाँधने के लिये नहीं हैं। वे उनकी रक्षा के लिये हैं। ये नियम देश काल की परिस्थिति के अनुसार बनते हैं किन्तु होता यह है कि परिस्थितियां बदल जाने पर भी कभी कभी ये बने रहते हैं। यदि ऐसी कोई व्यवस्थायें अथवा नियम हैं तो उनका पालन श्रेयकर नहीं। किंतु इसी आधार पर समस्त सामाजिक नियमों को तोड़ने की बात करना उचित नहीं। नियम और व्यवस्थाये तो सदा रहेंगी और वे रहनी ही चाहिये किन्तु इन्हें उन्नति के मार्ग में बाधक न होना चाहिये। व्यवस्था (Order) और उन्नति (Progress) के सिद्धान्तों में जब सामंजस्य स्थापित हो जायगा – तब समाज बन्धन न रह कर हितकारी और आनन्ददायी बन जायगा।

IV आधुनिक समाज का संगठन

हम कह आये है कि वर्तमान समाज का रूप बहुत जटिल हो गया है। इसमें अनेक समुदाय (associations) संस्थायें (institutions) और सम्प्रदाय (communities) होता हैं। इन शब्दों का प्रयोग हम पीछे भी करते आये हैं और भी करेंगे। इसलिये यह उचित प्रतीत होता है कि हम इनका अर्थ यहां स्पष्ट कर दें।

समुदाय—समुदाय हम किसी भी ऐसे व्यक्ति-समूह को कह सकते हैं जो किसी विशेष उद्देश्य के लिये मिला कर कार्य करता हो। तो ऐसी

विशेषतायें निम्न हुई : १) एक व्यक्ति-समूह जो समुदाय का सदस्य हो; (२) सामान्य उद्देश्य जिसके लिये वह एकत्रित होते हैं; (३) उनमें संगठित सम्बन्ध होने चाहिये। बिना संगठन के कोई समुदाय नहीं बन सकता; और (४) उस संगठन में कुछ स्थायित्व होना चाहिये। यदि लोग किसी बात को सोचने के लिये उपस्थित हों, संगठन बनाने को सोचें भी, पर कोई संगठित समुदाय न बना सकें तो उनके मिलने से कोई लाभ नहीं। तमाशाई भीड़ या सभाओं की भीड़ को समुदाय का नाम नहीं दिया जा सकता।

सम्प्रदाय—प्रोफेसर मैकाइवर (Mac Iver) के अनुसार "सामान्य जीवन के एक क्षेत्र को चाहे वह गाँव हो, या नगर अथवा जिला या देश या उससे बड़ा क्षेत्र" ही सम्प्रदाय कहते हैं। इसमें सामान्य हित की भावना रहती है। इस प्रकार यह सामान्य जीवन अथवा भावनाओं का केन्द्र होता है। यह सामान्य भावना एक भाषा, एक-सी परम्पराओं अथवा प्रथाओं से उत्पन्नहो सकती हैं। कोल Cole, के अनुसार सम्प्रदाय 'कोई भी ऐसा समूह हो सकता है जो कुछ समय तक अपने में पूर्ण और आत्म-निर्भर है, किन्तु उसका उद्देश्य किसी विशेष अथवा आंशिक उद्देश्य की पूर्ति मात्र न होकर, अच्छे जीवन की प्राप्ति होनी चाहिये १०। एक सम्प्रदाय संगठित भी हो सकता है और असंगठित भी। सम्प्रदाय बनाया नहीं जा सकता, वह तो आपसे आप बन जाता है। वह तो सामान्य भावनाओं का केन्द्र होता है, जहाँ भी ऐसी भावनायें होंगी एक सम्प्रदाय बन जायगा।

'सम्प्रदाय' शब्द संकुचित क्षेत्र में एक परिवार के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है और विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य मात्र के लिये प्रयुक्त हो सकता है।

१०देखिये G.D.H. Cole; Social theory (1923), p-26.

'सम्प्रदाय' शब्द उन लोगों के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है जिनके सामाजिक, आर्थिक अथवा धार्मिक हित सामान्य हैं। हिन्दू सम्प्रदाय, मुस्लिम सम्प्रदाय शब्दों का प्रयोग धार्मिक सम्प्रदायों का द्योतक है।

सम्प्रदाय और समाज दो भिन्न अर्थ वाले शब्द हैं यद्यपि दोनों का प्रयोग प्रायः समान रूप से किया जाता है। पर समाज के लिये एक सामान्य जीवन आवश्यक नहीं है। साथ ही समाज का भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ भी कुछ मनुष्य मिलकर रहते हैं वहीं समाज बन जाता है।

सम्प्रदाय और समुदाय का भेद-भी समझ लेना ठीक होगा। (१) सम्प्रदाय किसी भी सामान्य जीवन के केन्द्र को कहा जा सकता है चाहे वह संगठित हो या न हो। समुदाय का संगठित होना आवश्यक है। (२) समुदाय का उद्देश्य किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करना होता है जब कि सम्प्रदाय का उद्देश्य अच्छे जीवन को बनाना है। (३) सम्प्रदाय का कोई प्रारम्भ नहीं होता, और न उसका कोई जन्म ही होता है। सामान्य जीवन की सभी बातें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। इसके विपरीत समुदाय बनाये जा सकते हैं। (४) मनुष्य समुदायों का सदस्य बनने के लिये स्वतन्त्र है, किंतु सम्प्रदाय की सदस्यता इच्छा पर निर्भर नहीं है। हम सम्प्रदायों में जन्म लेते हैं किंतु हम समुदायों को बनाते हैं और उनकी सदस्यता इच्छानुसार स्वीकार करते हैं। (५) सम्प्रदाय किसी भी समुदाय से अधिक विस्तीर्ण होता है। समुदाय सम्प्रदाय के अन्तर्गत काम करते हैं।

संस्था—इस शब्द पर विचार करते हुए कोल (G. D. H. Cole) कहते हैं कि 'संस्था' शब्द की परिभाषा देना अत्यंत कठिन है। अतएव इसे केवल नकारात्मक ढंग से ही समझाया जा सकता है। 'संस्था'

शब्द किसी समूह अथवा समुदाय का परिचायक नहीं है। इसके कोई सदस्य भी नहीं होते। यद्यपि सामाजिक होने के कारण इसका वाह्य प्रकाशन व्यक्तियों और समुदायों में होता है और उन्हीं के द्वारा यह चलती भी है किंतु यह पद इसे समाज के द्वारा माने जाने से ही मिलता है। इसकी शक्ति का आधार परम्पराय और प्रथायें होती हैं। इसके कुछ मुख्य रूप सरलता से पहिचाने जा सकते हैं जैसे विवाह, राजतंत्र, जाति, पूँजीवाद, धर्म इत्यादि।

कभी कभी समुदाय के लिये भी संस्था शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसे राज्य, विश्व-विद्यालय इत्यादि। किंतु यह प्रयोग ठीक नहीं। राज्य एक संस्था नहीं है किंतु सरकार जिसकी प्रतीक राज्य है एक संस्था है। विश्व-विद्यालय एक संस्था नहीं है किंतु शिक्षा एक संस्था है। इसी प्रकार चर्च भी कोई संस्था नहीं पर धर्म एक संस्था है।

यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कोई विचार जन-साधारण में प्रचलित हो जाने के कारण ही संस्था नहीं कहा जा सकता। संस्था कहे जाने के लिये साथ ही उसका सामाजिक व्यवस्था में कुछ बाहरी रूप भी प्रकट होना चाहिये। यह प्रकाशन किसी समुदाय अथवा किसी सामाजिक व्यवहार के रूप में हो सकता है। उदाहरण के लिये राजतन्त्र का वाह्य रूप राजा और उसकी सार्वजनिक मान्यता में पाया जाता है और विवाह का वाह्य रूप विवाहित व्यक्तियों और उनकी सामाजिक मान्यता में है।

इतना विचार करने के पश्चात् कोल ने संस्था की एक काम-चलाऊ परिभाषा दी है : 'संस्था उस मानी हुई प्रथा अथवा सामाजिक परम्परा या विचार के वाह्य रूप को कहा जा सकता है जिसका प्रकाशन व्यक्तियों में और उन्हीं के द्वारा या तो उनके व्यक्तिगत आचरण और सम्बन्धों में अथवा संगठित समूहों या समुदायों के मार्फत होता है।'

वस्तुतः संस्था वह विचार, प्रथा अथवा परम्परा है जिसका ठोस रूप सामाजिक आचरण के किसी पहलू में प्रगट होता है और जो सामाजिक जीवन की मान्य बातों में से हैं। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि किसी विचार, प्रथा अथवा परम्परा के संस्था होने के लिये (१) समाज के द्वारा उसे स्वीकार किया जाना चाहिये और (२) साथ ही उसका बाह्य जगत में कोई ठोस रूप होना चाहिये।

——:o:——

तीसरा अध्याय

व्यक्ति और समुदाय

"समुदाय बहुत कम एक दूसरे से एक दम पृथक, अथवा पूर्ण सामजस्य के साथ, कार्य करते हैं। वे अनेक स्थानों पर एक दूसरे के कार्य-क्षेत्रों को काटते हैं, अपने अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और आपस में संघर्ष करते रहते हैं। उनकी आपेक्षिक स्थिति और उनका रूप बदलती हुई आवश्यकताओं, विचारों और सामाजिक वर्गीकरण के साथ बदलता रहता है।"

—डा० बेनीप्रसाद

I समुदायों का महत्व

आपने देखा कि एक नागरिक समाज में रह कर अनेक समुदाय के सम्पर्क में आता है। इनमें से कुछ का तो वह जन्म से ही सदस्य होता है और कुछ का वह स्वेच्छा से सदस्य बन जाता है। आपने यह भी

देखा कि प्रत्येक समुदाय एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलता है और उस उद्देश्य के लिए उसके सदस्य मिलकर काम करते हैं। इस प्रकार के समुदाय छोटे-बड़े, स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी प्रकार के हो सकते हैं। प्रत्येक नागरिक ऐसे अनेक समुदायों का सदस्य होता है। आप भी शायद अपने परिवार, क्लबे, कालिज, पुस्तकालय के अतिरिक्त अन्य समुदायों के भी सदस्य होंगे। ये सभी समुदाय अपने क्षेत्र में सदस्यों की उन्नति करने का प्रयत्न करते हैं। इन समुदायों की सफलता उनके सदस्यों के पारस्परिक सहयोग और प्रयत्नों पर निर्भर है। प्रत्येक समुदाय सदस्यों को कुछ सुविधायें देता है और बदले उनसे यह आशा करता है कि वे भी उसके प्रति अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करें।

समुदायों की उपयोगिता—नागरिक इन समुदायों का आश्रय इसलिये लेते हैं कि ये उनके लिये अत्यन्त उपयोगी है। (१) अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अकेले व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। अकेले काम करने से अपने हितों की रक्षा करना तक कठिन हो जाता है। किंतु संगठित होकर उन्हें एक नया बल प्राप्त हो जाता है। समुदाय बनाकर वे अपने हितों की रक्षा अच्छी तरह कर सकते हैं। मजदूर-संघों (Trade Unions) के इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गरीब और असहाय व्यक्तियों का एक मात्र कल्याण संगठित होने में है। (२) समुदायों से केवल बल ही नहीं मिलता वरन् सफलता भी अधिक से अधिक प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति जब अलग-अलग काम करता है तो उसका बहुत सा श्रम व्यर्थ हो जाता है। योजना और संगठित प्रयत्नों के अभाव में उसे बहुत कम सफलता मिल पाती है। वही काम यदि वे संगठन बनाकर और सोच-समझ कर करते हैं तो सफलता सरलता से प्राप्त होजाती है। (३) समुदाय सदस्यों को एक दूसरे के बहुत निकट सम्पर्क में ला देते हैं। साधारण मिलने-जुलने में उतनी

निकट की जान-पहिचान नहीं हो पाती। इस पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान से मनुष्यों के स्वभाव को समझने, दूसरों के दृष्टि-कोण को परखने और अच्छे सामाजिक व्यवहार की शिक्षा मिलती है। (४ समुदाय सदस्यों के बीच भ्रातृभावना को बढ़ाते हैं। साथ-साथ काम करने से भाई-चारे की भावना पैदा होती है। यही भावना आगे बढ़कर देश-प्रेम और विश्व-बंधुत्व की भावनाओं का रूप ग्रहण कर लेती है। (५) समुदाय सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास करते हैं। व्यक्ति यदि चहुमुखी उन्नति करना चाहता है तो इसका एक अच्छा उपाय विभिन्न प्रकार के समुदायों से सम्बन्ध बढ़ाना है। कोई एक समुदाय उसके समस्त व्यक्तित्व को नहीं बाँध सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह नये-नये समुदायों के सम्पर्क में आता है। जितने ही अधिक समुदायों का वह सदस्य होगा, उतना ही उसका सामाजिक जीवन सम्पन्न होगा और उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो सकेगा। जो मनुष्य अपने को परिवार या मुहल्ले की चहार दीवारी में सीमित रखते हैं वे कभी भी अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकते। (६) समुदाय अपने सदस्यों के अधिकारों और उनके हितों की भी रक्षा करते हैं। अकेले व्यक्ति अपने को शक्तिशाली लोगों के सम्मुख निर्बल पाता है किन्तु समुदाय का साथ होने से उसे यह विश्वास रहता है कि उसकी सहायता करने वाले साथी और भी हैं। अतएव वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिये लड़ सकते हैं, आंदोलन कर सकते हैं और प्रचार कर सकते हैं। अकेला व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा कभी इस खूबी के साथ नहीं कर सकता। (७) ये समुदाय ठीक मतों को बनाने में बहुत सहायक होते हैं। इनमें अच्छी तरह सोच-विचार और वाद-विवाद के पश्चात् किसी निर्णय पर पहुंचा जाता है। फिर अपने मत के प्रचार के लिये ये समुदाय सरल भाषा में अपने

विचारों को जनता के सन्मुख भी रखते हैं और इस प्रकार ठीक मत बनाने में सहायता देते हैं।

वास्तव में समुदाय आज के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण हो गये हैं। इसलिये प्रतिदिन आपको नये-नये समुदायों के बनने के समाचार सुनाई देते हैं। इस युग में असगठित व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है, संगठन से ही सफलता प्राप्त हो सकती है।

II समुदायों का वर्गीकरण

आपने देखा कि समुदाय अनेक प्रकार के होते हैं। वे एक-दूसरे से सगठन में, कार्य-क्षेत्र में, शक्ति में, स्थायित्व में और उपयोगिता में भिन्न होते हैं। अतएव प्रश्न यह उठता है कि इनका वर्गीकरण किस आधार पर किया जाय ? नीचे इन पर विचार किया जायगा।

(१) स्वाभाविक और मनुष्यकृत समुदाय—यह वर्गीकरण पुराना है। स्वाभाविक (Natural) उन समुदायों को कहा जाता है जिनके सदस्य व्यक्ति जन्म से ही होता है। इन्हें अनिवार्य (Compulsory) समुदाय भी कहा जाता है। शेष उन समुदायों को जिनकी सदस्यता नागरिकों का अपनी इच्छा पर निर्भर है कृत्रिम (Artificial) समुदाय कहा जाता है। किंतु 'कृत्रिम' शब्द भ्रमात्मक है। इससे यह भावना निकलती है कि वे आवश्यक नहीं है। किंतु यह बात अनुचित और गलत है। समुदाय में रहना मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है। इसलिये किसी भी समुदाय को कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। इसके स्थान पर उन्हें मनुष्यकृत (Man-made) अथवा वैकल्पिक ((Optional) समुदाय कहना बहतर होगा। तो इस वर्गीकरण को यों रक्खा जा सकता है : स्वाभाविक या अनिवार्य और मनुष्यकृत अथवा वैकल्पिक समुदाय। यह वर्गीकरण सदस्यता पर

आधारित है। परिवार आदि नैसर्गिक समुदायों के उदाहरण हैं जब कि कालेज, पुस्तकालय इत्यादि मनुष्यकृत समुदायों के उदाहरण हैं।

(२) स्थायी और अल्पकालीन समुदाय—वर्गीकरण का दूसरा आधार इन समुदायों का कार्यकाल है। कुछ समुदाय स्थायी होते हैं और कुछ अल्पकालीन। स्वाभाविक समुदाय प्रायः स्थायी होते हैं और मनुष्यकृत समुदाय अल्पकालीन होते हैं।

(३) कार्यक्षेत्र के आधार पर वर्गीकरण—इस आधार पर समुदायों को स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बतलाया जाता है। जिन समुदायों का कार्य केवल एक स्थान तक सीमित होता है उसे स्थानीय कहा जाता है, जिन समुदायों का कार्य-क्षेत्र एक राज्य तक विस्तृत होता है वे राष्ट्रीय कहे जाते हैं और राज्यों की सीमाओं को पार करने वाले समुदाय अन्तर्राष्ट्रीय कहलाते हैं।

(४) कार्य के आधार पर वर्गीकरण—वर्गीकरण का चौथा आधार समुदायों का कार्य है। इस सम्बन्ध में समुदाय निम्न वर्गों में बांटे जा सकते हैं। (१) रक्त और वंश पर आधारित समुदाय, (२) धार्मिक समुदाय, (३) सांस्कृतिक समुदाय, (४) आर्थिक समुदाय, (५) राजनैतिक समुदाय, (६) मनोरंजनात्मक समुदाय, (७) परोपकारिक समुदाय, (८) सुधारवादी समुदाय, (९) प्रचारात्मक समुदाय आदि। अब नीचे इनमें से प्रत्येक पर विचार किया जायगा।

रक्त-सम्बन्धी समुदाय—मनुष्यों के समस्त समुदायों में रक्त और वंश (Kinship) पर आधारित समुदाय सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। वे समुदाय नैसर्गिक होते है क्यों कि इनकी सदस्यता इच्छा पर निर्भर न होकर जन्म पर निर्भर है। इसीलिये इन्हें अनिवार्य समुदाय भी कहा जा सकता है। ये स्थायी समुदाय हैं क्यों कि इनके भंग होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे देश में इस प्रकार के समुदाय हैं :

परिवार, कुनबा, गोत्र और जाति। इनमें परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्यों कि यह समाज की बुनियादी इकाई होती है। साथ ही यह स्वाभाविक प्रेम पर आधारित समुदाय है। परिवार नागरिक जीवन में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखता है कि इस पर पृथक विचार किया जायगा।

इस वर्ग में अगला समुदाय कुनबा (Clan) है। कुनबा एक ही पूर्वज से उत्पन्न परिवारों के समूह को कहते हैं। इसी प्रकार के कई कुनबे मिलकर कुल अथवा गोत्र (Tribe) कहलाते हैं। एक ही कुल या गोत्र के परिवार किसी सुदूर पूर्वज (ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक) की सन्तान माने जाते हैं। कई गोत्रों या कुलों का मिला कर उपजातियों (Sub-castes) होती हैं और कई उपजातियां मिलाकर एक जाति (Caste)। ये समुदाय किसी समय बहुत महत्वपूर्ण थे। प्रत्येक उपजाति की अपनी प्रथायें, खान-पान, पहनावा के नियम होते हैं। प्रायः एक कुल या गोत्र के अन्दर विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती किंतु उपजाति के भीतर विवाह करने पर ज़ोर डाला जाता है। इसी कारण जाति-प्रथा अब तक कायम रह सकी है। प्राचीन काल में चाहे वह कितनी ही उपयोगी अथवा महत्वपूर्ण रही हो किंतु अब तो वह प्रगति के मार्ग में बाधक प्रमाणित हो रही है। बजाय एकता और उन्नति के साधन होने के वह फूट और अनुदारता की गढ़ बन गई है। समय का प्रवाह निश्चित ही जन्म पर आधारित जाति-पाँत और उससे संबंधित ऊंच-नीच की भावना के विरुद्ध है। या तो हमें इस भावना को छोड़कर सभी जातियों के समानता के पद को स्वीकार करना होगा अथवा जाति-प्रथा को जड़ से ही उन्मूलन करना पड़ेगा।

धार्मिक समुदाय—प्राचीन काल में धर्म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था और भारतवर्ष जैसे देश में वह आज भी बहुत प्रभाव रखता

है। हमारा देश धर्मों का एक केन्द्र है। यहां हिन्दू धर्म भी हैं, इस्लाम धर्म भी हैं, पारसी भी हैं, सिख भी हैं, ईसाई भी हैं और बौद्ध भी। अन्य देशों में भी विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं। एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्ति प्रायः अपने संगठन को सुदृढ़ करने के लिये समुदाय बना लेते हैं। इनका उद्देश्य अपने सदस्यों के धार्मिक और अध्यात्मिक विकास में सहायता देना है। वे अपने सदस्यों में नैतिकता की भावना भरते हैं और उनके सन्मुख ऊंचे आदर्श रखकर उन्हें सदाचारपूर्ण जीवन बिताने के लिये प्रेरित करते हैं। इस प्रकार के धार्मिक समुदाय स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो सकते हैं। रोमन कैथोलिक चर्च इसी प्रकार का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। राधास्वामी सत्संग आगरे का एक स्थानीय धार्मिक समुदाय है यद्यपि इसके सदस्य अन्य स्थानों में भी हैं। सिखों का अकाली दल एक राष्ट्रीय समुदाय है।

इन धार्मिक समुदायों के कारण कभी-कभी बड़ी असुविधायें उत्पन्न हो जाती हैं। धार्मिक संकीर्णता (narrowness) और असहिष्णुता (intolerance) के कारण धर्म के नाम पर बड़े-बड़े अत्याचार, हत्याकाण्ड, दंगे और युद्ध हुए हैं और हो रहे हैं। भारतवर्ष में ही धर्म के नाम पर बर्बरता का जो नंगा नाच हो रहा है उससे किसी भी समझदार नागरिक का मस्तिष्क नत हुये बिना नहीं रह सकता। धार्मिक ऊंच-नीच का भाव और धर्म के नाम पर घृणा और हिंसा का प्रचार कभी समाज का भला नहीं कर सकता। हमें धार्मिक सहिष्णुता को अपनाना चाहिये, और सभी धर्मों के प्रति समान रूप से आदर-भाव रखना चाहिये। धार्मिक समुदायों से एक और भी खतरा है। कभी-कभी धार्मिक समुदाय धर्म के नाम आवश्यक सुधारों का विरोध करने लगते हैं। इससे धर्म के प्रति दुर्भावना पैदा होती है और उस पर से विश्वास हट जाता है। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक शिक्षा का

प्रसार भी ठीक नहीं है। यदि धार्मिक शिक्षा दी ही जाय, तो सब धर्मों के विचारों का समन्वय करके। धार्मिक समुदायों को मनमानी शिक्षा देने की अनुमति देना सामाजिक सामजस्य के लिये घातक होता है और यह बजाय भाई-चारे की भावना फैलाने के उनमें विद्वेष-भावना फैलाती है।

सांस्कृतिक समुदाय—प्रत्येक राष्ट्र और सम्प्रदाय की अपनी पृथक संस्कृति होती है। प्राचीन काल में संस्कृति की उन्नति तथा प्रसार का कार्य धार्मिक समुदाय किया करते थे। मध्य काल में जब यूरोप में घोर अज्ञान छा गया था ईसाई-चर्च ने उस समय ज्ञान-दीप को आलोकित रक्खा। किन्तु आधुनिक काल में शिक्षा, साहित्य और कला की उन्नति तथा प्रसार की समुचित व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना जाता है। फिर भी यह काम इतना बड़ा है कि अकेले राज्य के प्रयत्न नाकाफी है। अतएव सार्वजनिक समुदाय भी इस काम को अपने हाथों में ले लेते हैं। इन सांस्कृतिक समुदायों का उद्देश्य ज्ञान का प्रसार और जीवन को सभ्य और सुसस्कृत बनाना होता है। इस प्रकार के अनेक सरकारी और गैर-सरकारी पाठशालायें, मदरसे, स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, वाचानालय, परिषदें आदि हमारी संस्कृति की उन्नति में सहायता देने वाले समुदाय हैं। शिक्षण केन्द्रों में आपको और भी अनेक छोटी-बड़ी एसोसियेशनें काम करती मिलेंगीं। इनका ध्येय यह है कि व्यक्तिओं का चरित्र ऐसा बने कि वे सफल नागरिक बनकर समाजिक उन्नति और सभ्यता की प्रगति के लिये उपयोगी प्रमाणित हो सकें। अब सार्वजनिक शिक्षा का धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया है। अनुभव ने यह बता दिया है कि शिक्षा को धर्म के झमेले से अलग रखना सामाजिक शांति के लिये हितकर है। यह बात मुख्य तथा ऐसे देशों के लिये और भी आवश्यक

है जहां कि कई धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि वह सामाजिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाये और एक दूसरे का समझने में सहायता दे। सांस्कृतिक समुदायों का मानव हित से घनिष्ट सम्बन्ध का पता इसी से चल जायगा कि पिछले राष्ट्र-संघ ने बौद्धिक सहयोग को विश्व शांतिस्थापन के लिये एक महत्वपूर्ण उपाय स्वीकार किया था। संयुक्त राष्ट्रीय-संघ ने भी यूएनेस्को को स्थापित कर इस दिशा में उचित कदम उठाया है।

आर्थिक समुदाय—मनुष्य ने बहुत शीघ्र ही इस बात का अनुभव कर लिया कि आर्थिक क्षेत्र में सहयोग और संगठन अत्यन्त आवश्यक है और इसी अनुभव ने अनेक आर्थिक समुदायों को जन्म दिया। इस प्रकार के समुदाय बहुत समय से चले आते हैं। भारतवर्ष में जाति-व्यवस्था भी प्रारम्भ में कर्म पर आधारित थी। मध्य काल में यूरोपमें भी व्यवसायिक संघ होते थे। ये समुदाय अपने आंतरिक प्रश्नों का स्वयं निपटारा करते थे। यहां तक कि वे माल की अच्छाई की देख-भाल तोल-माप और उचितमूल्यको निर्धारित करते थे। आधुनिक समयमें समाज के आर्थिक जीवन में अनेक उलट-फेर हो जाने से उपरोक्त समुदायों की उपयोगिता भी जाती रही। अब तो अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिये विभिन्न व्यवसाय अपना संगठन कर लेते हैं आपको इस प्रकार की अनेक जमींदार-लीगें, किसान-सभायें मिलेंगी। व्यापारियों, वकीलों, डाक्टरों, मजदूरों, पूँजीपतियों ने भी इस प्रकार के समुदाय बना लिये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ व्यापारिक समुदाय (Business associations) भी हैं जैसे साझेदारी की और लिमिटेड कम्पनियाँ। इसके अतिरिक्त आपको अनेक प्रकार की सहकारिता समितियाँ (Co-operative Societies) भी मिलेंगी जिनका ध्येय स्पर्धा का अन्त करके, बीच के व्यक्तियों को हटाकर, वस्तुओं को सीधे और लाभ

के साथ सदस्यों को देना होता है। इस प्रकार के समुदाय उत्पादन, वितरण, क्रय-विक्रय और मूल्य-व्यवस्था का भी काम करते हैं।

इस प्रकार के संगठनों में मजदूरों के समुदायों ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। मजदूर प्रायः समाज के निर्धनतम अंग होते हैं। उनके पास बेकारी के समय आश्रय लेने तक के भी साधनों का सर्वथा अभाव रहता है। अनुभव ने उन्हें सिखा दिया है कि संगठित मोर्चा बनाकर वे न केवल पूँजीपतियों के अत्याचारों से ही मुक्ति पा सकते हैं वरन् अपनी चहुँमुखी उन्नति कर सकते हैं। परिणाम स्वरूप सभी देशों में मजदूर-संगठन बन गये हैं। इनमें अनेक की व्यवस्था बहुत ही सुन्दर और संगठन अत्यन्त ठोस है। जगह-जगह के ऐसे समुदायों से तो आप परिचित होंगे ही। हिन्दुस्तान में आल-इण्डिया ट्रेड यूनियन काँग्रेस एक राष्ट्रीय समुदाय है। मजदूरों के कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन' (I. L. O.) है जिसकी राष्ट्र-संघ के तत्वाविधान में १९२० ई० में स्थापना हुई थी और जो अब भी काम कर रही है।

मजदूरों की देखा। देखी मालिकों ने भी संगठन बनाना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार के अनेक संगठन बने। मजदूर और मालिकों में आपस में झगड़े होने पर ये समुदाय उन्हें सुलझाने में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

आर्थिक समुदायों के बारे में यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रायः इनका उद्देश्य केवल अपने हित का साधन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि आकरण ही अनेक संघर्ष होते हैं। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि ये समुदाय केवल अपने हित की ही बात न सोचकर सामाजिक हित का ध्यान रक्खें। आर्थिक जीवन को ठीक से बनाये रखना इतना आवश्यक है

कि कोई भी संगठित सरकार इसमें संघर्ष अथवा गताविरोध को आँखें मूँदे बैठा नहीं देख सकती। जब अवस्था विषय रूप धारण कर लेती है तो राज्य को बीच में पड़ कर मामला सुलझाना होता है। पर राज्य को इस सम्बन्ध में समझ और निष्पक्षता से काम लेना चाहिये।

राजनीतिक समुदाय—प्रत्येक समाज में अनेक राजनीतिक समुदाय भी होते है। इनमें राज्य और उसके अन्तर्गत स्थापित प्रांतीय, स्थानीय सरकारें आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक राजनीतिक समुदाय होते हैं। इन्हें राजनीतिक पार्टियां या दल कहा जाता है।

राज्य एक अनिवार्य और स्थायी राजनीतिक समुदाय है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि इस पर हम पृथक विचार करेंगे। यहा इतना बतला देना पर्याप्त है कि राज्य के चार प्रमुख लक्षण हैं: भूमि, जनता, सरकार और राज्यशक्ति (Sovereignty)। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि "निश्चित भूभाग पर रहने वाले एक स्वतन्त्र जन-समुदाय" का ही नाम राज्य है। इन चारों लक्षणों के रहने पर ही कोई देश राज्य कहला सकता है अन्यथा नहीं।

राजनीतिक दल प्रतिनिधात्मक प्रणाली को चलाने के लिये आवश्यक हैं। इन पर भी हम आगे चलकर पृथक रूप से विचार करेंगे। पर यहा यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि राजनीतिक दल सत्ता हस्तगत करने और अपने कार्यक्रम को कार्य रूप में परिणित करने के हेतु अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रचार करते हैं, चुनाव लड़ते हैं और हर सम्भव उपायों से जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न करते है। भारतवर्ष में इस प्रकार के राजनीतिक हैं अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस; मुस्लिम लीग, अकाली पार्टी, जमीयत इल उलमा-ए-हिन्द, हिन्दू-महासभा आदि। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो गया होगा इनमें से कई विशुद्ध साम्प्रदायिक आधार को लेकर चलते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में इस साम्प्रदायिकता ने हमारे नागरिक जीवन में विष घोल रक्खा है और उसका प्रत्यक्ष परिणाम साम्प्रदायिक दंगों और पाकिस्तान की माँग के रूप में हमारे सन्मुख आ रहा है। वास्तव में धार्मिक साम्प्रदायों के आधार पर पार्टियाँ बनाना एक खतरनाक और हानिप्रद बात है। आज की समस्यायें मुख्यतया राजनीतिक और आर्थिक होती हैं, अतएव राजनीतिक दल भी इन्हीं आधारों पर बनाने में देश का कल्याण हो सकता है। नहीं तो साम्प्रदायिकता का यह विष हमारे जीवन को जर्जरित कर पतन के गर्त में ले जायगा।

मनोरंजनात्मक समुदाय—मनोरंजन हमारे जीवन में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है जितना कि भोजन। प्रतिदिन के नीरस कार्य के पश्चात् यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ आराम करे अथवा मनोरंजन के लिये उसके पास कुछ साधन हों। व्यक्ति अपने अवकाश के समय का अच्छा उपयोग करने के लिये मनोरंजनात्मक समुदाय बना लेते हैं। ये जीवन में प्रसन्नता की लहर फैला देते हैं और इस प्रकार स्वास्थ्य को भी ठीक बनाये रखते हैं। वे आपस में भाई-चारे की भावना फैलाते हैं और व्यक्तियों को ऐसी प्रेरणा देते हैं कि वे कठिनाइयों, असफलताओं, और जीवन के उतार-चढ़ाव का साहस और बहादुरी से मुकाबला कर सकें। इस प्रकार के अनेक क्लबों, सोसाइटियों और समुदायों को आप प्रत्येक नगर में पावेंगे। मनोरंजनात्मक समुदाय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भी हो सकते हैं। इन समुदायों में जिन मनोरंजनों की व्यवस्था हो वे अच्छे विचारों और स्वास्थ्य को देने वाले होने चाहिये, पतन की ओर ले जाने वाले नहीं।

परोपकारिक समुदाय—निस्वार्थ भाव से जो कार्य किये जाते हैं उन्हें ही सेवा-कार्य अथवा परोपकार का काम कहा जा सकता है। जो समुदाय परोपकारार्थ सेवा करने की इच्छा से बनाये जाते हैं वे परोप-

कारिक समुदाय कहलाते हैं । इस प्रकार, ये मनुष्य के सुविचारों के प्रकाशक होते हैं ।

मनुष्यों में आत्म-त्याग और सेवा-भावना स्वाभाविक है । वह जब दूसरों को दुःख पाते देखता है तो स्वयं भी स्थिर नहीं रह पाता । यदि वह यह अनुभव करता है कि दुःखः पाने वाला सहानुभूति का पात्र है तो यथाशक्ति स्वयं उन्हें सहायता करने का प्रयत्न करता है । इसी हेतु अनेक समुदाय बन जाते हैं । इन लोगों और समुदायों के प्रयत्न से ही बहुत से कार्य सम्भव हो सके हैं । ये समुदाय महामारी, अकाल, बाढ़, दंगों इत्यादि के समय महत्वपूर्ण कार्य करते हैं । प्रयाग के कुम्भ जैसे मेलों का काम बिना इनकी सहायता के असम्भव हो जाता । स्काउट समितियां, बालचर सोसाइटियाँ इत्यादि ऐसे ही समुदाय हैं । भारत सेवक संघ (Servnt of India Society) हमारे देश के उन इने-गिने त्यागी व्यक्तियों के बने हुये हैं जिन्होंने बहुत कम वेतन स्वीकार कर अपना जीवन सेवा-कार्य में अर्पण कर दिया है । यह एक राष्ट्रीय समुदाय है । रैड क्रोस सोसाइटी की युद्ध और शान्ति-कालीन सेवाओं से कौन अपरिचित होगा । यह एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय है जिसने संसार की बहुत सेवा की है ।

सुधारवादी समुदाय—ये समुदाय समाज की बुराइयां दूर करने के लिये बनाये जाते हैं । भारतवर्ष में हरिजन सेवक संघ, ग्राम सुधार संगठन, जाति-पांत तोड़क मण्डल, आर्य समाज इत्यादि । आर्य समाज एक विशुद्ध सुधारवादी समुदाय नहीं है, उसका एक धार्मिक पहलू भी है । इसी प्रकार कई अन्य राजनीतिक, धार्मिक और परोपकारिक समुदाय भी साथ साथ सुधार-सम्बन्धी कार्य करते रहते हैं । ये समुदाय इसलिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं कि वे समाज की बुराइयों को दूर करके सामाजिक जीवन को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं ।

प्रचारात्मक समुदाय—इसके अतिरिक्त कुछ समुदाय ऐसे भी होते हैं जिनका कार्य केवल विचारों का प्रतिपादन तथा प्रचार मात्र होता है। इङ्गलैंड की फैबियन सोसाइटी इसी प्रकार का एक प्रचारात्मक समुदाय है जिसने इङ्गलैण्ड में समाजवाद का प्रचार करने में महत्वपूर्ण सहायता दी। कुछ समुदाय ऐसे भी हैं जो प्रचार के अतिरिक्त और भी कार्य करते हैं और लगभग सभी समुदाय अपने विचारों तथा उद्देश्यों के प्रतिपादन तथा प्रचार के लिये कार्य करते ही हैं।

III कर्तव्य पालन का प्रश्न

आपने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति अनेक समुदायों का सदस्य होता है। प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों के हित का ध्यान रखते हैं और बदले में वह यह आशा करते हैं कि सदस्य भी उनके प्रति वफादार रहें और उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करें। वे अपने सदस्यों से कुछ तकलीफ उठाकर भी कर्तव्य-पालन की आशा कर सकते हैं। वे अपने सदस्यों से चन्दा वसूल करते हैं, उन्हें नियम मानने के लिये बाध्य कर सकते हैं, अनुशासन भंग करने पर उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकते हैं और आखिर में उन्हें सदस्यता से अलग भी कर सकते हैं।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सदस्य इन समुदायों का अपनी पूरी वफादारी दें। कोई समुदाय यह आशा नहीं कर सकता कि उसके सदस्य केवल उसी के प्रति पूरा पूरा ध्यान दें और अपने अन्य सम्बन्धों अथवा समुदायों के प्रति अपने कर्तव्यों को ध्यान न दें। ऐसी आशा करना उचित भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक समुदायों का सदस्य होता है। वह उनकी सदस्यता केवल इसीलिये स्वीकार करता है कि इससे उसे लाभ होता है। अतएव सदस्य अपने समुदाय के लिये केवल

उतना ही त्याग कर सकते हैं जितना लाभ उन्हें उसकी सदस्यता से होता है। कभी कभी कुछ समुदाय आवश्यकता से अधिक आशा करते हैं और इसका परिणाम होता है निराशा। ऐसा भी हो सकता है कि कुछ सदस्य किसी समुदाय को इतना महत्व दें कि उसके पीछे शेष सभी समुदायों को भुला दें। किन्तु यह उचित भी नहीं और भयंकर भी नहीं। यह आवश्यक है कि प्रत्येक समुदाय सामाजिक हित का ध्यान रक्खें, और अपने उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न करें। सदस्यों को भी सभी समुदायों के प्रति अपने कर्तव्यों को इस प्रकार पूरा करना चाहिये कि बड़े हितों के आगे क्षुद्र स्वार्थों को त्याग कर दिया जावे जिससे समाज का अधिक से अधिक भला हो।

——:o:——

चौथा अध्याय

परिवार तथा अन्य सम्प्रदाय

'यदि संसार परिवार के बिना काम चला भी ले, तो भी वह परिवार के उन गुणों से जो उसके साथ ही चले जावेंगे, वंचित रहने की सामर्थ नहीं रखता।'''इतनी ममता और सौन्दर्य के स्रोत को केवल इसलिये त्याग देना कि कभी कभी वह असफल हो जाता है वैसे ही है जैसे आकाश से सूर्य को निकालने की सोचना क्यों कि कभी-कभी वह बादलों से ढक जाता है।'

—डा० बोसैनवे

I परिवार का आधार और विकास

परिवार एक नैसर्गिक समुदाय है—परिवार एक अनिवार्य, स्थायी और नैसर्गिक समुदाय है। मनुष्य के जीवन में यह समय में भी और महत्व में भी सर्वप्रथम होता है। मनुष्य सदा से किसी न किसी ढंग के परिवार में रहता आया है फिर चाहे उसका स्वरूप कैसा भी रहा हो। प्रत्येक शिशु का जन्म माता-पिता के सहयोग का परिणाम होता है और उन्हीं को बच्चे का लालन-पालन करना होता है। मां-बाप अथवा उसके अन्य सम्बन्धियों को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति से उसके लिये कष्ट उठाने की आशा नहीं की जा सकती। किन्तु माता-पिता तो अपना सर्वस्व देकर भी अपने प्रिय शिशु को आराम पहुंचाने की चेष्टा करते हैं और इस बात का भरसक प्रयत्न करते हैं कि उनका बालक एक अच्छा नागरिक बने! इस प्रकार हम इस परिणाम पर

पहुंचते हैं कि बच्चों का पालन और देख-रेख ही परिवार का नैसर्गिक आधार है।

किन्तु गहराई से देखने से पता चलता है कि बच्चों की देख रेख ही परिवार का एक मात्र आधार नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि परिवार में कोई बच्चा होता ही नहीं। अतएव इसका आधार अन्यत्र खोजना होगा। यह आधार है : नर-नारी का विवाह। चाहे इस युगल-मिलन के परिणाम स्वरूप सन्तान हो या न हो इससे परिवार पर प्रभाव नहीं पड़ता। और यदि बच्चों की देख-रेख का ही प्रश्न होता तो परिवार बच्चों के वयस्क हो जाने पर भंग हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये विवाह और सन्तानों के पालन की सम्भावना दोनों ही परिवारों के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों की बातों का समावेश करके हम परिवार की निम्न परिभाषा दे सकते हैं : स्त्री और पुरुष के वह मिलन जो प्रेम पर आधारित हो या प्रेम के लिये हो और जिसमें बच्चों के देख-भाल करने की सम्भावना हो परिवार का सच्चा आधार है।

परिवारिक जीवन और उसका विकास—मनुष्य और समाज का जन्म एक रहस्यमय बात है। ठीक से तो यह भी नहीं बतलाया जा सकता है कि परिवार का प्रादुर्भाव कैसा हुआ। केवल यह अवश्य कहा जा सकता है कि परिवार का विकास बहुत पहले हुआ होगा। कुछ समय पूर्व विद्वानों का यह मत था कि परिवार सबसे प्राचीन समाजिक इकाई है। आधुनिक खोजों ने इस धारणा को भ्रमपूर्ण प्रमाणित कर दिया है। प्राचीनतम समाजिक इकाई जिससे आज हम परिचित हैं 'टोटम' था। उसी के टूटने से क्रमशः कबीले, जातियां, कुल, कुनबे और परिवार बने।

विवाह को एक पवित्र बन्धन मानकर नर-नारी के मिलन को स्थायित्व देने के प्रयत्न किये गये। धर्म, समाज और कानून के द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के प्रयत्न किये गये। समय की प्रगति के साथ अब समाज और धर्म के बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं और उनका स्थान कानून लेते जा रहे हैं।

परिवार का धार्मिक पक्ष—प्राचीन समय से ही विवाह-कृत्य एक धार्मिक बन्धन माना जाता रहा है। इसका कारण स्पष्ट है। प्राचीन काल में अन्य किसी दृढ़ बन्धन के अभाव में किसी बात को मनवाने के लिये धर्म का रूप देना होता था। यही विवाह के सम्बन्ध में भी हुआ। विवाह को दो आत्माओं का बन्धन कहा गया। उसे एक ऐसा आत्मिक बन्धन बताया गया तो स्थायी है। यह कहा गया कि यह बन्धन इस जगत का ही नहीं परलोक का भी होता है। क्योंकि यह आत्मिक बन्धन है, अतएव भाग्य का इसमें प्रबल हाथ माना गया। इस भाग्य का निपटारा ज्योतिषी लोग जन्मपत्र (Horoscope) मिला कर करते थे। अब भी ग्रामीण लोगों और पुराने विचारों के लोगों में ऐसी प्रथा प्रचलित है।

प्राचीन समय में परिवार एक सामान्य पूजा का स्थान भी होता था और आज भी कुछ सीमा तक यह सत्य है। हिन्दुओं में प्रथम पुत्र को धर्मपुत्र कहा जाता है क्योंकि उसके बिना उसके पितरों को मुक्ति नहीं मिलती। आधुनिक समय में परिवार का यह धार्मिक पहलू निर्बल पड़ता जा रहा है। विधवा-विवाह, तलाक इत्यादि ने धार्मिक विश्वास को ठोकर लगा कर चकनाचूर कर दिया है। फिर भी परिवार आज भी एक महत्वपूर्ण धार्मिक इकाई है।

परिवार : एक छोटे राज्य के रूप में—परिवार को कुछ बातों का ध्यान रखते हुये एक छोटे आकार में राज्य कहा जा सकता है।

परिवार की और राज्य की समस्यायें एक ही प्रकार की हैं। नियन्त्रण और आज्ञा पालन का प्रश्न परिवार में भी उठता है। परिवार में भी यह समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या बच्चे को पिता-माता की आज्ञा या इच्छा का विरोध करने का अधिकार है? क्या बच्चे के परिवार में कोई अधिकार और कर्तव्य हैं? किस प्रकार व्यक्ति पारवारिक भलाई और व्यक्तिगत भलाई में सामजस्य स्थापित करें? परिवार की आय किस प्रकार व्यय की जाय आदि? एक अच्छा परिवार का सदस्य एक अच्छे नागरिक के समान है। पिता परिवार में एक निरंकुश शासक अथवा एक वैधानिक प्रधान हो सकता है। माता एक सलाहकार के समान कार्य करती है और बच्चे इस छोटे से राज्य में प्रजा की भांति होते हैं। परिवार का उद्देश्य भी समष्टि की भलाई और व्यक्तित्व का अधिकतम विकास है। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवार भी एक प्रकार से राज्य का छोटा रूप है। किन्तु इस साम्य के अर्थ यह नहीं है कि दोनों हर तरह से एक हैं। फिर भी इसी समता के आधार पर परिवार को 'शासन-कला की शिक्षण-भूमि' कहा गया है।

III परिवार के कार्य और उसका महत्व

परिवार के कार्य कई प्रकार के हैं। कोई भी शायद ही ऐसा क्षेत्र हो जिसमें परिवार अपने सदस्यों के व्यक्तित्व के विकास में सहायता पहुंचाने के लिये प्रयत्न न करता हो। परिवार ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य का जीवन सामाजिक बन जाता है। वस्तुतः परिवार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समुदाय है जो व्यक्तिगत और सामाजिक हित के लिये अत्यन्तावश्यक है। इसके कार्यों पर एक दृष्टि डालने से ही इसके महत्व और उपादेयता का आपको पता लग जायगा। इन कार्यों पर एक एक करके नीचे विचार किया जायगा।

(१) शिशु-पालन—आप देख ही चुके हैं कि सन्तान की देखभाल करना, उसे बड़ा करके मनुष्य बनाना परिवार का मुख्य कार्य है। सन्तानोत्पत्ति मनुष्य और अन्य सभी जीवों का स्वाभाविक कर्म है और परिवार के ऊपर यह उत्तरदायित्व आ पड़ता है कि बच्चों का ठीक से लालन-पालन हो जिससे मानव-समाज निरन्तर अपनी वृद्धि और उन्नति कर सके। यह कार्य किसी अन्य प्रबन्ध द्वारा इतनी खूबी के साथ सम्पन्न नहीं हो सकता। माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति जो स्वाभाविक ममता और उनके लिये सर्वस्व-त्याग की जो भावना होती है उसका अन्यत्र होना दुर्लभ है। उनका अकृत्रिम प्रेम उन्हें बच्चों के लिये सब कुछ न्योछावर कर देने के लिये विवश कर देता है। इसी लिये परिवार की कमी कोई पूरा नहीं कर सकता। परिवार का यह कार्य ही इतना महत्वपूर्ण है कि परिवार को मानव संगठनों में एक अद्वितीय स्थान दे देता है।

(२) शिक्षण और परिष्करण—परिवार बच्चों का पालन ही नहीं करता बल्कि उनको शिक्षित, सुसंस्कृत और परिष्कृत भी करता है। बचपन में शिशु का मस्तिष्क बहुत कोमल होता है। उस समय जो उस पर प्रभाव पड़ जाता है वह उसके मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है। यह जीवन का 'बीज-काल' होता है। इसी समय की शिक्षा उसके जीवन को बना या बिगाड़ सकती है। आदत, जिनको मनुष्य का 'दूसरा स्वभाव' कहा गया है इसी समय बन जाती हैं। उस समय का कोमल मस्तिष्क धीरे-धीरे जब इस्पात या चट्टान के समान कठोर बन जाता है तो वह बदल नहीं पाता। कहावत प्रसिद्ध है कि एक वृद्ध को आप आदत नहीं बदल सकते : वह जैसा करता आया है, वैसा ही करता रहेगा। बचपन में ही यदि अच्छी आदतें पड़ गईं तो आगे चल कर बच्चा हीरा और नागरिक बन सकता है। छत्रपति शिवाजी के विषय में

कहा जाता है कि उनकी शिक्षा की पक्की जड़ें उनकी माताजी ने ही शैशव काल में जमादी थीं। और अबतो इसबात को सभी स्वीकार करते हैं कि बच्चों की सर्वोत्तम शिक्षक उसकी माँ होती है। वह बच्चे के मस्तिष्क पर बिना जोर डाले उसे ज्ञान और संस्कृति से अभिज्ञ कर सकती है। एक सुन्दर ढंग से सुनाई गई अच्छी कहानी बच्चे के हृदय पर सीधा असर डालती है और सदा के लिये एक प्रेरक शक्ति बन जाती है। इसी कारण परिवार को 'सामाजिक गुणों का पालना' कहा गया है। इटैलियन राष्ट्र निर्माता मेजिनी ने एक बहुत सुन्दर बात कह दी थी कि "माँ के प्यार और पिता की देखभाल में बच्चा नागरिकता के पहले पाठ पढ़ता है।" महापुरुषों की जीवनियाँ इस सत्य का भली भाति उद्‌घाटन करती हैं।

परिवार बच्चों को सच्ची संस्कृति से भी परिचित कराता है। संस्कृति से तात्पर्य होता है "जनता की भावनाओं के परिष्कृत प्रकाशन से।" इस प्रकार की परिष्कृत भावनाओं का विकास परिवार के प्रेम पूर्ण वातावरण में होकर सामाजिक जीवन में भी दृष्टिगोचर होता है। साथ ही व्यक्ति परिवार की परम्पराओं को आत्मसात कर उनका प्रकाशन करता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि बच्चे किसी भी परिवार की संस्कृति के द्योतक होते हैं।

(३) नैतिक और धार्मिक कार्य—आप यह देख ही चुके हैं कि परिवार में बचपन से ही व्यक्ति किस प्रकार धार्मिक कृत्य होते देख धार्मिक प्रवृत्ति का बन जाता है। माँ बाप और बच्चों के प्रेममय वातावरण में स्वार्थ त्याग और कर्तव्य पालन की जो भावना विद्यमान रहती है वह उनका बहुत अध्यात्मिक और नैतिक विकास कर देती है। परिवार से प्राप्त यही गुण उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। इसी बात का ध्यान रखते हुये यह कहा गया है कि परिवार के माध्यम द्वारा

ही व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन के रूप में परिणित हो जाता है। इंगलिश विद्वान बर्क ने कहा भी है कि "हम अपने सार्वजनिक स्नेहों को अपने परिवारों में प्रारम्भ करते हैं। कोई भी शुष्क संबंधी जोशीला नागरिक नहीं हो सकता। वहां से हम पड़ौस के और प्रांतीय सम्बन्धों की ओर बढ़ जाते हैं। ये हमारी सरायें और विश्राम-स्थल हैं..... समष्टि के प्रति प्रेम इन छोटे मोटे झुकावों से नष्ट नहीं हो जाता। सम्भवतया यह तो एक प्रकार से उन ऊँची और बड़ी बातों के लिये प्राथमिक शिक्षा मात्र है जिनको मनुष्य राज्य की समृद्धि के लिये, अपने स्वयं के कारबारों के समान ही, महत्वपूर्ण समझते हैं।" प्रसिद्ध विद्वान कामते ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए कहा है: "देश या नगर के प्रति प्रेम विकासित होने के बहुत पूर्व पारिवारिक भावना आ जाती है..."। इस प्रकार आपने देखा कि परिवार एक ऐसी ठोस नैतिक नींव तैयार कर देता है जिसके आधार पर अच्छी नागरिकता की इमारत खड़ी की जा सकती है।

(४) आर्थिक-कार्य-परिवार का एक महत्वपूर्ण आर्थिक पक्ष और कार्य भी है। बच्चों की देखभाल का काम प्रारम्भ में पूर्णतया माताओं पर ही पड़ जाता है और पिता को बच्चे और उसकी माँ के पालन-पोषण का भार उठाना पड़ता है। यह उत्तरदायित्व विभिन्न देशों और सम्प्रदायों में एक समान नहीं है, फिर भी है सभी स्थानों पर कुछ न कुछ।

यही नहीं परिवार की सम्पूर्ण आय एक स्थान पर एकत्रित होती है और समूचे में से आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है। परिवार की आर्थिक कार्यवाहियों का उद्देश्य समूचे परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो जितनी आय लाता है उसी के अनुपात से उस पर खर्च भी किया जाय। सब शक्ति के

अनुसार कमाते हैं और आवश्यकतानुसार खर्च करते हैं। इस प्रकार परिवार हमें आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता, मितव्ययता और आत्म-त्याग का पाठ पढ़ाता है। सम्पति सामूहिक होती है। अतएव भूमि या सम्पत्ति के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं होते। वृद्धावस्था, बीमारी और बेकारी के समय परिवार से आश्रय मिलता है। परिवार एक प्रकार से उनका सामाजिक बीमा कर लेता है। इन बातों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि हमारी सयुक्त परिवार प्रथा प्रारम्भिक साम्यवाद की एक संस्था कहा जा सकता है। किन्तु यह एक रूपक मात्र है, उससे अधिक कुछ नहीं।

हमारे देश में परिवार ने एक और भी कार्य किया। पुराने ज़माने में व्यवसाय प्रायः पैतृक होते थे। इस प्रथा ने कुशलता को बनाये रखने में बहुत सहायता की। परिवार वालों को व्यवसाय के समस्त भेद बता देने में कोई बाधा नहीं होती और इस प्रकार का प्राप्त किया हुआ अनुभव बहुत काम आता था। किन्तु अब यह कार्य महत्वपूर्ण नहीं रहा। आद्योगिक क्रांति ने शिल्पकारी को लाभप्रद नहीं रक्खा अतएव उन्होंने अब पैतृक व्यवसाय छोड़ दिये हैं।

(५) मनोरंजनात्मक कार्य—परिवार मनोरजन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र होता है। वह बच्चों को साथ खेलने के लिये खिलाड़ी जुटाता है जिससे खेल-कूद में हँसी-खुशी समय बिता सकें। दिन भर के हारे-थके पुरुष जब सायंकाल घर आकर बच्चों को किलकारी भरते और उछल कूद करते देखते हैं तो उनकी भी सारी थकान मिट जाती है और मन प्रमुदित हो जाता है। बच्चे स्वयँ माता-पिता के लिये खिलौने-सदृश होते हैं जिनको खिलाकर वे स्वयं अपना भी जी बहलाते हैं। प्यार, आराम और प्रसन्नता की इस छोटी सी दुनियां में न जाने कैसे समय बीत जाता है। इसी कारण सुखद परिवारिक जीवन के स्वर्गिक आनन्द की इतनी प्रशंसा की गई है।

(६) नागरिकता का पाठ–परिवार 'नागरिकता की शिक्षा-भूमि है'। परिवार ही बच्चोंमें इन गुणों,प्रवृत्तियों और भावनाओं का विकास करता है जो अच्छे नागरिक की परिचायक हैं। परिवारके माध्यम से ही व्यक्ति सामाजिक बनता है। इस कारण परिवार को 'सामाजिक गुणों की अमर पाठशाला' भी कहा गया है। नीचे हम इनमें से कुछ मुख्य गुणों पर विचार करेंगे।

(क) परिवार में प्रेम और सहानुभूति का एक सुन्दर वातावरण रहता है। स्नेह का बन्धन स्वभावतः ही परिवार में घनिष्ट होना ही चाहिये। पति-पत्नी का प्रेम जितना अटूट और गहरा होता है उतना अन्य स्थानों पर दुर्लभ है। यह दो हृदयों और आत्माओं के मिलन का अनुपम उदाहरण है। बच्चे भी परिवार वालों की ममता और स्नेह के केन्द्र होते हैं। बचपन से ही व्यक्ति के मन पर प्रेम और सहानुभूति की जो छाया पड़ती है वह उसमें भी वैसे ही भाव भर देती है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है वह माँ–बाप के निस्वार्थ प्रेम को समझता है और स्वयं भी ऐसा ही भावनाओं को अपनाकर दूसरों के जीवन पर प्रेम और सहानुभूति की वर्षा करता है।

(ख) परिवार की व्यवस्था पारस्परिक सहयोग और सहायता पर ही आधारित है। इनके बिना घर का काम चल ही नहीं सकता। स्त्रियां घर का काम सम्हालती हैं, पुरुष आय कर जीविका के साधन जुटाते हैं और मिलकर बच्चों की देख-भाल करते हैं। बच्चे स्वयं मिल-जुल कर खेलते और बड़े होकर बड़े-बूढ़ों की सहायता करते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनमानी करे तो कुछ भी न हो सके। सहयोग की यह भावना शैशवावस्था से ही बच्चों के मन पर यह भाव जमा देती है कि 'सहयोग ही जीवन की कुंजी है'। समय पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता से ही काम चलाना होता है। समय आने

पर सहयोग की यह प्रवृत्ति व्यक्ति को अनेक समुदायों का सदस्य बना देती है। (ग) परिवार में रहकर व्यक्ति में सहिष्णुता और दूसरों की बात ठीक से समझने की आदत भी पड़ जाती है। सहिष्णुता एक आवश्यक गुण है। मत-विभिन्नता के कारण यदि कोई अपना सतुलन खो बैठे और अशिष्ट भाषण करने लगे तो वह अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। परिवार में इस प्रकार की सहिष्णुता का विकास हो जाता है। इसके साथ ही दूसरों की बात को समझने की भी आदत आ जाती है जिससे व्यर्थ झगड़े न हों। साथ ही इतनी सहनशीलता भी पैदा हो जाती है कि यदि कोई नासमझी की बात कर बैठे तो उसे क्षमा कर दिया जाय। इन गुणों के अभाव में पारिवारिक जीवन सघर्षमय बन जाता है। प्रेम और सौन्दर्य के प्रतीक होने के स्थान पर परिवार 'कलह के क्षेत्र' बन जाते हैं। इसलिये समझदार व्यक्ति बच्चों में इन गुणों को विकसित करने का बहुत ध्यान देते हैं। परिवार के सदस्यों में जो एकदूसरे से प्रेम-सूत्र में बधे होते हैं यह सरल बात है। किन्तु यही गुण सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण बन जाता है। (घ) परिवार में बच्चों में आदर, आज्ञा-पालन और अनुशासन के भाव भी आसानी से विकसित हो जाते हैं। वह मा-बाप का आदर करता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है और उनकी बात मानता है। वह बराबर वालों के साथ समानता का बर्ताव करता है, छोटे से स्नेह-भाव रखता है। छोटे उसका आदर करते हैं। पारिवारिक जीवन की ये बातें आगे चलकर एक स्थायी छाप छोड़ जाती हैं और व्यक्ति यह समझ जाता है कि उसे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये। उसे जो काम सौंपे जाते हैं उन्हें वह पूरा करता है और इस प्रकार उसे कर्तव्य-पालन की प्रेरणा मिलती है। उसे बताया जाता है कि उत्तर-दायित्व को निभाना उसका कर्तव्य है, उनसे बच निकलने के प्रयत्न

नहीं करने चाहिये। यही बातें उसके नागरिक जीवन का सच्चा आधार बन जाती हैं। (ङ) परिवार में ही व्यक्ति सेवा और त्याग की भावनायें विकसित करता है। परिवार निस्वार्थ प्रेम और त्याग का बच्चे के सन्मुख एक ऐसा उदाहरण रखता है कि बच्चे दूसरों के प्रति भी वही भाव बनाने की सीख ले लेते हैं। मां-बाप अपनी सन्तान के ज़रा से कष्ट-निवारण के लिये कितने बेचैन हो उठते हैं और कितने कष्ट स्वयं उठाने को तत्पर हो जाते है यह एक आम अनुभव की बात है। मां-बाप को उससे कोई लाभ नहीं होता। वस्तुतः व्यक्तिगत हानि और लाभ का तो उनके सन्मुख कोई प्रश्न ही नहीं उठता, उनके सामने तो अपने लाल के हित की बात ही आती है। बच्चे अपने इस अनुभव को व्यर्थ नहीं जाने देते। वे इनको अपने नागरिक जीवन में व्यवहार में लाकर अपनी शैशवावस्था की शिक्षा का परिचय देते हैं। समय पर सेवा और त्याग की यह भावना फल लाती है और जन-सेवा के रूप में सामने आती है।

इन बातों ने यह स्पष्ट कर दिया होगा कि परिवार नागरिकता के गुणों को विकसित करने का स्वाभाविक और सर्वोत्तम साधन है। इसी में बच्चे नागरिकता और सफल नागरिक जीवन की शिक्षा पाते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाता है कि परिवार 'सामाजिक जीवन का आधार है'। सचमुच परिवार के महत्व और उपयोगिता को कभी बढ़-चढ़ कर नहीं बताया जा सकता। वह मानव-जाति को जीवित बनाये रखता है, एक महत्वपूर्ण नैतिक, धार्मिक, आर्थिक और मनोरंजनात्मक इकाई है, एक महत्वपूर्ण शिक्षण संस्था है और उन सभी गुणों का विकास करता है जो जीवन को सुखमय बनाते हैं।

IV पारिवारिक जीवन की समस्यायें

वफादारी की समस्या—सब से पहले जो समस्या सामने आती

है वह है परिवार के प्रति वफादारी की। पारवारिक जीवन से इतना निकट सम्पर्क रखता है कि उसके प्रति व्यक्ति का लगाव बहुत प्रगाढ़ होता है। अपनी गृहस्थी ही हमारी सारी सहानुभूति को घेर लेती है और परिणाम स्वरूप अन्य कर्तव्य और उत्तरदायित्व भूल जाते हैं। यह बहुत गम्भीर खतरा है क्योंकि इससे सामाजिक भलाई और मानवहित के मार्ग में बाधा पड़ती है। इसके कारण नागरिक का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो जाता है और वह 'घर का कीड़ा' बन कर रह जाता है।

यह ठीक है कि पारवारिक जीवन की अपनी विशेषतायें, आवश्यकताएँ और उत्तरदायित्व हैं जिनके ऊपर उसके सदस्यों को ध्यान देना चाहिए। यह भी सत्य है कि परिवार के साथ लगाव साधारण समुदायों से अधिक होना भी है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम परिवार में ही या उसी के लिये अपने को घुला दें। परिवार उसके लिये वहीं तक ठीक है जहा तक वह व्यक्ति के उच्च विकास में सहायता पहुंचाता है किन्तु वह समाज से बड़ा तो नहीं हो सकता। अतएव जब कभी समाज के बड़े हितों और पारवारिक हितों में विरोध हो तो समाज को ही प्रधानता दी जानी चाहिये। परिवार का व्यक्ति की सम्पूर्ण वफादारी का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह अनाधिकार चेष्टा है। इससे भाई-चारे की सीमा विस्तृत नहीं हो पाती। यह व्यक्तियों के स्नेह और परिश्रम के एक बहुत बड़े भाग को स्वय अपना लेता है जो अन्यथा बाहरी ससार को जाता। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम परिवार के प्रति तो वफादार रहें किन्तु अन्य समुदायों के दावे को न भुला दें। व्यक्ति को अपने उत्तरदायित्वों में ठीक से सामंजस्य स्थापित करना चाहिये।

सफल पारवारिक जीवन के मार्ग में बाधायें—आजकल परि-

वारों में घर-घर जो कलह और संघर्ष दिखलाई दे रहा है संक्षेप में हम यहां उसके कारणों पर विचार करेंगे।

(१) शिक्षा और समझ का अभाव—सबसे बड़ी बात तो समझदारी का न होना है। विशेषतया स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी न होने से छोटी-मोटी बातों में लड़ बैठती हैं। सहन-शीलता और समझौते की प्रवत्ति का अभाव होने से बात-बात पर झगड़े प्रारम्भ हो जाते हैं और जीवन नरक तुल्य बन जाता है। (२) निर्धनता—निर्धनता एक बड़ा अभिशाप है। यदि परिवार के पास जीवन-निर्वाह के यथेष्ट साधन नहीं तो उसका स्वाभाविक परिणाम कलह के रूप में होगा। अतएव इस बात का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिये कि परिवार सम्पन्न रहे। (३) अकर्मण्यता—परिवार में अकर्मण्यता का होना बहुत दुखदायी है। इससे परिवार की आय घटती है, उत्तरदायित्व हीनता बढ़ती है और एह-कलह होने लगता है। इसलिये यह उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ काम करे। (४) उत्तरदायित्व हीनता—यदि जो काम किसी को सौंपा जाता है, वह उसे पूरा नहीं करेगा तो परिवार में कठिनाई आ उपस्थित होगी। परिवार सहयोग पर आधारित है और तभी-तभी ठीक चल सकता है जब तक सभी व्यक्ति ईमानदारी से अपना कर्तव्य पूरा करें। (५) सामाजिक प्रवृतियों का अभाव—कहते हैं कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। इसी प्रकार यदि परिवार में एक भी व्यक्ति ऐसा है जो ठीक से सहयोग नहीं करता, जिसमें त्याग और सेवा-भाव नहीं है और जो असहिष्णु है तो पारिवारिक जीवन दुखमय हो जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी को सतुष्ट और प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया जाय किन्तु किसी की बुरी आदतों को प्रोत्साहित न करके उन्हें प्रारम्भ में ही दबा दिया जाय। नहीं तो बात बढ़कर अशांति का कारण बन बैठती है।

सुखमय पारिवारिक जीवन के लिये यह आवश्यक है कि सभी व्यक्ति शिक्षित और समझदार हों, वे सहयोग, सहनशीलता से काम लें, प्रेम-मय वातावरण रक्खे, कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य अथवा कर्तव्य विमुख न हो और उनके पास इतना धन हो कि खर्च में तंगी न हो।

V अन्य सम्प्रदाय

परिवार के पश्चात् स्थान का नम्बर आता है। यह स्थान गाँव, कस्बा या नगर हो सकता है। गांव एक ऐसी छोटी बस्ती का नाम है जिसके अधिकांश निवासी खेती-बाड़ी में लगे हों। प्राचीन भारत में गाँव स्थानीय स्वराज्य की एक महत्वपूर्ण इकाई थे। गावों में एक सामान्य जीवन था। ग्रामवासी मिल-जुलकर रहते थे और ग्राम-पंचायतें ग्रामीण मामलों की देख-भाल करती थीं। अँगरेजों के आने पर यह सब बदल गया। पर वे गावों की कोई उचित व्यवस्था न कर सके। अतएव गाव अशिक्षा, बीमारी और अनुदारता के केन्द्र बन गये। उनसे लगान तो बहुत अधिक लिया जाता है पर उनकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इन्हीं दिनों इस ओर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है पर अभी तक कोई योजना कार्य रूप में परिणित नहीं की गई। गाँवों से कस्बों और नगरों की दशा फिर भी अच्छी है। ये संस्कृति, राजनीति, मनोरंजन, स्वशासन और आर्थिक कार्यों के केन्द्र होते हैं। इसकी तुलना में गाँवों का महत्व जाता रहा है। स्वर्गीय रवींद्र नाथ ठाकुर के शब्दों में जहां वे नगरों की दुलहिन थे अब दासी बन गये हैं।

इनके बाद अगला सिलसिला प्रांतों (Provinces) का आता है। वर्तमान प्रांत भाषा अथवा संस्कृति के आधार पर नहीं बने। इन्हें अंगरेजों ने अपनी सुविधानुसार जैसा चाहा बना लिया है। इसलिये

प्रांतों के पुनर्संगठन की मांग उठाई जा रही है। माँग तो बहुत उचित है पर धार्मिक साम्प्रदायिकता ने इसके मार्ग में कठिनाइयाँ डाल रक्खी हैं। संघ-शासन में अच्छा हो यदि प्रांतों का कोई न्यायसंगत आधार हो जिससे एक ही भावना को लिये हुये व्यक्ति अपनी पृथक इकाई बना सकें। पर हमें प्रांतीयता के विष से सतर्क रहने की आवश्यकता होगी। प्रान्त के प्रति प्रेम बुरा नहीं होता पर उसे देशहित के सम्मुख ऊंचा स्थान देना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

प्रांत के बाद देश आता है। देशप्रेम (Patriotism) यानी अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम एक पुरानी भावना है किन्तु इसके अर्थ के संबंध में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग तो उचित-अनुचित पर ध्यान दिये बिना देश को शक्तिशाली तथा धनवान बनाना ही सच्ची देश-भक्ति मानते हैं पर अन्य लोग कहते हैं कि देशप्रेम की यह व्याख्या संकीर्णता को पोषक है। हेगेल के अनुसार देशप्रेम के साथ विवेक-बुद्धि भी होनी चाहिये। केवल अपने देश का ही ध्यान नहीं रखना चाहिये वरन् मानव-जाति के कल्याण की बात सोचनी चाहिये।

मानव-जाति ही सबसे बड़ा और पूर्ण स्तर है। यह अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। कुछ समय पूर्व मानव जाति या मानव समाज की बात करना केवल आदर्शवादियों और काल्पनिकों का काम था। लेकिन बीसवीं शताब्दी की घटनाओं और अविष्कारों ने इसे वास्तविक बना दिया है। वर्तमान समय में विज्ञान ने इतनी उन्नति की है कि दुनियाँ अब एक हो गई है। पहले अपने देश के अन्दर ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना दुःसाध्य था पर आज आप चाहे कहीं सुगमतापूर्वक पहुँच सकते हैं; पहले अपने इष्ट-मित्रों के समाचार कठिनाई से मिल पाते थे पर आज आप यहीं से संसार के किसी भाग में बैठे व्यक्ति से बातें कर सकते हैं; पहले आपको अपने स्थान में बनी

चीज़ों से संतोष करना पड़ता था पर आज आप संसार के विभिन्न स्थानों में तैयार किये हुए माल को खरीद कर काम में ला सकते हैं और अकाल पड़ जाने पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कैनेडा का गेहूँ आपको प्राप्त हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि विज्ञान ने दूरी को कम करके आपको आज एक दूसरे के अत्यन्त निकट सम्पर्क में ला दिया। संसार के किसी भी हिस्से में होने वाली आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का आप पर प्रभाव पड़ता है। आप उनसे अछूते नहीं रह सकते।

पिछले तीस वर्ष में होने वाले दो विनाशकारी युद्धों ने आज यह स्पष्ट कर दिया है कि शांति अविभाज्य है। पहले युद्ध के पश्चात् देशों ने मिलकर राष्ट्र-संघ बनाया। पर वह असफल रहा क्योंकि अभी तक एकता की आवश्यकता और सामूहिक कार्य की सफलता पर राजनीतिज्ञों का विश्वास न था और न वे अपने स्वार्थों को संसार के हित के लिये छोड़ने को तत्पर थे। परिणाम उसका हुआ द्वितीय युद्ध। इस युद्ध के फलस्वरूप कुछ परिवर्तन अवश्य हुये हैं किन्तु अभी तक समय की चाल को पूरी तरह समझा नहीं गया। राष्ट्रों ने अभी भी यह नहीं माना कि यह विश्वबन्धुत्व का युग है और सभी देशों और राष्ट्रों के साथ न्याय और समानता का बर्ताव होना चाहिये।

नागरिक के कर्तव्य भी अब स्थानीय राष्ट्रीय न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सार्वभौमिक हो गये हैं। सच्चा सुधार तभी सम्भव है जब सभी नागरिक इस बात के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ हो जावें कि वे कोई भी ऐसा काम न होने देंगे जो न्याय और समानता के सिद्धान्त के अनुकूल न हो। अन्धी देश भक्ति और राष्ट्रीयता हमें दो बार विनाश के समीप ले गई हैं जिनसे हम बाल-बाल बच सके हैं। यदि हम समय रहते चेत गये तो ठीक है नहीं तो विनाश निश्चित है। यह चेतना

तभी उत्पन्न हो सकती है जब प्रत्येक नागरिक उचित सामाजिक व्यवहार के नियमों को समझ कर उन पर कार्य करे।

सम्प्रदायों के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध—आपने देखा कि मनुष्य का इन सभी सम्प्रदायों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य गाँव या नगर, प्रांत, देश, संसार सभी का सदस्य है। सभी के प्रति उसके कर्तव्य हैं और सभी के हित का उसे ध्यान रखना होता है। प्रश्न यह उठता है कि यदि इनके हितों में विरोध आ पड़े तो नागरिक को क्या करना चाहिये?

यह ठीक है कि गांव या नगर नागरिक से सबसे अधिक निकट है और इस कारण उसके हित के प्रति उसके ममत्व का अधिक होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। परिवार गाँव से भी अधिक निकट है और उसके प्रति जो लगाव होता है उसकी समता तो की ही नहीं जा सकती। जैसे-जैसे बड़े सम्प्रदाय क्रमशः उससे दूर होते जाते हैं उसका स्वाभाविक झुकाव भी उतना ही कम होता है। किन्तु यह भावना स्वाभाविक होने पर भी उचित नहीं है। यदि नागरिक छोटे-छोटे हितों पर अधिक ध्यान देकर बड़े हितों की अवहेलना करेंगे तो सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि बड़े हित में छोटा हित भी सम्मलित है इसलिये बड़े हित को ही प्रधानता दी जानी चाहिये। परिवार का हित स्थानीय हित के सन्मुख कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार प्रांत के आगे देश के हित, और देश के आगे समूचे विश्व के प्रति जो कर्तव्य है उसको प्रधानता दी जानी चाहिये। प्रान्तीयता देश-हित के सामने त्याज्य है और देशभक्ति मानवहित के आगे छोड़ देने योग्य है। यही सामाजिक व्यवहार का मोटा सिद्धान्त है।

यहाँ जब हम विभिन्न सम्प्रदायों के हित की बात कह रहे हैं तो हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि आप आंखें मूंद कर दूसरों का अनुकरण

करें। आपको इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि समाज का चरम ध्येय व्यक्ति, समाज और मानवता की उन्नति है और आपका कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये जो इस ध्येय के विरोध में आवे। इनमें मानवता प्रमुख है। यदि देश की उन्नति मानवता के मार्ग में बाधा बन कर आती है तो ऐसी उन्नति कभी सच्ची उन्नति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि व्यक्ति की उन्नति देश की प्रगति में बाधक होती है तो देश के हित को ही प्रधानता देना उचित है। पर इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है अथवा वह समाज के लिये एक साधन मात्र है। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थ देश-हित में बाधा बनकर न आना चाहिये। किन्तु जहां व्यक्तित्व अथवा आत्मा का प्रश्न उठ खड़ा होता है वहां दुनियां अथवा समाज चाहे एक ओर हो व्यक्ति को अपनी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य न करना चाहिये फिर चाहे उसके लिये उसे बड़ी से बड़ी तकलीफें क्यों न झेलनी पड़ें। उसमें इतना आत्मबल होना चाहिये कि हँसते-हँसते अपने को आदर्श के लिये कुर्बान करदे।

——oo——

पाँचवाँ अध्याय

राज्य और राष्ट्र

राज्य एक मनुष्यों का समूह है जिसका उद्देश्य सामान्य जीवन की उन्नति है। अन्य समुदायों के समान यह भी एक समुदाय है।'''दूसरों से इसमें यह भेद है कि इसकी सदस्यता इसके क्षेत्र में रहने वालों के लिये अनिवार्य है और अन्त में यह अपनी प्रजा द्वारा उत्तरदायित्वों को ज़बरन पूरा करा सकता है।

—हेरोल्ड जे. लास्की

I राज्य क्या है ?

ऊपर आपने देखा कि राज्य एक राजनीतिक समुदाय है। किंतु अन्य समुदायों के समान यह एक साधारण राजनीतिक समुदाय नहीं है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समुदाय है। इसकी सदस्यता अनिवार्य होती है क्यों कि उसे स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है। इसका उद्देश्य भी सीमित न होकर सामाजिक उन्नति है और इसके प्रयत्नों पर व्यक्ति और समाज की भलाई बहुत कुछ निर्भर है। नीचे हम इसके अर्थ, तत्वों, परिभाषा आदि पर विचार करेंगे।

राज्य की विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न२ परिभाषायें दी गई हैं। सभी ने राज्य की अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। फिर भी सभी विद्वान इस विषय में एकमत हैं कि राज्य एक मनुष्यों का समुदाय है। बिना मनुष्यों के राज्य नहीं हो सकता। किन्तु इतना कहने से ही बात समझ में नहीं आती

क्यों कि हम देख चुके हैं कि मनुष्यों के तो अनेक समुदाय हैं। फिर राज्य में विशेषता क्या है? क्या खानाबदोश, कबीले या ज़हाज में यात्रा करने वाले व्यक्तियों का भी राज्य होता है? उनके पास एक ऐसा निश्चित भूभाग होना चाहिये जिसे वह अपना कह सकें। पर अभी भी राज्य की कल्पना पूरी नहीं होती क्यों कि एक निश्चित भूभाग पर बसने वाले प्रत्येक मानव-समुदाय का राज्य नहीं होता। उदाहरण के लिये उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के आज़ाद कबीलों का अपना कोई राज्य नहीं है। राज्य कहे जाने के लिये उस समुदाय का राजनीतिक संगठन भी होना चाहिये। किन्तु इन तीनों तत्वों के रहने पर भी राज्य का होना, आवश्यकीय नहीं है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष, काश्मीर, हैदराबाद, संयुक्त प्रान्त, हिन्द-चीन को ही ले लीजिये। इनमें ये तीनों ही बातें मिलती हैं फिर भी वे राज्य नहीं हैं। कारण यह है कि ये देश पूर्णतया स्वाधीन नहीं हैं और जब तक कोई देश स्वाधीन न हो वह राज्य नहीं। कहला सकता – तो राज्य का चौथा तत्व है स्वाधीनता। इसके दो पक्ष हैं: आंतरिक एकता और वाह्य स्वाधीनता वाह्य रूप में वह किसी अन्य राज्य के आधीन नहीं होना चाहिये और देश के अन्दर कोई भी ऐसी सत्ता नहीं होनी चाहिये जो उसकी प्रभुता स्वीकार न करती हो। जब किसी स्थान पर यह चारों ही तत्व वर्तमान हों तभी उसे राज्य कहा जा सकता है अन्यथा नहीं।

इन तत्वों के आधार पर आप राज्य की एक परिभाषा दे सकते हैं। राज्य स्थायी रूप से एक निश्चित भूभाग पर बसने वाले मनुष्यों के स्वाधीन संगठन को कहते हैं। डा० गार्नर (Garner) ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है: राज्य मनुष्यों के एक ऐसे समुदाय को कह सकते हैं जो स्थायी रूप से एक निश्चित भूभाग पर निवास करता हो, जो वाह्य नियंत्रण से लगभग या पूरी तरह स्वतन्त्र हो, जिसकी

एक ऐसी सगठित सरकार हो जिसकी आज्ञा का पालन स्वाभाविक रूप से निवासियों का एक बड़ा भाग करता हो ११ । प्रेसीडेन्ट वुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) के अनुसार 'एक निश्चित प्रदेश में नियम-पालन के लिये सङ्गठित जनता' को राज्य कहा जा सकता है। ब्लटश्ली (Bluntschli) के अनुसार 'एक निश्चित प्रदेश में राजनीतिक रूप से सगठित जनता' का नाम ही राज्य है। ट्रीटस्की (Trietschke) के अनुसार 'राज्य शक्ति है'। आदर्शवादियों के अनुसार राज्य 'व्यक्ति के अध्यात्मिक जीवन का माध्यम है'। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य 'शोषक वर्ग की कार्यकारिणी सीमित' है। समाजवादियों के अनुसार वर्तमान राज्य 'एक वर्ग का अन्य वर्गों को अधिकार में रखने के लिये सगठन है'।

इनमें से कई परिभाषाओं में राज्य के सभी तत्वों पर विचार नहीं किया गया। कुछ विचारकों ने तो परिभाषा देने के स्थान पर राज्य के प्रति अपने विचार भर प्रगट कर दिये हैं। पिछली चारों परिभाषायें इसी प्रकार की हैं। इसलिये राज्य के तत्वों को समझने में हमें वे कोई सहायता नहीं देतीं। वुड्रो विल्सन की परिभाषा में नियम-पालन का जिक्र है किन्तु स्वाधीनता का नहीं, अतएव यह भी मान्य नहीं हो सकती। ब्लंटश्ली का अपना मत यह था कि राज्य सत्ता (Sovereignty)

---

११ देखिये Garner, **Poettical Scence and Government.** p. 52. It is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite territory, independent or nearly as of external control, and possessing and organised government to which a great body of inhabitants render habitual obedience;

या स्वतन्त्रता राज्य के लिये आवश्यक नहीं है। किन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। नहीं तो स्थानीय बोर्ड भी राज्य कहलाने का दावा करने लगेंगे। इस प्रकार राज्य की ठीक परिभाषा हमारे सन्मुख केवल गार्नर की रह जाती है।

II राज्य के आवश्यक तत्व

आपने राज्य की सही और एक पक्षीय परिभाषाओं को देखा। यहां अब राज्य के तत्वों की एक-एक करके विशद व्याख्या की जायगी।

(१) भूमि—राज्य का प्रथम तत्व है भूमि। बिना भूमि यानी एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी निवास के राज्य नहीं हो सकता। जब तक मनुष्यों ने स्थायी निवास न बना लिया, राज्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। अब भी खानाबदोश गिरोहों का कोई राज्य नहीं होता। यदि कोई डाकू या लुटेरा यों ही इधर-उधर छापा मारता फिरे तो उसका राज्य नहीं कहलायगा। लुटेरे समुद्री जहाज़ का कप्तान स्वतन्त्र होने पर भी किसी नये राज्य को जन्म नहीं देता। यहूदी लोग संसार भर में बिखरे हुए हैं और किसी निश्चित भूमि पर नहीं बसते, अतएव उनका कोई राज्य नहीं है। तो यह स्पष्ट है कि भूमि राज्य के लिये आवश्यक है।

भूमि होनी तो चाहिये, पर यह कितनी हो, इसके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। रूसी (Rousseau) की आदर्श राज्य की कल्पना यह थी कि भूमि इतनी हो कि नागरिक स्वयं प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य में भाग ले सकें। जहां तक तथ्यों का प्रश्न है आज भी संसार में बहुत छोटे और बहुत बड़े राज्य दोनों ही हैं। सैन मैरिनो (San Marino) जो इटली के देश से घिरा हुआ है केवल ३८

वर्ग मील का है जब कि संयुक्तराष्ट्र, अमेरिका का क्षेत्र-फल लगभग ३८ लाख वर्ग मील है और सोवियत रूस का ८३ लाख वर्ग मील के लगभग है। प्राचीन युग में विचारकों का मत था कि राज्य इतने छोटे हों कि वे आत्म-निर्भर भी रह सकें और अपनी रक्षा भी ठीक से कर सकें। वह समय छोटे-छोटे नगर-राज्यों का था। उसके पश्चात् बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुये और फिर देश-राज्यों की नींव पड़ी। यातायात और सन्देश साधनों, प्रतिनिधयात्मक प्रणाली, स्थानीय शासन और संघ प्रणाली ने आज यह सम्भव कर दिखाया है कि बड़े से बड़े पैमाने पर प्रजातन्त्रीय राज्य बनाये जा सकें। यही नहीं आज का विचारक तो एक सार्वभौमिक राज्य (World-State) की कल्पना करता है। इस प्रकार का राज्य चाहे अभी सम्भव न हो किन्तु यह स्पष्ट है कि समय का रुख बड़े राज्यों के पक्ष में है। छोटे-छोटे राज्य इस संघर्ष के युग में पूर्णतः स्वतंत्र नहीं रह सकते। उन्हें या तो बड़े राज्यों की कठपुतली बनकर रहना पड़ता है अथवा वे इतना पिछड़ जाते हैं कि कोई भी बड़ी सत्ता कभी भी उनका जीवन-काल समाप्त कर सकती है।

(२) जनता—मनुष्यों का होना किसी भी समुदाय के लिये एक बुनियादी आवश्यकता है। बिना जनता के कोई राज्य नहीं हो सकता। लीकोक के अनुसार जनसंख्या भी समान रूप से आवश्यक है। इसे बताने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि पृथ्वी का कोई खाली भाग, अपने में, राज्य नहीं बन सकता।[१]

जनता का होना राज्य के लिये अनिवार्य तो है किन्तु उसकी संख्या

---

१२ देखिय, Leacock, **Elements of Political Soience**

के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बतलाया जा सकता। प्राचीन विचारकों ने छोटे राज्य में कम संख्या के होने को ही ठीक माना है। प्लेटो (Plato) के अनुसार राज्य की आदर्श जन संख्या ५०४० है। यह संख्या उसने इस कारण बताई थी कि इसे कई विभाजकों से बांटा जा सकता है। अरस्तू का मत यह है कि राज्य की जनसंख्या ऐसी हो जो शासन-कार्य में भी दिक्कत न पड़े और आत्म निर्भरता भी रह सके। उसका कहना था कि १००.००० व्यक्ति राज्य के लिये बहुत अधिक होंगे और १० बहुत कम। रूसो जो प्राचीन नगर-राज्यों के बड़े प्रशंसक थे कहते थे कि आदर्श संख्या १०,००० व्यक्ति है। किन्तु आज के समय में ये आंकड़े बच्चों जैसे खेल प्रतीत होते हैं। आज अनेक राज्यों में ऐसे नगर मिल जाँयगे जिनकी संख्या १लाख से ऊपर होगा। यदि आप वर्तमान राज्य की जनसंख्याओं के कुछ आंकड़े लें तो आपको पता चलेगा कि चीन की आबादी लगभग ४४ करोड़ व्यक्ति है, जब कि एन्डोरा (Andorra) राज्य की जनसंख्या ५,००० के लगभग थी। स्पष्ट है कि जनसंख्या के विषय में कोई नियम नहीं हो सकता। डा० गार्नर के अनुसार एक काम-चलाऊ नियम यह बतलाया जा सकता है कि जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि एक प्रबन्धक विभाग और प्रजा-वर्ग बन सके और कम से कम राज्य के संगठन को कायम रक्खा जा सके।

बड़ी जनसंख्या और क्षेत्रफल सदैव शक्ति के परिचायक नहीं होते। रूस क्रान्ति के पूर्व बड़ा होने पर भी शक्तिशाली नहीं था और उसे जापान जैसे छोटे देश से मात खानी पड़ी। भारतवर्ष भी इतना विशाल होने के बावजूद भी ब्रिटेन के आधीन हो गया। ब्रिटेन छोटा होने पर भी शक्तिशाली राज्य बन सका जब कि चीन बड़ा होने पर भी अत्यंतर

निर्बल है। फिर भी ये बातें अन्य अवस्थायें समान रहने पर अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती हैं।

सरकार—संगठन या सरकार का होना राज्य के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना संगठन के व्यक्ति झुण्डों में बैठे रहेंगे और आपस में बराबर लड़ते-भिड़ते रहेंगे। ऐसी हालत में न तो शांति और व्यवस्था सम्भव है और न सभ्य जीवन ही। ब्लंटश्ली कहते हैं कि 'यदि कोई भी ऐसा नहीं है जिसके पास सत्ता हो और न कोई आज्ञा पालन करता है तो वहां राज्य न होकर अराजकता कही जायगी।' बिना सरकार के जनता और भूमि के रहने पर भी राज्य नहीं बन जाता। उदाहरण के लिये भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमी आजाद कबीले राजनीतिक रूप से संगठित न होने के कारण राज्य की श्रेणी में नहीं आते। राज्य कहलाने के लिये उनके पास एक ऐसा सामान्य राजनीतिक संगठन होना चाहिये जिसके द्वारा राज्य की इच्छा को प्रकाशित और पूर्ण किया जा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना सरकार के राज्य हो ही नहीं सकता।

राज्य सत्ता या राज्य प्रभुता—यह तत्व राज्य का सबसे महत्वपूर्ण है। इसके अभाव में अन्य तीनों तत्व व्यर्थ हैं। राज्यसत्ता (Sovereignty) ही वह तत्व है जो राज्य को अन्य समुदायों से पृथक कर देती है। राज्यसत्ता के बोल चाल की भाषायें अर्थ हैं: पूर्ण स्वाधीनता। लीकौक के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि 'वह भूमि और जनसंख्या किसी अन्य बड़ी राजनीतिक इकाई का भाग न हो। और न उस प्रदेश में ही ऐसा या ऐसे कोई भाग हों जो केवल भौगोलिक दृष्टि से उसके भाग हों पर राजनीतिक रूप में न हों।' कहने का मतलब यह है कि वह क्षेत्र सम्पूर्णतः स्वतन्त्र होना चाहिये।

विद्वानों ने राजप्रभुता के दो पक्ष बतलाये हैं: वाह्य स्वाधीनता और

आन्तरिक राज्यसत्ता। वाह्य स्वाधीनता का तात्पर्य यह है कि वह क्षेत्र किसी बाहरी शक्ति के आधीन हो। आन्तरिक राज्यसत्ता का तात्पर्य यह है कि राज्य के अन्दर कोई ऐसी शक्ति न हो जो उसकी आधीनता स्वीकार न करे। जहा पर अन्य तत्वों के साथ यह दोनों प्रकार की राज्य सत्ता भी वर्तमान हों वहां हम निसंकोच कह सकते हैं कि राज्य है।

डा० विलोग्वी (Willoughvy) ने राज्य का एक पाचवाँ तत्व भी बतलाया है। इसे उन्होंने 'जनता की इच्छा' कहा है। उनका कहना यह है कि राज्य के स्थायित्व के लिये जनता की इच्छा का राज्य के अनुकूल होना आवश्यक है। यदि ऐसा न होगा तो राज्य कायम नही रह सकता। मुख्यतः आज के युग में जब कि जनता के आत्मनिर्णय के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया गया है इस तत्व को ध्यान में रखना आवश्यक है। १८३६ ई० में जनता की राय के अनुसार बेल्जियम और हालैंड दो पृथक राज्य हो गये। यूरोप में प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इसी आधार पर पोलैंड, आस्ट्रिया, हँगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, जेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि नये राज्य स्थापित किये गये। अतएव इस तत्व को भी स्वीकार कर लेना चाहिए।

यह ठीक है कि जनता की शक्ति को नहीं भुलाया जा सकता किंतु यहां केवल राज्य के स्थूल तत्वों का विवेचन किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि राज्य की आन्तरिक सत्ता अक्षुण्य हो। यह सत्ता जनमत पर आधारित है या नही, यह प्रश्न इस सम्बन्ध में नहीं उठता। अतएव इस तत्व को एक अलग स्थान देना आवश्यक नहीं है।

III क्या ये राज्य हैं ?

भारतवर्ष—अब आप इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि भारतवर्ष एक राज्य है अथवा नहीं। इस देश की जनसंख्या ४० करोड़

के लगभग है यानी पृथ्वी की कुल आबादी का लगभग पाँचवा भाग यहां रहता है। भारतवर्ष का एक निश्चित क्षेत्र है जिसकी सीमा उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में हिंद महासागर है। दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर है। देश की एक व्यवस्थित सरकार भी है। फिर भी इसे राज्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भारत पराधीन है। अभी भी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट, भारत सचिव और सम्राट के कानून और आज्ञायें भारत में सर्वोपरि हैं। भारतवर्ष के वायसराय और गवर्नरों को सम्राट नियुक्त करता है और वे भारत-सचिव के मातहत काम करते हैं। केन्द्र में उत्तरदायी शासन नहीं हैं। देशी राज्यों में वायसराय मनमानी कर सकता है। गवर्नर जनरल और गवर्नर सभी को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। यदि वे चाहें तो केन्द्रीय और प्रान्तीय सत्ता अपने हाथ में ले सकते हैं। अतएव अभी भारत एक राज्य नहीं है। पर २० फरवरी की शाही घोषणा के अनुसार जून १९४८ ई० में अंग्रेजों के भारत से प्रस्थान कर जाने पर भारत एक राज्य बन सकता है।

ब्रिटिश डोमीनियन—कैनेडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, आयरलैंड, न्यूज़ीलैण्ड आदि ब्रिटिश उपनिवेशों को 'डोमीनियन' (Dominion) का पद दे दिया गया है। सन् १९३१ के वैस्ट मिन्स्टर स्टैचूट (Westminster Statute) के अनुसार ये डोमीनियन पद में ब्रिटेन के बराबर हैं। वे किसी भी अवस्था में एक दूसरे के आधीन नहीं हैं और ताज के साथ समान रूप से एकता के सूत्र से बंधे हुये हैं। कुछ दिनों तक इस बात पर झगड़ा चलता रहा कि ये ब्रिटिश कोमनवैल्थ से पृथक हो सकते हैं कि नहीं। इस सम्बन्ध में कानूनी स्थिति स्पष्ट नहीं है फिर भी अब सभी विचारक और राजनीतिज्ञ इस विचार से सहमत हैं कि यदि वे पृथक होना चाहें तो

उन्हें कोई नहीं रोक सकता। उनकी पृथक ध्वजा है, सेना है, नागरिकता के नियम हैं, और कानून हैं। जहाँ वे चाहें अपने राजदूतों को सीधे नियुक्त कर सकते हैं। वे सन्धि करते हैं, पर प्रायः पहले से ही उनकी सूचना साथी-राष्ट्रों को दे देते हैं। ब्रिटेन के युद्धों में वे चाहें तो तटस्थ रह सकते हैं जैसा कि आयरलैण्ड द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-१९४५ ई०) में रहा। ब्रिटेन का युद्ध-घोषणा से वे स्वतः ही युद्ध में नहीं आ जाते वरन् पृथक रूप से अपनी पार्लियामेण्ट की स्वीकृति लेकर युद्ध की घोषणा करते हैं। इन सब कारणों से इन्हें 'राज्य' माना जाता है। इस विषय के अधिकारी लेखक प्रोफेसर ए० बी० कीथ की यही राय थी जिसे साधारणतया अब स्वीकार किया जाता है। यह ठीक है कि इनमें से कुछ पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं! कुछ की अपीलें अब भी प्रिवी काउन्सिल को सुनवाई के लिये जाती हैं किन्तु यदि ये चाहें तो इन्हें कभी भी रोक सकते हैं। इन पर बाहिरी बाधा कोई नहीं है।

संयुक्त-राष्ट्रीयसंघ—कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि सयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.) एक राज्य है या नहीं। निश्चय ही एक निश्चित भूभाग के संगठित राज्य इसके सदस्य हैं। इसका अपना संगठन और नियम भी हैं। किन्हीं हालतों में नियम न मानने पर यह सदस्य-राज्यों को दण्डित करने में समर्थ भी हो सकता है। फिर भी यह एक राज्य नहीं है। कारण यह है कि इसके सदस्य व्यक्ति न होकर राज्य हैं और नियम मनवाने की इसकी शक्ति अत्यन्त परिमित है। अभी तक इसकी कोई स्वतन्त्र सैना नहीं जो अपराधी-राज्यों को दण्ड दे सके। फिर इसकी सत्ता सीधे व्यक्तियों पर लागू नहीं होती। ये जिन निर्णयों पर पहुँचता है उनको लागू करने का काम प्रायः राज्यों पर ही छोड़ देता है। अतएव यह एक राज्यों का ढीला-ढाला संघ Confidestation) भर है, स्वयं एक राज्य नहीं।

राज्य के शब्द के कुछ अशुद्ध प्रयोग—राज्य शब्द को ठीक से समझने के पश्चात् आप देखेंगे कि साधारण बोल-चाल में प्रायः इसे ठीक अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाता। इससे कुछ मुख्य अशुद्ध प्रयोग ये हैं :—

(१) भारतवर्ष में देशीराज्यों के लिये 'राज्य' शब्द प्रयुक्त किया जाता है यद्यपि वे वाह्य रूप से तो स्वतन्त्र हैं ही नहीं, अन्दरूनी मामलों में भी भारत सरकार और ब्रिटिश ताज के मातहत हैं। राज्य के ठीक अर्थ में यह प्रयोग गलत है। किन्तु यह प्रयोग लोकप्रिय हो गया और इन रजवाड़ों की अवस्था को ठीक से इंगित करने वाले अन्य शब्द के अभाव में अशुद्ध होने पर भी यह प्रयोग चल गया है। (२) कभी-कभी राज्य शब्द संघ-राज्य की इकाइयों के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में ४८ राज्य बतलाये जाते हैं। यह प्रयोग निश्चय ही अशुद्ध है फिर भी यह चालू हो गया है। बात यह है कि १७७६ ई० की स्वतन्त्रता की घोषणा के पश्चात् अमेरिका की सभी कालेनियाँ (Colonies) अपने को स्वतंत्र राज्य मानने लगीं। बाद में उन्होंने मिलकर संघ-राज्य को कुछ अधिकार देकर जन्म दिया। फिर भी उन्हें भी राज्य ही कहा जाता रहा क्योंकि उनकी अवस्था द्योतक कोई अन्य शब्द नहीं मिला। (३) प्रायः राज्य शब्द को सरकार के अर्थ में भी प्रयुक्त कर दिया जाता है। आगे आप देखेंगे कि इन दोनों में कुछ मौलिक भेद हैं। फिर भी यह गड़बड़ी अधिकारी लेखक और राजनीतिज्ञ तक कर बैठते हैं। फ्रांस का सम्राट लुई चतुर्दश (Louis XIV) भी कहा करता था कि 'मैं राज्य हूँ।" स्पष्टतः उसका तात्पर्य सरकार से था।

IV राज्य का स्वरूप

अपने राज्य की परिभाषा और उसके तत्वों पर विचार किया

हम आगे यह बतलायेंगे कि राज्य किस प्रकार का समुदाय है अर्थात् इसका क्या स्वरूप है।

(१) राज्य एक स्वाभाविक समुदाय है—इसे स्वाभाविक कई कारणों से कहा जा सकता है। प्रथम तो यह कि राज्य का जन्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परिणाम है। इसी बात पर ध्यान रखते हुए ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (Aritote) ने कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। डा० फाइनर (Finer) ने भी कहा है कि "राजनीतिक व्यवहार राज्य के उदय के पूर्व भी था और अब भी राज्य के बाहर देखा जा सकता है.....यदि राज्य न भी होता, तब भी जहा मनुष्य एक दूसरे के निकट रहते, वहीं पर सरकार और राजनीति होती।" स्पष्ट है कि मनुष्य की इसी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिणाम राज्य है। (ख) इसके अतिरिक्त राज्य को स्वाभाविक इसलिये भी कहा जाता है कि व्यक्ति इच्छा से इसके सदस्य नहीं बनते, राज्य में ही जन्म लेते हैं यानी जन्म से ही वे राज्य के सदस्य होते हैं। नागरिकों के लिये यह एक अनिवार्य समुदाय है। (ग) राज्य को इसलिये भी स्वाभाविक कहा जाता है कि परिवार के समान ही मृत्यु-पर्यन्त व्यक्ति इसका सदस्य बना रहता है। यह एक ऐसा स्थायी समुदाय है जिसका व्यक्ति के साथ जीवन भर साथ रहता है। (घ) यह इसलिये स्वाभाविक है कि इसके बिना सभ्य जीवन सम्भव नहीं। राज्य में रहकर व्यक्ति सभ्य शिष्ट और सुसंस्कृत बन सका है और बन पाता है। (ङ) इसे इसलिये भी स्वाभाविक कहा जाता है कि राज्य जान-बूझकर बनाया हुआ कोई समुदाय नहीं है,न इसे किसी विशेष समय पर मिलकर किसी ने बनाया। यह तो क्रमिक सामाजिक विकास के फलस्वरूप उदित हुआ है।

(२) राज्य का एक कृत्रिम पहलू भी है—राज्य स्वाभाविक तो है ही, पर इसका एक कृत्रिम पहलू भी है।(क) पहली बात तो यह ही

है कि राज्य सर्वदा से मनुष्य के साथ नहीं रहा। हम निश्चित रूप से ऐसे समय के इतिहास को जानते हैं जब कि आधुनिक अर्थ में कोई भी राज्य नहीं था। इस कारण इसे कृत्रिम कहा जा सकता है। (ख) इसकी कृत्रिमता का एक प्रमाण यह भी है कि वर्तमान राज्य पूर्ण नहीं हैं। जो वस्तु नैसर्गिक होती है वह पूर्ण भी होनी चाहिये। पर राज्य ऐसा नहीं है। अतएव उसे समयानुकूल और आवश्यकतानुकूल बनाये रखने के लिये निरंतर उसके ढांचे में परिवर्तन और सुधार करते रहना पड़ता है। इस कारण राज्य के वर्तमान रूप एक दूसरे से बहुत भिन्न२ होगये हैं। यह भिन्नता भी मनुष्य-कृत कार्यों की परिचायक है। उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाभाविक होते हुये भी राज्य का एक कृत्रिम पक्ष भी है।

(३) राज्य एक आवश्यक समुदाय है—कृत्रिम होते हुये भी राज्य आवश्यक है। जब आप यह कहते हैं कि राज्य स्वाभाविक है तो उसकी ध्वनि यही निकलती है कि इसके बिना काम नहीं चल सकता। ग्रीक विद्वान अरस्तू ने कहा है कि "राज्य का विकास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के कारण हुआ और वह जीवन को अच्छा बनाने के लिये कायम है।" राज्य के पहिले भी राजनीतिक और सामाजिक संगठन का एकदम अभाव न था। किन्तु उस समय जीवन बहुत बिछड़ा हुआ था। निरंतर युद्ध हुआ करते थे और जीवन तथा धन सुरक्षित न थे। सभ्य सामाजिक जीवन के लिये शांति और व्यवस्था अत्यन्तावश्यक है। एक बड़े पैमाने पर शान्ति और व्यवस्था को राज्य ने ही सम्भव बनाया और इस प्रकार अच्छे सामाजिक जीवन का सूत्रपात किया। इसकी आवश्यकता का इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

V राज्य और सरकार की आवश्यकता

राज्य और सरकार की आवश्यकता के सम्बन्ध में सभी विद्वान और विचारक एक मत नहीं हैं। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनका विश्वास यह है कि राज्य और सरकार मानव समाज के लिये अभिशाप हैं और जितनी जल्दी ये नष्ट हो जांय मानवता के लिये उतना ही अच्छा होगा। इन लोगों को अराजकवादी (Anarchists) कहा जाता है। इन्हीं से मिलते-जुलते कुछ विचार मार्क्सवादियों के भी अपने आदर्श समाज के सम्बन्ध में हैं। उनका कहना है कि राज्य सर्वहारावर्ग के शोषण के लिये वर्तमान है। सदा से ही इसका यही काम रहा है कि एक वर्ग को दबाकर दूसरे का हित-साधन करे। अतएव वर्गहीन (Classles) समाज में राज्य की कोई आवश्यकता न रहेगी। इसके विपरीत आदर्शवादियों (Idealists) का कहना यह है कि राज्य सभ्य जीवन और आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनिवार्य है। बिना राज्य के व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। व्यक्तिवादियों (Individualists) का कथन यह है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। यह बुराई इसलिये है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम करता है और आवश्यक इसलिये है कि समाज में ख़राब व्यक्ति भी हैं और भले भी। अतएव यदि बुरे मनुष्यों के कार्यों की रोकथाम न हो तो वे भले मनुष्यों के लिये एक परेशानी बन जावेंगे। इस प्रकार आपने देखा कि अराजकतावादियों और मार्क्सवादियों को छोड़कर शेष सभी विचारक राज्य को आवश्यक मानते हैं। इन मतों पर विचार करने के पश्चात् अब यह देखा जायगा कि राज्य और सरकार सभ्य सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक क्यों हैं ?

(१) शांति और व्यवस्था की स्थापना—सभ्य जीवन सम्भव

बनाने के लिये शान्ति और व्यवस्था आवश्यक है। राज्य इन्हें स्थापित करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक जीवन राज्य के प्रादुर्भाव के पूर्व था ही नहीं। राज्य के पूर्व भी कबीले थे जिनके अपने संगठन थे और प्रथाओं पर आधारित आन्तरिक नियम भी थे। किंतु ये गिरोह छोटे-छोटे होते थे और लगातार आपस में लगा करते थे। राज्य ने इस अवस्था को शान्त कर एक बड़े प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था क़ायम किया। यदि आज व्यवस्थित सरकार का अन्त हो जाय तो देश भर में अराजकता फैल जाय। (२) बाहरी आक्रमण से रक्षा—सभ्य जीवन की दूसरी आवश्यकता यह है कि बाह्य आक्रमण का कोई भय न हो और मनुष्य सुरक्षता का अनुभव करें। सरकार इसके लिये सेना बनाती है और सन्धियां करती है। इस प्रकार वह देश की रक्षा कर सभ्य जीवन को सम्भव को बनाती है। इतिहास साक्षी है कि राज्य जब-जब निर्बल हुआ है अथवा देश की रक्षा में असफल हुआ है, देश भी एक अन्धकार के गर्त में डूब गया है। असंगठित समुदाय रक्षा-कार्य में असमर्थ होते हैं और वे दूसरों के आधीन हो जाते हैं। पराधीन जीवन में सभ्य जीवन बिताना या सभ्यता का विकास करना प्रायः सम्भव नहीं होता। (३) अधिकार और कर्तव्यों की व्यवस्था—आप देख चुके हैं कि प्रत्येक समाज में, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, सामाजिक व्यवहार के लिये कुछ सर्वमान्य नियम बनाने होते हैं। बिना उनके सामाजिक जीवन ही सम्भव नहीं, सभ्य जीवन का तो प्रश्न ही क्या है। राज्य के प्रादुर्भाव के पूर्व इस प्रकार के कोई निश्चित और स्पष्ट नियम न होते थे। राज्य की स्थापना के पश्चात् सर्वप्रथम निश्चित रूप से कानूनों ने अधिकार और कर्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या की। उन्होंने बतलाया कि मनुष्य किन अवस्थाओं में और किस सीमा तक उनका उपयोग कर सकते हैं। यदि ये कानून न हों

तो मनुष्य आपस में बात-बात पर लड़ते रहें। वे इसी में अपना समस्त समय और शक्ति व्यय कर दें और सभ्यता का विकसित करने का उन्हें अवकाश ही न मिले। (४) न्याय का प्रबन्ध—राज्य इस बात की भी समुचित व्यवस्था करता है कि जिनके अधिकारों की उपेक्षा हो वे न्याय पा सकें। इसके लिये राज्य न्यायालय स्थापित करता है। इन न्यायालयों का कार्य निष्पक्षता से न्याय करना होता है। वे सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखते हैं। इससे व्यक्तियों का राज्य और समाजिक जीवन में विश्वास बढ़ता है। न्याय का ही एक दूसरा पक्ष यह भी है कि अपराधियों को उचित दण्ड मिले और फ़रियादियों को उचित मुआवज़ा। राज्य इसका भी पूरा प्रबन्ध करता है जिससे न्याय बेमाने बनकर न रह जाय। जब राज्य न था तो गिरोह स्वयं बदला लेते थे। खून का बदला खून करके लिया जाता था। वह जंगलीपन का समय था। मनुष्य उस अवस्था से काफ़ी आगे बढ़ गया है। अब अपराध को व्यक्तिगत हानि न मानकर सामाजिक हानि माना जाता है और राज्य ने दण्ड की व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया है। दण्ड का उद्देश्य भी अब प्रतिशोध न होकर रोक-थाम और सुधार माना जाता है। (५) मनुष्यों की चहुंमुखी उन्नति—इनके अतिरिक्त राज्य स्वयं ऐसे प्रयत्न करता है कि मानव-जीवन सभी क्षेत्रों में सुखी और उन्नत बन सके। बौद्धिक और साँस्कृतिक क्षेत्र में वह शिक्षण-संस्थाओं को स्थापित करता, चलाता और सहायता करता है। पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर, कला-भवन और साहित्यक समुदायों को स्थापित करता और सहायता करता है। आर्थिक क्षेत्र में राज्य कृषि, उद्योग, व्यापार की उन्नति के लिये हर सम्भव उपाय करता है। इसके लिये वह सड़कें, रेल, टेलीफोन, टेलीग्राफ, नहरें, कुयें, बीज-गोदाम, अन्वेषण-केन्द्र, व्यापारिक सन्धियाँ, आर्थिक योजनायें इत्यादि बनाकर देश

के निवासियों को सम्पन्न बनाना चाहता है। सामाजिक क्षेत्र में अशिक्षा, बेकारी, जाति-पांत, नारी समस्या, अन्ध विश्वास इत्यादि सभी प्रश्नों का हल निकालने की चेष्टा करता है कि अधिक से अधिक उन्नति हो सके। इसी प्रकार से नैतिक क्षेत्र, साम्प्रदायिक जीवन आदि में भी उसके यत्न यही होते हैं कि समाज का भला हो और सभ्यता और संस्कृति की अधिकतम उन्नति हो।

उपरोक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि राज्य और सरकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके महत्व के विषय में अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती, ये सभ्य जीवन के लिये अनिवार्य हैं। इनके बिना सभ्य जीवन सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता। इतिहास का ओर भी यदि दृष्टि पात किया जाय तो यही पता चलता है कि मानव ने जितने बड़े और अच्छे कार्य किये हैं सब संगठित समाज में ही। राज्य के अन्तर्गत ही बड़े पैमाने पर संगठित सहयोग सम्भव हो पाता है और इसके द्वारा ही सभ्य जीवन के मार्ग की रुकावटें दूर की जा सकती हैं।

सरकार की आवश्यकता और उत्पत्ति—सरकार की आवश्यकता को स्पष्ट हो ही गई होगा; प्रश्न उठता है उसकी उत्पत्ति का। इसके संबंध में यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि सरकार राज्य के भी पूर्व किसी न किसी रूप में वर्तमान थी। पहले उसका रूप धार्मिक और सामाजिक था जब कि राज्य में उसका स्वरूप मुख्यतः राजनीतिक है। सरकार की आवश्यकता मनुष्य के स्वभाव में निहित है। वह उसके बिना न तो रह सकता है और न उन्नति ही कर सकता है।

VI राज्य का समुदाय, समाज आदि से भेद

आगे राज्य का समुदाय, समाज, सरकार और देश से भेद स्पष्ट किया जायगा जिससे उनके उचित प्रयोग समझ में आ जावें। सर्व प्रथम हम राज्य और समुदाय के भेद को देखेंगे।

राज्य और समुदाय

१–राज्य का एक निश्चित भू भाग होता है।	१–समुदायों के कार्य-क्षेत्र में कोई निश्चितता नहीं होती। वे स्थानीय हो सकते हैं और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भी।
२–राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है।	२–साधारणतः समुदायों की सदस्यता व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है।
३–राज्य एक स्थायी समुदाय है।	३–समुदाय प्रायः बनते–बिगड़ते रहते हैं।
४–निश्चित भू-भाग में निवास करने वाले सभी नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं। केवल विदेशी इसकी सदस्यता से वंचित रहते हैं।	४–सभी नागरिक समुदायों के सदस्य नहीं होते। समुदायों में नागरिक और अनागरिक सभी सदस्य हो सकते है।
५–राज्य का उद्देश्य व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक भलाई होता है। यही सभी क्षेत्रों में नागरिकों की उन्नति के प्रयत्न करता है।	५–समुदायों का उद्देश्य प्रायः सीमित और एक क्षेत्र से ही संबंध रखने वाला होता है।
६–नागरिक केवल एक ही राज्य का सदस्य रह सकता है।	६–किन्तु वह अनेक समुदायों का सदस्य होता है यद्यपि परस्पर विरोधी समुदायों का कोई व्यक्ति सदस्य नहीं बन सकता।

	उदाहरण के लिये कांग्रेस और लीग की सदस्यता साथ-साथ नहीं चल सकती।
७—राज्य के पास अपनी आज्ञाओं और कानूनों को मनवाने के लिये सैन्य बल की सहायता प्राप्त होती है।	७—समुदायों के पास भी अनुशासन को बनाये रखने के लिये साधन होते हैं किंतु राज्य की शक्ति की तुलना में कुछ कुछ भी नहीं हैं।
८—राज्य के पास सर्वोच्च सत्ता होती है। उसका व्यक्तियों, समुदायों और उनकी सम्पत्ति पर भी नियंत्रण रहता है।	८—समुदायों को राज्य के नियमों के अन्तर्गत कार्य करना होता है

राज्य और समाज

इन दोनों ही शब्दों को कभी-कभी एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसके कारण कभी-कभी विचारों में काफी गड़बड़ी फैल जाती है। वस्तुतः यह दोनों ही भिन्न हैं जैसा कि निम्न लिखित बातों से स्पष्ट हो जायगा :

१—राज्य के लिये एक स्थायी और निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है।	१—समाज के लिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई स्थायी अथवा निश्चित भू भाग उसके अधिकार में हो। प्राचीन काल में और अब भी खानाबदोश समाज हैं और हो सकते हैं।

२—राज्य का अधिकार-क्षेत्र एक निश्चित प्रदेश में सीमित होता है।	२—समाज के लिये कोई प्रादेशिक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। वह छोटे से छोटा भी भी हो सकता है और बड़े से बड़ा भी।
३—राज्य के लिये व्यवस्था और संगठन आवश्यक हैं।	३—समाज के लिये राजनीतिक संगठन अनिवार्य नहीं है। समाज का सगठन ढीला-ढाला भी हो सकता है और बिना निश्चित संगठन के भी समाज हो सकता है।
४—राज्य के पास शक्ति का भरोसा होता है जिसके बल पर वह अपनी बात मनवा सकता है।	४—समाज के पास समझाने-बुझाने आदि की नैतिक-शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।
५—राज्य समाज का एक आवश्यक अङ्ग है। वह एक निश्चित प्रदेश के अन्दर शान्ति और व्यवस्था का प्रबंध कर सामाजिक जीवन को दृढ़ता प्रदान करता है।	५—समाज व्यक्तियों, समुदायों, संस्थाओं आदि के सम्बन्धों के समूह का नाम है। राज्य भी इनमें से एक है। अतएव समाज राज्य से कहीं अधिक व्यापक शब्द है।
६—राज्य के साथ व्यक्ति के संबंध आवश्यकीय हैं। उससे कोई छुटकारा नहीं हो सकता।	६—समाज और व्यक्ति के संबंध स्वेच्छा से दिये गये सहयोग पर आधारित हैं और सामाजिकता उनकी प्रेरक है।

राज्य और समाज का सम्बन्ध—आपने देखा कि 'समाज' शब्द 'राज्य' से कहीं अधिक विस्तृत है। राज्य का जहाँ राजनीतिक सम्बन्धों से मतलब है वहां समाज का मतलब समस्त सामाजिक सम्बन्धों से है। इस प्रकार ऐसे भी अनेक सामाजिक सम्बन्ध हैं जो राज्य की अधिकार-सीमा से बाहर हैं। उदाहरण के लिये, व्यक्ति के पारवारिक सम्बन्ध और चर्च के साथ सम्बन्ध राज्य से कोई प्रत्यक्ष मतलब नहीं रखते। राज्य को केवल उन्हीं सम्बन्धों से मतलब है जो सरकार की सत्ता के अन्तर्गत आते हैं। इससे स्पष्ट है कि राज्य और समाज के क्षेत्र भिन्न हैं। यदि दोनों का क्षेत्र एक होता तो राज्य की सत्ता भी सम्पूर्ण सामाजिक बातों और सम्बन्धों तक विस्तृत होती जैसा कि अधिनायकतन्त्र (Totalitarian) में होता है। ऐसा होने पर कोई भी बात राज्य की सीमा के बाहर नहीं होती। किन्तु ऐसा नहीं है।

यदि इन दोनों के महत्व पर विचार किया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि राज्य का उद्देश्य और उसके कार्य समाज की अपेक्षा कहीं संकुचित है। राज्य का उद्देश्य ऐसी दशाओं को उत्पन्न करना है जिसमें व्यक्ति और समष्टि की अधिक से अधिक उन्नति हो सके। किंतु समाज के अन्य समुदायों का महत्व भी इस दिशा में कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि ये समुदाय मिलकर व्यक्ति और समष्टि की उन्नति के लिये जितना कार्य करते हैं वे राज्य से किसी अवस्था में कम नहीं। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के लिये राज्य और समाज दोनों ही हितकारी हैं।

फिर भी हमें यह न भूलना चाहिये कि सामाजिक समुदायों से हम इस कारण और तभी लाभ उठा पाते हैं जब समाज में वाह्य सुरक्षा और और आन्तरिक शांन्ति और सुव्यवस्था हो। इन अवस्थाओं का उत्पन्न करना राज्य का काम है। यदि राज्य न हो तो आज की

दशा समाज भी नहीं टिक सा सकता। सचमुच में समाज आज इतना जटिल हो गया है कि उसका जीवन राज्य के सहयोग पर ही निर्भर है। राज्य ही सामाजिक संगठन को दृढ़ता प्रदान करता है।

जब राज्य समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है तो उसे यह अधिकार भी होना चाहिये कि वह यह देखे कि समाज का कोई समुदाय ऐसे कार्य नहीं करता जो राज्य के उद्देश्य के विरुद्ध हो। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य को समुदायों पर नियन्त्रण करने का अधिकार होना चाहिये। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह मनमाने ढंग पर समुदायों के साथ बर्ताव करे। यह ध्यान रखने की बात है कि समुदाय भी हमारे लिये परम आवश्यक और उपयोगी हैं। इसलिये उनकी स्थिति को भी स्वीकार किया जाना चाहिये। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि राज्य का उनपर नियन्त्रण रखने का अधिकार आवश्यक है। पर यह अधिकार सार्वजनिक हित में प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

राज्य और सरकार

हम कह आये हैं कि कभी-कभी राज्य और सरकार शब्दों को पर्यायवाची मानकर प्रयुक्त किया जाता है। साथ ही आप यह भी जान चुके हैं कि सरकार राज्य का एक आवश्यक तत्व मात्र है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा को निर्मित, प्रकाशित और पूर्ण किया जाता है। अतएव सरकार राज्य के अर्थ में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। नीचे हम इन दोनों के भेद पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

१—राज्य एक निश्चित भू-भाग पर रहने वाले सङ्गठित और स्वतन्त्र व्यक्ति-समुदाय को

१—सरकार राज्य के उस आवश्यक तत्व को कहते हैं जिसके द्वारा राज्य की सामूहिक

कहते हैं।	इच्छा को निर्मित, प्रकाशित और पूर्ण किया जाता है।
२—सभी नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं।	२—सरकार के सदस्य थोड़े से ही व्यक्ति होते हैं। राज्य की नीति को निर्धारित करने में आम जनता का हाथ हो सकता है किन्तु उसे कार्यान्वित करने का भार थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में रहता है।
३—राज्य स्थायी समुदाय है। सरकार के परिवर्तनों का उसके अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।	३—सरकारें प्रायः बदलती रहती हैं, किन्तु इनके आने-जाने का राज्य पर कोई असर नहीं होता।
४—राज्य का एक आवश्यक तत्व राज्य-सत्ता ((Sovereignty) है।	४—सरकार उसी सत्ता का उपयोग करती है जो राज्य उसे प्रदान करता है।
५—सभी राज्यों का स्वरूप एक-सा होता है।	५—सरकार की किस्में अनेक प्रकार की होती हैं।
६—राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के सिद्धान्त की दृष्टि से कोई अधिकार नहीं होते।	६—सरकार के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित होते हैं।
७—राज्य अमूर्त है। उसकी कल्पना भर की जा सकती है। वास्तव में न तो भूमि और न	७—सरकार एक मूर्तिमान व्यक्ति-समूह होता है। आप इसे देख और जान सकते हैं।

जनता, सरकार अथवा राज्य
सत्ता ही राज्य है। वह तो
एक विचार मात्र है जो इन
तत्वों के रहने पर एक शक्ल
धारण कर लेता है।

राज्य और देश

कभी-कभी राज्य (State) और देश (Country) दोनों ही शब्द एक अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। राज्य शब्द को आप अच्छी तरह देख ही चुके हैं। जहाँ तक देश का प्रश्न है यह एक भौगोलिक शब्द मात्र है। इसका कोई राजनीतिक महत्व नहीं है। देश एक अन्य राज्य के आधीन हो सकता है जैसे भारतवर्ष। एक ही देश में अनेक राज्य हो सकते हैं। इटली में १८ वीं शताब्दी तक यही हाल था। एक देश लगभग खाली भी हो सकता है जिसमें लोग निवास न करते हों, ग्रीनलैण्ड का यही हाल है। एक राज्य कई देशों में फैला हो सकता है जैसे सोवियत रूस। कभी-कभी राज्य और देश की सीमायें एक ही होतीं हैं, फिर भी दोनों के अन्तर को स्पष्ट ध्यान में रखना चाहिये।

VIII राष्ट्र और राष्ट्रीयता

'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' शब्दों की व्याख्या करना सरल नहीं है। कारण यह है कि विद्वान लेखक और राजनीतिज्ञ इन शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। बहुत से लेखक राज्य (State) और राष्ट्र (Nation) शब्दों तक में कोई स्पष्ट भेद नहीं करते। उदाहरण के लिये 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) शब्द को ही लीजिये। राष्ट्र-संघ वस्तुतः एक राष्ट्रों (Nations) का संघ न

होकर राज्यों (States) का संघ है। फिर भी राष्ट्र-संघ नाम प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार, 'अन्तर्राष्ट्रीय' (international) शब्द राज्यों की आपस की बातों के बारे में प्रयुक्त किया जाता है। यह दोनों ही प्रयोग ठीक न होने पर भी चालू हो गये हैं।

एक दूसरी कठिनाई यह है कि अंग्रेजी में 'नेशन' (Nation) और 'नेश्नेलिटी' (Nationality) दो भिन्न शब्द हैं। 'नेशन' का हिन्दी रूपान्तर राष्ट्र किया जाता है, किन्तु 'नेश्नेलिटी' शब्द के लिये कोई उपयुक्त हिन्दी शब्द नहीं मिलता। किन्तु शब्द की जो ध्वनि है उसके देखते हुए 'नेश्नेलिटी' को 'जाति' कहना ठीक ज्ञात होता है। किन्तु कठिनाई इसी से दूर नहीं हो जाती। अँगरेजी के कुछ विद्वान लेखक 'नेशन' और 'नेश्नेलिटी' शब्दों में भी स्पष्ट भेद नहीं करते। हम यहां भरसक इस विषय को सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न करेंगे।

राष्ट्र की परिभाषा—सर्वप्रथम हम 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषा पर विचार करेंगे। रेमजे म्योर (Ramsay Muir) के अनुसार 'राष्ट्र उन लोगों के समूह का नाम है जो स्वाभावतः अपने को कुछ सूत्रों से बंधा हुआ मानते हैं। ये बन्धन इतने शक्तिशाली और वास्तविक होते है कि वे साथ-साथ ही प्रसन्नता पूर्वक रह सकते हैं, अलग कर दिये जाने पर असंतुष्ट हो जाते हैं और असमान भावनाओं के लोगों की आधीनता नहीं सहन कर सकते।' प्रोफेसर गिलक्राइस्ट के अनुसार राष्ट्र शब्दों में दो भावनाएँ निहित हैं : जाति (Nationality) और स्वतन्त्रता *। हेज़ (Hayes) के कथनानुसार 'जाति ही

---

*देखिये R. N. Gilchrist, **The Principles of Political science** p. 26

एकता और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करके राष्ट्र बन जाती है।' लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) के अनुसार 'राष्ट्र एक ऐसी जाति है जिसने अपना राजनीतिक संगठन कर लिया है, फिर चाहें वह स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र होने की कामना करती हो।' अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) के अनुसार राष्ट्र एक ऐसा जन-समुदाय है जिसकी एकता दो बातों पर आधारित होती है : एक तो जन्म-भूमि के प्रति समान प्रेम यानी देशभक्ति में और दूसरे सदियों तक साथ रहने के कारण उत्पन्न सामान्य जीवन में ❀।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र की व्याख्या करने के पूर्व जाति (Nationality) शब्द को समझ लेना नितांत आवश्यक है। मूलतः 'राष्ट्र' शब्द राजनीतिक है और 'राज्य' के बहुत अधिक निकट है। इसके विपरीत जाति (Nationality) शब्द सांस्कृतिक महत्व रखता है। इन दोनों ही शब्दों के भेद को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर गिलक्राइस्ट लिखते हैं कि राष्ट्र जाति और राज्य के मिलन से बनता है। प्रायः प्रत्येक जाति या तो एक राज्य के रूप में रह चुकी होती है अथवा स्वतन्त्र होकर राज्य बनाने की कामना रखती है। पर जाति के लिये यह आवश्यकीय नहीं है कि वह पृथक एक स्वतंत्र राज्य बना कर रहे ही। उदाहरण के लिये स्काटलैण्ड के निवासी एक पृथक जाति के होने पर भी ब्रिटिश राष्ट्र के एक अंग हैं।

जाति की परिभाषा और चिन्ह—अब हमें यह जाति की व्याख्या करनी है। हम कह आये हैं कि जाति का महत्व सांस्कृतिक है। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार 'जाति मुख्यतः नस्ली और सांस्कृतिक होती

❀ देखिये Ernest Barker, **Reflections on Government**, 1942) p. xiv

है।' आगे चलकर वह लिखते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'एक पृथकता की भावना की परिचायक है जो सामान्य निवास-स्थान, सामान्य परम्पराओं, स्मृतियों, कामनाओं और भावनाओं पर आधारित होती है+।' लार्ड ब्राइस कहते हैं कि यह एक ऐसा जन-समुदाय है जो भाषा, साहित्य, विचारों, प्रथाओं और परम्पराओं के सामान्य बन्धनों से बँधा हुआ है। ये सामान्य बन्धन इस प्रकार के होते हैं कि वे आपस में एकता उत्पन्न करके इसी प्रकार के अन्य जन-समुदायों से पृथकता स्थापित कर लेते हैं। बार्न्स (Barnes) के कथनानुसार 'जाति उन मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक तत्वों का सामूहिक नाम है जो राष्ट्र को एक सूत्र में पिरो कर उसमें एकता बनाये रखते हैं।' इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति एकता की वह आत्मिक भावना है जो अनेक तत्वों से मिलकर बनी है। किन्तु तत्व तो गौण हैं, मुख्य बात तो एक विशेष भावना का होना है। यह भावना इन तत्वों में से कुछ या सभी के रहने पर भी अनिवार्य रूप से हो ही, यह आवश्यक नहीं है। पर सभी जातियों के आधार में आप इनमें से कुछ न कुछ अवश्य पावेंगे। किंतु यह तो इससे स्पष्ट ही है कि इन भौतिक तत्वों से अधिक महत्वपूर्ण वह मनोवैज्ञानिक अथवा आत्मिक भावना है जो उनमें एक विशिष्ट एकता का भाव भर कर उन्हें अपने पृथक अस्तित्व का मान करा देती है ❀। यह भावना जाति के लिये शरीर मे आत्मा के समान है।

+ देखिये Beni prasad, **The Democratic Process**, (1935). pp. 144-145.

❀ देखिये H. J. Laski, **A Grammar of Politics**, pp. 219-20.

'नेश्नेलिटी' शब्द दो अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। एक तो वह (जाति) इस मनोवैज्ञानिक अथवा आत्मिक भावना के लिये प्रयोग में लाया जाता है, दूसरे जिस जन-समुदाय में यह भावना घर कर जाती है उन्हें भी 'नेश्नेलिटी' (जातीयता) का नाम दिया जाता है।

'जाति' शब्द के विवेचन के पश्चात् हम उसके तत्वों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

नस्ल या रक्त की एकता—जिस जन-समूह में रक्त की एकता होती है उनमें जातीयता की भावना बड़ी सरलता से उत्पन्न हो जाती है। जिन जन-समूहों में जाति-विद्वेष होते हैं उनमें इस भावना का उदय होना कठिन होता है। किन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विशुद्ध नस्ल (race) या रक्त की एकता की बात कोरी बकवास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आधुनिक जातियाँ इतनी मिश्रित हैं कि विशुद्ध रक्त की बातें कोई अर्थ नहीं रखतीं। परन्तु यहाँ पर यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि रक्त की एकता की बात वैज्ञानिक रूप से ठीक है या नहीं। क्योंकि यदि जन-समूह का यह विश्वास है कि उनमें रक्त की एकता है—चाहें उस विश्वास का आधार भ्रमपूर्ण ही क्यों न हो—तो इससे जातीयता की भावना उदित हो सकती है।

यद्यपि रक्त की एकता जातीयता की भावना के विकास में सहायक होती है फिर भी यह उसके लिये अनिवार्य नहीं है। अँग्रेज़ लोग स्वयं सैक्सन, नार्डिक और लैटिन रक्त का सम्मिश्रण है। स्विटज़रलैण्ड में फ्रांसीसी, इटैलियन और जर्मन लोग बसते हैं, फिर भी उनकी राष्ट्रीय भावना किसी से कम नहीं है। अमेरिका और कैनेडा में भी अनेक जातियों का सम्मिश्रण हुआ है फिर भी उनकी राष्ट्रीयता के विकास में कोई बाधा नहीं पड़ी।

भाषा और संस्कृति की एकता—जाति की एकता के साथ ही भाषा

और संस्कृति की एकता का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। रक्त की एकता का परिचय देने वाले चिन्हों के अभाव में भाषा और संस्कृति के आधार पर ही जातीय एकता की बात कही जा सकती है। प्रायः जाति और भाषा की एकता एक ही होती है। इसीलिये दोनों ही शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। 'आर्य' शब्द को ही लीजिये। यह वास्तव में भाषा की एकता का परिचायक है किन्तु प्रायः 'आर्य जाति' शब्द 'आर्य-भाषा भाषियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है *।' इसी प्रकार अन्य शब्द भी हैं।

कुछ विचारकों ने भाषा की एकता पर बहुत बल दिया है। जर्मन विद्वान फिक्टे (Fichte) इसे जातीय एकता का मुख्य आधार मानता था। उसका कहना था कि भाषा का सामान्य अनुभवों, हितों और आदर्शों से घनिष्ट सम्बन्ध है। सामान्य हित और आदर्श लोगों को एकता के सूत्र में कभी नहीं पिरो सकते यदि उनको समझने के लिये सामान्य भाषा नहीं है। यह सत्य है कि आज भाषा को जातीयता का महत्वपूर्ण तत्व स्वीकार किया जाता है किन्तु वह अनिवार्य रूप जातीयता की भावना को विकसित नहीं करती और न उसके अभाव में जातीयता के विकास में बाधा ही पड़ती है। उदाहरण के लिये संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ब्रिटेन को ही देखिये। भाषा दोनों ही की एक हैं पर वे दो अलग राष्ट्र हैं। इसके विपरीत स्विटज़रलैण्ड में फ्रांसीसी, इटैलियन, जर्मन और रोमांच चार भाषा बोली जाती हैं, फिर भी जातीयता के उदित होने में कोई बाधा नहीं पड़ी।

भौगोलिक एकता—सामान्य भू भाग भी जातीयता के विकास में

---

*देखिये R. N. Gilchrist, **The Principles of Politica Seience**, pp. 29–30.

अत्यन्त सहायक होता है किन्तु औरों के समान यह तत्व भी अनिवार्य नहीं है। यह ठीक है कि एक ही भू-भाग पर रहने से जातीयता की भावना सरलता से उदित हो जाती है किन्तु ऐसा होना आवश्यकीय नहीं है। इधर-उधर बँट जाने से जातीय भावना का अन्त हो सकता है, विशेषतया यदि वे अपने से अधिक प्रबल जाति के सम्पर्क में आ जावें। निर्बल जातियां धीरे-धीरे प्रबल जातियों में मिलकर खप जाती हैं और अपनी संस्कृति खो बैठती हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका विभिन्न संस्कृतियों के मिलने और एक नई संस्कृति तथा जाति के उदय का एक अनुपम उदाहरण है। इसके विपरीत यहूदियों की जातीय भावना इतनी प्रबल है कि वे संसार भर में बिखरे रह कर भी अपनी संस्कृति की रक्षा करते रहे हैं। सम्भवतः कुछ अंशों में इसका कारण यह है कि इनकी प्रेरणा का आधार भी एक निश्चित देश यानी फिलस्तीन है।

धर्म की एकता—धर्म भी एकता का एक दृढ़ बन्धन है। समान धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज जन-समुदायों में एकता की भावना का विकास करने में बहुत काम करते हैं किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक एकता के न होने पर भी अनेक देशों में जातीयता की भावना प्रस्फुटित हुई है। यूगोस्लाविया में ही सर्व और क्रोट दो भिन्न मतों के अनुयायी हैं। स्विटज़रलैण्ड में विभिन्न मतावलम्बी रहते हैं। यही बात थोड़ा-बहुत सभी के विषय में ठीक है। यद्यपि जातीयता के विकास में धर्म ने महत्वपूर्ण कार्य किया है किन्तु वर्तमान समय में धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को स्वीकार कर सभ्य संसार ने धार्मिक भेद-भाव की जड़ें काट दीं। इसके साथ ही इस तत्व का महत्व भी जाता रहा। पिछड़े देशों में अब भी धर्म एक प्रबल शक्ति है और धर्म के नाम पर जातीयता की भावना को उभाड़ा जा सकता है किंतु ऐसी भावना क्रियात्मक न होकर ध्वंसात्मक ही हो सकती है। धर्म के नाम

पर एकता की पुकार के अर्थ ही यह हैं कि एक धर्म दूसरे से अच्छा है अथवा उन पर आपत्ति है अतएव विधर्मियों के विरुद्ध सगठित मोर्चा बनाकर उन्हें दबा देना है। इस प्रकार की भावना कभी श्रेयकर नहीं हो सकती।

राजनीतिक एकता—विगत जीवन में राजनीतिक एकता या उसकी आकांक्षा और उसके लिये किये गये सामूहिक प्रयत्न भी जातीयता की भावना को उदित करने में बड़े सहायक होते हैं। जब एक जन-समूह लम्बे अर्से से एक ही शासन में रहता आया है तो प्रकार की एकता की भावना का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। समय आने पर यही भावना जातीयता और राष्ट्रीयता के रूप में परिणित हो सकती है। बुरे और अत्याचारी शासन से भी पृथक जातीयता के विचार पैदा हो सकते हैं और सुशासन मे पृथकता की भावना समाप्त होकर एकता के विचार उत्पन्न हो सकते हैं। सयुक्तराष्ट्र अमेरिका दोनों का अनुपम उदाहरण है। ब्रिटेन के कुशासन के कारण उन्होंने अपने पृथक अस्तित्व की घोषणा की, किंतु अपने आंतरिक अच्छे शासन के कारण उसमें रहने वाली अनेक जातियां धीरे-धीरे मिलकर एक हो गईं।

आपने 'नेशनेलिटी' के उपकरणों पर विचार किया और उनके महत्व को देखा। पर ये उपकरण जाति के परिचायक नहीं हैं। जातीयता तो एक पृथकता की भावना है। इन तत्वों के रहने से उसके प्रस्फुटित होने के विशेष अवसर रहते हैं पर यह जरूरी नहीं है कि पृथकता की ऐसी भावना उत्पन्न हो ही जाय। जो बात इसके लिये अत्यन्तआवश्यक है वह तो है पृथकता की भावना, पारस्परिक सहानुभूति, एक साथ रहने की तीव्र अभिलाषा और उसी के द्वारा प्रगति में विश्वास। जहाँ इस प्रकार की भावना और आत्मिक एकता आप पावें वहीं आपको जातीयता (Nationality) मिल जायगी।

जाति और राष्ट्र—जाति और राष्ट्र में प्रमुख भेद यह है कि जाति का न तो कोई पृथक राज्य होता है और न राज्य बनाने की उत्कट कामना ही। जब इन दोनों में से कोई भी बात उत्पन्न हो जाय तो वह जन-समुदाय जाति न रह कर राष्ट्र कहलाने लगता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर केवल पृथक राजनीतिक संगठन अथवा राज्य बनाने की अभिलाषा भर का है।

कुछ विद्वानों का मत यह है कि एक ही प्रदेश में रहने वाले सामान्य नस्ल और भाषा के बड़े जन-समूह को तो राष्ट्र कहना चाहिये और उस राज्य में फैले हुए छोटे-छोटे पृथक जातीय समुदायों को जाति कहा जाना चाहिये। प्रोफेसर गार्नर (Garner) का यही मत है ❀।

राज्य और राष्ट्र—हम कह आये हैं कि जहां भी भूमि, जनता, सरकार और राज्य सत्ता आपको दृष्टिगोचर हो वहीं आप राज्य होने का अनुमान लगा सकते हैं। राष्ट्र होने की भावना राज्य के लिये आवश्यक नहीं है। बिना राष्ट्र हुए भी राज्य हो सकता है। उदाहरण के लिये विगत प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी (Austria-

---

❀ देखिये In general we may say that **nation** is a population of the saune race and language, inhabiting the same territory, and constituting the large part of its population; while a **nationality** is usually one of the several distinct eltinic groups scattered over the State and constit uting but a comparatively smaller part of its whole proportion.' Garner, **Political Science and Government.**

Hungary) एक राज्य तो था किंतु राष्ट्र न था। फिर, जातीयता की प्रखर भावना और पृथक राज्य बनाने की उत्कट कामना होने पर कोई जन-समुदाय राष्ट्र तो कहला सकता है किन्तु राज्य नहीं। 'राज्य' शब्द एक कानूनी स्थिति का परिचायक है जब कि 'राष्ट्र' एक आत्मिक भावना और राजनीतिक स्थिति का।

राष्ट्रीय स्व-भाग्य निर्णय का अधिकार—गत प्रथम विश्वयुद्ध से स्वभाग्य निर्णय के अधिकार (Right of self-determination) की बहुत चर्चा है। इसे सर्वप्रथम प्रेसीडेण्ट विल्सन (Wilson) ने युद्ध का एक उद्देश्य घोषित किया था। इसकी व्याख्या करते हुये बार्न्स (Barnes) कहते हैं कि इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में निर्णय करने की स्वयं शक्ति तथा अधिकार है। वह चाहें तो दूसरे राजनीतिक संगठन के एक भाग के समान रह सकता है अथवा स्वयं अपनी एक स्वतन्त्र और पृथक राजनीतिक सत्ता स्थापित कर सकता है।

राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त—जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने जनतन्त्र और स्वतन्त्रता की माँग के रूप में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इसके पक्ष में अनेक बातें कही जा सकती है। (१) राष्ट्र के सदस्य एक सामान्य भावना से बंधे होते हैं, अतएव उनमें मिल जुलकर रहने और सहिष्णुता की वे प्रवृत्तियाँ होती हैं जो जनतन्त्रीय शासन के सफल होने के लिये आवश्यक हैं। (२) सामान्य भावना से बंधे होने के कारण उनके लिये यह बड़ा सरल होता है कि समष्टि के लिये क्षुद्र स्वार्थों का परित्याग कर दें। (३) प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक संस्कृति होती है। उनका पूर्ण विकास तभी सम्भव है यदि उस राष्ट्र को स्वराज्य प्राप्त हो। यदि वह स्वतन्त्र न होगा तो न तो वह अपनी संस्कृति ही विकसित कर सकेगा और न संसार को उसकी

विशेषताओं को समझने और उनसे लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। (४) प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता का मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक जन-समुदाय अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये स्वतन्त्र हो पर वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता में भी बाधा न डाले। इस आधार पर किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता को अपहरण करना एक नैतिक अपराध है। (५) जब तक राष्ट्रों के स्वतन्त्रता के अधिकार को नहीं माना जायगा, एक ओर तो शक्ति से उन्हें दबाना पड़ेगा, दूसरी ओर उनके अन्दर निरन्तर विद्रोह की आग सुलगती रहेगी। अतः विश्व-शान्ति सदैव खतरे में पड़ी रहेगी।

जहां तक शक्ति द्वारा राष्ट्रों को दबा रखने का प्रश्न है, इससे कोई निष्पक्ष विचारक सहमत नहीं हो सकता। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि एक राज्य में एक ही राष्ट्र होना चाहिये। एक ही राज्य में कई जातियाँ साथ साथ आराम से रह सकती हैं जैसे ब्रिटेन सोवियत रूस आदि में हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर पिछले विश्वयुद्ध (१९१४–१९१९ ई०) के पश्चात् जो छोटे-छोटे राज्य बने उनका प्रयोग सफल नहीं कहा जा सकता। यदि यूरोप को जाति के आधार पर पुनर्संगठित किया जाय तो २६ के स्थान पर लगभग ६८ राज्य बनाने पड़ेंगे। फिर समय भी अब छोटे राज्यों के अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त लार्ड एक्टन (Lord Acton) के अनुसार अनेक जातियों और संस्कृतियों के मेल से जो नई सभ्यता और संस्कृति बनती है वह निश्चित ही ऊँची होती है। एक ही राज्य में अनेक जातियों के रहने का एक लाभ यह भी है कि इससे सरकार के कार्यों में बेजा बढ़ोत्तरी नहीं हो पाती और व्यक्तियों और समुदायों की स्वतन्त्रता सुरक्षित बनी रहती है। अतः सभ्य जीवन के लिये राज्य में अनेक जातियों का होना आवश्यक है। इससे पिछड़ी नस्लों की उन्नति हो जाती है और निर्बल

जातियों में एक नई जान पड़ जाती है। लार्ड एक्टन के इस विचार की सत्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीयता और देशभक्ति—राष्ट्रीयता एक नई भावना है और आधुनिक राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था की उपज है। प्राचीन काल में भी एकता की भावना और देश प्रेम (Patriotism) होता था किन्तु उस समय राष्ट्रीयता की भावना न थी। देश प्रेम में तीन भावनायें होती हैं : एकता, स्वतन्त्रता और देश के प्रति अनुरक्ति। देश प्रेम मुख्यतया भूमि से सम्बन्धित भावना है। इसके साथ जब जातीयता की भावना भी मिल जाती है तो राष्ट्रीयता का उदय हो जाता है।+

क्या भारतवर्ष एक राष्ट्र है ?—कुछ समय पूर्व इस बात को निर्विवाद मान लिया जाता था कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। किन्तु थोड़े दिनों से इस प्रश्न के विषय म कुछ मतभेद उठ खड़े हुये हैं। यह ठीक है कि भारतवर्ष एक विशाल देश है और प्रत्येक बड़े देश की भांति यहा भी अनेक नस्लें, भाषायें और धर्म हैं। इसी आधार पर कुछ विदेशी कहा करते थे कि भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है। विशेषतया जाति-पांत, छुआछूत, साम्प्रदायिक पृथकता और सामान्य भाषा के अभाव की ओर संकेत कर यह बात कही जाती थी। ये कठिनाइया तो हमारे देश में हैं फिर भी ये राष्ट्रीयता में बाधक नहीं हो सकते।

भारतवर्ष में विभिन्न जातियां और सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहते आये हैं। सदियों से उनका एक ही इतिहास है। वे साथ-साथ रहे हैं, उन्होने साथ-साथ कठिनाइयां उठाई है, साथ-साथ स्वन्त्रता-संग्राम के

+ देखिये 'Nationalism is the product of two factors—Nationality and Patriotism'—Iliyas Ahmad, **the First Principles of Politics.**

लिये प्रयत्न किये हैं और कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों की संस्कृतियों के समन्वय ने एक सामान्य संस्कृति को जन्म दिया है जिसका रूप हमारे संगीत, नृत्य, वस्तु विद्या, चित्रकारी, पच्चीकारी आदि पर स्पष्ट है। भाषा की कमी भी 'हिन्दुस्तानी' धीरे-धीरे पूरी करती जा रही है। इस आधार पर निश्चित ही भारतवर्ष एक राष्ट्र कहलाने का दावा कर सकता है। पर इस दावे की सार्थकता भविष्य की घटनायें ही बतला सकेंगी।

क्या मुस्लिम पृथक राष्ट्र हैं?—मुस्लिम लीग के (लाहौर, १९४०) पाकिस्तान प्रस्ताव के पश्चात् से यह प्रचार ज़ोरों से किया जा रहा है कि मुसलम एक पृथक राष्ट्र हैं। इस मत के अनुयायियों का कहना है कि समान धर्म, विचार, भावनायें, रहन-सहन मुस्लिमों को अन्य भारतवासियों से पृथक कर देता है। किन्तु यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो इस मत का थोथापन स्पष्ट हो जायगा। नस्ल की दृष्टि से मुस्लिम अन्य भारतवासियों से भिन्न नहीं हैं। भूमि (Homeland) के विचार से वे सारे हिन्दुस्तान में बिखरे पड़े हैं और कहीं एक स्थान पर एकत्रित नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से वे प्रान्तीय भाषाओं को बोलते हैं। रहन-सहन और विचारों की दृष्टि से एक बंगाली हिन्दू में जितना अन्तर है उससे कहीं अधिक एक बंगाली और पंजाबी मुस्लिम में मिलेगा। यदि मुसलमानों को एकता के सूत्र में बांधने वाला कोई बन्धन है तो वह उनका धर्म है यद्यपि उनमें भी शिया और सुन्नियों में आपस में झगड़े होते रहते हैं। किन्तु धर्म की दृष्टि से तो अरब-निवासी, टर्की के निवासी और मिश्र के निवासी मुसलमानों से भी उनकी वही समानता है जो विभिन्न प्रान्तों के मुसलमानों में आपस में हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि उनकी पृथक राष्ट्रीयता की यह बात नहीं मानी जा सकती है। मुस्लिम भारत में एक पृथक

धार्मिक सम्प्रदाय अवश्य है किन्तु राष्ट्र नहीं है। यदि पाकिस्तान एक स्वतन्त्र राज्य बन भी जाय तब भी पाकिस्तान के रहने वाले निवासी समय पाकर एक राष्ट्र भले ही बन जाँय, शेष भारत के निवासी मुस्लिम हिन्दुस्तान के ही अविभाज्य अंग रहेंगे।

क्या भारतवर्ष में अनेक जातियां हैं—गार्नर की परिभाषा के अनुसार एक राष्ट्र में अनेक जातियाँ हो सकती हैं। क्या भारत में भी ऐसा ही है? साम्यवादियों (Communists) का कहना है कि हिन्दुस्तान में अनेक जातियाँ हैं जैसे बँगाली, आसामी, उड़िया, पंजाबी, सिंधी, मदरासी, महाराष्ट्री आदि। यह ठीक है कि इन प्रदेशों में रहने वाले निवासियों में एकता की भावना काफी सबल है यद्यपि वे पृथकता की बात नहीं सोचते। अतएव इन्हें साँस्कृतिक जातियाँ माना जा सकता है।

+++++++

छठा अध्याय

राज्य की उत्पत्ति तथा स्वरूप के सिद्धान्त

एक भ्रमपूर्ण मान्यता की परीक्षा करके उसे अस्वीकृत कर देना भी सत्य तक पहुंचने का एक साधन है''प्राचीन कल्पित सिद्धान्तों से उनकी त्रुटियों को दूर कर देने पर जो सत्य के अंश शेष रहेंगे उनसे ठीक निष्कर्षों तक पहुंचने में बहुत सहायता मिलेगी।

—स्टीफन लीकौक

प्राचीन काल से ही विचारक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सोचते आये हैं। ऐतिहासिक जानकारी के न रहने से इसके अनेक सिद्धान्त प्रचलित हो गये। किन्तु राज्य की उत्पत्ति का प्रश्न कभी भी केवल ऐतिहासिक जिज्ञासा का विषय नहीं रहा। इसके साथ ही राज्य के आधार और उसके औचित्य का प्रश्न भी सामने था। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक व्याख्यायें दी हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण व्याख्याओं पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा।

1 दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त बहुत पुराना है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य ईश्वर के द्वारा और उसी की इच्छा से बना। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त (Divine Origin Theory) का धार्मिक ग्रंथ भी समर्थन करते हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि संसार की रक्षा और कल्याण के हेतु ईश्वर ने राजा को जन्म दिया और इस

प्रकार राज्य की नींव पड़ी। महाभारत में भी इस सिद्धान्त की चर्चा की गई है। यहूदियों के धर्म ग्रंथ (Old Testamant) के अनुसार ईश्वर ने स्वयं अवतार लेकर यहूदी प्रजा पर राज्य किया। मिश्र में राजा को सूर्य देवता का पुत्र माना जाता था और चीन में सम्राट को स्वर्ग-पुत्र कहा जाता था। ईसाई धर्म ग्रंथ बाइबिल में भी यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि 'जितनी भी शक्तियां या सत्तायें हैं, ईश्वर की आज्ञा से हैं।' इस्लाम धर्म में भी मुहम्मद साहब को ईश्वरीय दूत माना गया है। वह एक नये धर्म और राज्य के संस्थापक थे। अन्य धर्म-ग्रंथों में भी इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

इस सिद्धान्त की व्याख्या प्रायः तीन रूपों में की जाती है। (१) ईश्वर ने स्वयँ इस पृथ्वी में आकर राज्य बनाया अथवा शासन किया। (२) राज्य ईश्वर की इच्छा से बने और उसी पर निर्भर हैं। ईश्वर पृथ्वी पर स्वयं नहीं आता, वह अपने प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन करता है। (३) राज्य दैवी इच्छा से बने। ईश्वर ने कुछ व्यक्तियों को शासक बनाया और शेष को प्रजा। उसने लोगों में आज्ञा पालन की भावना को जन्म देकर राज्य को सम्भव बनाया।

इस मत के समर्थकों का कहना यह था कि राज्य एक ईश्वरीय देन है। मध्य कालीन यूरोप में इस सिद्धान्त को लेकर बहुत खींचा-तानी चली। इसके आधार पर चर्च ने राज्य पर और राज्य ने चर्च पर अपने अधिकारों का दावा किया। समय के प्रवाह ने राज्य का साथ दिया और इस संघर्ष में उसकी विजय हुई।

बाद में इस सिद्धान्त ने राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Rights of Kings) के सिद्धान्त को जन्म दिया। ये दोनों सिद्धांत एक दूसरे से सम्बन्धित होने पर भी भिन्न हैं। इस दैवी अधिकार के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि राजा को ईश्वर द्वारा शक्ति प्राप्त होती

है और उसी के प्रति वह उत्तरदायी है। अन्य कोई व्यक्ति राजा के कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठा सकता। उसके प्रति विद्रोह की बातें करना ईश्वर के प्रति विद्रोह है। यदि राजा बुरा शासन करे तो यह समझना चाहिये कि ईश्वर ने प्रजा को उसके पाप-कर्मों का प्रायश्चित कराने के लिये बुरा राजा भेजा है। डा० फिगिस (Figgis) ने इस सिद्धान्त की चार मुख्य बातें बतलाई हैं: (१) राजतन्त्र दैवी इच्छा के अनुकूल है, (२) पैतृक अधिकार का नियम उचित है, (३) राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं, और (४) राजविद्रोह पाप है। इस प्रकार दैवी अधिकार के इस सिद्धान्त को जिसे सर्वप्रथम चर्च के विरुद्ध प्रयोग करने के लिये बनाया गया था, बाद में ऐसी व्याख्या की गयी कि वह राजा की निरंकुशता (Despotism) का समर्थक बन गया।

जब तक धर्म में लोगों की अन्ध-श्रद्धा रही, यह सिद्धान्त ठीक माना जाता रहा। पर बुद्धिवाद के उदय होने से धर्म और राजनीति को पृथक करके राज्य के लौकिक (secular) रूप पर जोर दिया जाने लगा। वैसे भी निरंकुशता का हिमायती होने के कारण यह प्रतिक्रियावाद का पर्यायवाची बन गया और कुछ अत्यन्त पिछड़े लोगों को छोड़कर शेष का इससे विश्वास हट गया।

आलोचना—दैवी उत्पत्ति के राज्य के सिद्धान्त को कई कारणों से नहीं माना जा सकता।

(१) यह राजनीतिक उत्थान में मनुष्य के भाग को भुला देता है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्यों ने राज्य के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया है। आज भी राज्य में जो अनेक परिवर्तन होते हैं वे पूर्णतया मनुष्यों द्वारा किये जाते हैं। अतएव मनुष्य के कामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। (२) यह कहना कि ईश्वर ने राजाओं को ही जन्म दिया

और उसे राजतंत्र पसन्द था, ठीक नहीं है। कम से कम इसका कोई प्रमाण नहीं हो सकता। और यदि यह ठीक भी हो तो ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य प्रजातंत्रीय सरकारें कैसे कायम रह सकती हैं यह समझ में नहीं आता। (३) यह मत प्रतिक्रियावादी है क्यों कि यह राजतन्त्र, निरंकुशता और अनुदारता का समर्थक और प्रगति का विरोधी है।

सत्य का अंश—इस सिद्धान्त के गलत होने पर भी इससे कुछ सच्ची बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। सर्व प्रथम हमें यह पता लगता है कि एक समय धर्म का मनुष्य जीवन पर बहुत प्रभाव था और उसने राज्य के उत्थान में एक महत्वपूर्ण भाग लिया। दूसरे, इससे यह ज्ञात होता है कि मनुष्य में शांति और व्यवस्था के लिये एक स्वाभाविक कामना होती है और यही इच्छा राज्य को जन्म देती है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि ईश्वर ने मनुष्य के मन में राज्य की आवश्यकता को जमा दिया है। तीसरे, जब यह कहा जाता है कि राजा का यह नैतिक कर्तव्य होता कि अच्छा शासन करे तो उससे यही ध्वनि निकलती है कि राज्य का उद्देश्य प्रजा की भलाई है।

II शक्ति सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त (Force Theory) का अभिप्राय यह है कि राज्य शक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ और उसी पर आधारित है। राज्य के उत्थान के पूर्व लगातार युद्ध होते रहते थे। इस लड़ाई के फलस्वरूप शक्तिशाली समूहों ने निर्बल समूहों को अपने आधीन कर लिया और उन पर शासन करने लगे। इस प्रकार कबीलों से राज्य और राज्य से साम्राज्य बने। इस सिद्धान्त के समर्थकों में गम्प्लोविज़ (Gumplowicz), ओपेनहीमर (Oppenheimer),

जैक्स् (E. Jenks), स्मोल (Small) और । वार्ड (Ward) प्रमुख हैं । समाजशास्त्री (Sociologists) और समाजवादी (Socialists) भी इस सिद्धान्त को मानते हैं ।

ओपेन हीमर के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के पूर्व प्रथम अवस्था में लगातार लड़ाई-झगड़े होते रहते थे । चोरी और मारकाट का बाजार गर्म था । कहीं भी शांति न थी । विजेता हारे हुए व्यक्तियों में पुरुषों को तत्काल मौत के घाट उतार देते थे और स्त्रियों और बच्चों को लूट में ले लेते थे । द्वितीय अवस्था में किसानों ने अपने शत्रु शिकारियों और चरवाहों को मार भगाने का प्रयत्न किया किंतु इस कार्य में असफल होकर उन्होंने संघर्ष करना छोड़ दिया । विजेताओं ने भी यह अनुभव किया कि इन्हें मारने के स्थान पर इनसे काम लेना ठीक होगा । इस प्रकार मनुष्य द्वारा मनुष्यों के शोषण (exploitation) का प्रारम्भ हुआ । तीसरी अवस्था में हारे हुये व्यक्ति विजेताओं को उपज का एक भाग देने लगे । बदले में विजेता भी नये आक्रमणों से उनकी रक्षा करने लगे । इस प्रबन्ध में दोनों वर्गों में मेल-जोल हो गया । चौथी अवस्था में साथ-साथ रहने का परिणाम यह हुआ कि समान कठिनाइयों, आवश्यकताओं, दुख-सुख और हार-जीत ने उन्हें एकता के सूत्र में बाँध दिया । पांचवी अवस्था में आपसी झगड़ों को शांतिपूर्वक सुलझाने के लिये पंचों की आवश्यकता हुई और विजेताओं के नेता ने इस कार्य के लिये अपने सहयोगियों को नियुक्त कर दिया । इस प्रकार सरकार का उदय हुआ । अन्तिम अवस्था में सरकार पूरी तरह स्थापित हो गयी । नेता राजा बना और सहयोगी उसकी परिषद के सदस्य । नेता मामलों को सुनता था, आज्ञायें देता था और अपराधियों को दण्ड देता था । इस प्रकार शांति और व्यवस्था कायम हुई और राज्य का जन्म हुआ ।

यों तो यह सिद्धान्त पुराना है पर समाजवादियों ने इसे एक दूसरे ही रूप में लिया है। उनका कहना है कि वर्तमान राज्य शक्ति पर आधारित हैं और शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा निर्बलों के शोषण से उत्पन्न होते हैं। सरकार शोषित वर्गों को आधीनता में रखने के लिये शोषकों की कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है :—

(१) शक्ति शांति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक तो है परन्तु शक्ति ही सब कुछ नहीं है। शक्ति के आधार पर राज्य बनाये तो जा सकते हैं किन्तु उन्हें सदैव कायम नहीं रक्खा जा सकता। राज्य को स्थायी बनाने के लिये जनता की इच्छा को मानना आवश्यक है। जब तक जनमत का आदर न किया जायगा राज्य का आधार निर्बल रहेगा। (२) प्रिंस क्रोपाटकिन (Kropotkin) के अनुसार संघर्ष ने राजनीतिक उत्थान में सहायता अवश्य दी है किंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात है सहयोग। फिर संघर्ष के लिये भी तो समूहों में पारस्परिक सहयोग का होना आवश्यक है यही नहीं विजय के पश्चात् भी शक्ति के बजाय हेल-मेल और समझौते की प्रवृत्तियाँ ही राज्य के विकास में अधिक सहायक होती हैं। (३) शक्ति के ऊपर आधारित सरकार का कोई औचित्य नहीं होता। कोई भी अधिक बलशाली समूह उसे पलट कर अपनी सरकार बनाने के लिये स्वतन्त्र रहता है। किंतु इस प्रकार वैधानिक सरकार का बनना असम्भव हो जायगा। अतः शक्ति के सिद्धान्त को नहीं माना जा सकता। (४) यह नैतिकता की भावना के विरुद्ध है और निर्बल समूहों के प्रति लापरवाही का भाव पैदा करता है। यही नहीं यह सिद्धान्त हिंसा और निरंकुशता को प्रोत्सा-

हन देता है और सामाजिक हित की आवश्यकता को ध्यान में नहीं रखता।

सत्य का अंश—इस सिद्धान्त से इस बात का पता चलता है कि शक्ति ने राज्य के उत्थान और विकास में एक महत्वपूर्ण भाग लिया है और प्रत्येक राज्य के पास शक्ति होती है जिसका उपयोग वह अपनी आज्ञा और कानूनों को मनवाने के लिये कर सकता है। किन्तु यह न भूलना चाहिये कि बिना सामाजिक हित की भावना को अपना ध्येय बनाये राज्य शक्ति के आधार पर अपने को स्थायी नहीं बना सकता।

III सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सिद्धांत पूर्णतया कल्पना पर आश्रित है। इसमें इतिहास की ओर कतई ध्यान नहीं दिया गया। सच तो यह है कि जिस समय इस सिद्धान्त का बोल-बाला था उस समय प्राचीन समाजों के इतिहास की जानकारी थी भी बहुत कम।

यह सिद्धान्त भी बहुत प्राचीन काल से माना जाता रहा है। महाभारत के शान्तिपर्व और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख है। ग्रीस में भी सोफिस्टों (Sophisto) ने लगभग २३ सौ वर्ष पूर्व समझौते (Contract) की बात कही थी। उनका उद्देश्य यह बताना था कि राज्य स्वाभाविक नहीं है। उसके बाद से किसी न किसी रूप में यह सिद्धान्त बराबर प्रचलित रहा है। सामन्तशाही (Feudalism) ने इस सिद्धान्त में एक नया विश्वास पैदा कर दिया। आधुनिक युग में राजतंत्र के विरोधियों ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग राजा के असीमित अधिकारों (absolute rights) के सिद्धान्त के विरुद्ध किया। फिर तो इस सामाजिक समझौते (Social Contract)

के सिद्धान्त को दोनों ही पक्षों ने प्रयोग करना आरम्भ कर दिया और अठारवीं शताब्दी तक इसका खूब बोलबाला रहा।

इस सिद्धान्त का सार यह है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य बिना राज्य के रहता था। इस समय को विचारकों ने नैसर्गिक अवस्था (State of Nature) कहा है। इस अवस्था के सम्बन्ध में लेखक एकमत नहीं हैं। कुछ लोग इसे बहुत खराब हालत बतलाते हैं जहां मनुष्य का जीवन तक सुरक्षित न था और कुछ लोग इसे आराम का समय बतलाते हैं। पर सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि जीवन-रक्षा संबंधी अथवा अन्य किसी कठिनाई के कारण मनुष्य इस नैसर्गिक अवस्था का परित्याग कर देना चाहते हैं अर्थात् उनके मन में परिवर्तन की इच्छा (Desire for change) जाग्रत हो जाती है। इस इच्छा की पूर्ति का साधन उन्हें एक ही दिखलाई पड़ता है : पारस्परिक समझौता (Contract)। इस समझौते के विषय के लेखकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। उनकी राय इस सम्बन्ध में भी एक नहीं है कि इस समझौते का क्या स्वरूप था और इसमें कोई शर्तें लगाई गई थीं अथवा नहीं। उनका कहना है कि इस समझौते के फलस्वरूप राज्य उत्पन्न हो जाता है। इस राज्य के सम्बन्ध में भी वे एकमत नहीं हैं और न नव-निर्मित सत्ता के स्वरूप और अधिकारों के सम्बन्ध में ही उनका विचार एक-सा है।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक सामाजिक समझौते की उपज है। मनुष्य राज्य में इस कारण रहता है कि उसने यह समझौता कर लिया है, अपने स्वभाव के कारण नहीं। यह सिद्धान्त न केवल राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या करता है वरन् यह भी बतलाता है कि शासक और प्रजा के सम्बन्धों का आधार क्या है। नीचे हम इस सिद्धान्त के तीन मुख्य प्रतिपादकों के मतों पर विचार करेंगे।

१. हाब्स का मत—हाब्स (Thomas Hobbes) एक अँगरेज था। उसने गृह-युद्ध (१६४१–१६४६ ई०) के अत्याचारों और उस समय की अराजकता (Lawlessness) को स्वय देखा था। इसके अतिरिक्त उसके जीवन (१५८८–१६७६ ई० तक) में और भी अनेक ऐसी घटनायें हुईं जिन्होने उसे शक्तिशाली सरकार का प्रबल समर्थक बना दिया। वैसे भी वह राजतंत्र का समर्थक था। उसने समझौते के सिद्धान्त को लेकर अपनी पुस्तक Leviathan (१६५१ ई०) में शक्तिशाली सरकार का जिससे उसका तात्पर्य निरंकुश राजतत्र था, समर्थन किया है।

हाब्स के अनुसार स्वभाव से ही मनुष्य स्वार्थी होता है। वह अपने लिये सुख प्राप्त करना चाहता है और इसलिये शक्तिवान बनना चाहता है। वह एकाकी (Solitary) जीवन बिताता है और अन्य व्यक्तियों के सग में उसे दुख मालूम होता है। इसका परिणाम होता है सघर्ष। किन्तु इस संघर्ष में किसी की भी अवस्था ऐसी नही होती कि वह दूसरों को अपने आधीन कर ले। कारण यह है कि इस नैसर्गिक अवस्था में सभी व्यक्तियों में एक नैसर्गिक समानता (Natural equality) भी है। यदि किसी में शारीरिक बल अधिक है तो दूसरे में बुद्धि अथवा चालाकी। इस प्रकार सब मिलाकर न कोई किसी से अधिक है और न कम। फल यह होता है कि सब एक दूसरे से डरते हैं। उस समय उन्हें काबू में रखने वाली सामान्य सत्ता तो होती नहीं इसलिये वे बराबर लड़ते रहते हैं। इस लड़ाई में कोई किसी का साथी नहीं होता। सभी व्यक्तियों की सभी से लड़ाई रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि न शान्ति होती है और न सुरक्षा, न कोई कला होती है और न उद्योग, न कोई साहित्य होता है और न सस्कृति। प्रत्येक मनुष्य को सदा यह डर लगा रहता है कि न जाने कब कौन

उससे मार दे। इसने का तात्पर्य है कि मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, जंगली और अल्पायु होता है।

यह स्पष्ट है कि उपरोक्त नैसर्गिक अवस्था में 'न्याय' और 'अन्याय' तथा 'उचित' और 'अनुचित' की कोई भावना नहीं हो सकती। 'मेरा' और 'तेरा' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जो मनुष्य शक्ति के आधार पर अपने पास रख सके वही उसका है। मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार (Natural rights) उसकी नैसर्गिक योग्यता पर आधारित है। वह जैसे चाहे अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला मामला है ऐसी हालत में ताकत और धोकाधड़ी ये ही दो प्रमुख गुण समझे जाते हैं।

किंतु विवेक (Reason) मनुष्य को समझाता है कि इस दशा को इसी तरह रहने देना वांछनीय नहीं है। इससे निकल कर शान्ति-पूर्वक रहने के लिये वह कुछ आचरण के नियम भी बतलाता है। इन नियमों को हाब्स ने नैसर्गिक कानून (Laws of Nature) कहा है। इनमें प्रमुख तीन हैं: (१) शांति की खोज में रहो। यदि ऐसा सम्भव न दीखे तो जैसे भी हो अपनी जीवन-रक्षा करो, (२) दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा स्वयं कराना चाहते हो। शांति के लिये दूसरों के बराबर ही त्याग करने के लिये तत्पर रहो, (३) जो समझौता किया जाय उसका पालन करो।

पर भावावेश में रहने वाले मनुष्य के सामने विवेक की नहीं चलती। हाँ, यदि विवेक को सहायता देने के लिये एक शक्ति भी हो तो काम चल सकता है। यह शक्ति समझौते द्वारा पैदा की जा सकती है। यदि सभी व्यक्ति अपनी शक्ति को एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को सौंप दें तो जो नई सत्ता उत्पन्न होगी वह इतनी बलवान होगी कि

व्यक्ति उसके सामने मनमानी न कर सकेंगे। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हाब्स एक सामाजिक समझौता कराता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के आधीन कर देते हैं। शर्त केवल यह है कि शेष सभी व्यक्ति भी ऐसा ही करें।

समझौता होते ही राज्य उत्पन्न हो जाता है। नव निर्मित सत्ता के अधिकार अपरिमित (unlimited) हैं क्योंकि उसे सम्पूर्ण शक्ति दे दी गई है। वह उत्तरदायित्वहीन (irresponsible) है और उसके कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता क्योंकि न तो समझौते में उसने भाग ही लिया और न कोई वचन ही दिया। एक बार सत्ता सौंप कर उसे वापस भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि समझौता करने के पश्चात् व्यक्तियों के कोई अधिकार नहीं रह जाते। न तो इस सत्ता का विरोध किया जा सकता है और न इसकी आज्ञा का उल्लंघन हो। ऐसा करना समझौते को ताड़ना होगा जिसका परिणाम होगा राज्य का टूटना। राज्य के भंग होने से फिर वही नैसर्गिक अवस्था लौट आवेगी जिससे बचने के लिये व्यक्ति समझौता करता है।

इस नई सत्ता के ऊपर हाब्स केवल नैसर्गिक कानूनों के बन्धन को मानता है। पर यहाँ भी उसका कहना है कि राज्य सत्ता स्वयं इनकी व्याख्या करती है। हाँ, जहाँ तक जीवन-रक्षा के बुनियादी (Fundamental) अधिकार का प्रश्न है, इस कार्य में असफल होने पर हाब्स व्यक्ति को एक राज्य सत्ता को छोड़कर अन्य राज्यसत्ता बना लेने की स्वतंत्रता देता है जो उसकी रक्षा कर सके।। इस प्रकार वह निरंकुश शासन को आवश्यक समझता है और उसी का समर्थन करता है।

२. लौक का मत--लौक (John Locke) भी एक अँगरेज था। उसके जीवन-काल(१६३२-१७०४ई०)में बहुत समय तक राजा और

पार्लियामेण्ट में संघर्ष चलता रहा। वह राजा के अधिकारों को सीमित करके पार्लियामेण्ट को अधिकार देने के पक्ष में था। सन् १६८८ की रक्तहीन राज्यक्रान्ति (Glorious Revolution) ने प्रजापक्ष को जयमाल पहनाई। लोक ने इस राज्य क्रान्ति को उचित ठहराते हुए अपनी पुस्तक Two Treatises on Government में अपने मत का प्रतिपादन किया है।

लोक के अनुसार नैसर्गिक अवस्था असामाजिक नहीं था। व्यक्ति अपने सभी साथियों के बीच मिल-जुलकर रहना पसन्द करता था। वह झगड़ालू कतई न था। सभी आवश्यकता की वस्तुएँ काफी मात्रा में थीं, इसलिये उनके लिये प्रतियोगिता की कोई जरूरत ही न थी। मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। सभी व्यक्ति समान माने जाते थे और ऊँच-नीच का कोई विचार न था। स्वतंत्र होने पर भी लोग मनमानी नहीं करते थे। किसी व्यक्ति को अपने को या दूसरों को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की छूट नहीं थी। संक्षेप में यह अवस्था पूर्ण शान्ति, मंगल कामना, पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की थी। प्रत्येक व्यक्ति के समान नैसर्गिक अधिकार (Natural Rights) थे। प्रत्येक व्यक्ति बिना हस्तक्षेप अथवा शारीरिक छेड़छाड़ के रहता था। उसकी स्वतंत्रता का आदर किया जाता था और उसके परिश्रम की कमाई को सुरक्षित समझा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त थे। उस समय विवेक पर आधारित आचरण के नियम भी थे। ये नैसर्गिक कानून (Laws of Nature) अलिखित और अस्पष्ट होने पर भी मान्य होते थे क्यों कि दूसरों के अधिकारों का आदर करना आवश्यक समझा जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि यदि उस समय पूर्ण शांति और स्वतन्त्रता थी, द्वेष, घृणा, हिंसा का नाम न था तो इस अवस्था को परिवर्तित करना भी क्या आवश्यकता थी ? लौक के अनुसार इसका कारण था कुछ असुविधाओं का होना। सामाजिक होते हुए भी उस समय व्यक्ति एकदम पक्षपात हीन नहीं था। विशेषतया जब उसका स्वयं मामला होता था तो वह नैसर्गिक कानूनों की अपनी इच्छानुसार व्याख्या करता था। झगड़ा हो जाने पर निपटारा करने के लिये कोई ऐसा निष्पक्ष न्यायाधीश न होता जिसे दोनों पक्षों का पूर्ण विश्वास प्राप्त हो। इन निर्णयों को लागू करने वाली सामान्य सत्ता का भी पूर्ण अभाव था। इन असुविधाओं के कारण अधिकारों का उपभोग कुछ अनिश्चित और अरक्षित (insecure) रहता था। अतएव इन अधिकारों की अच्छी तरह से रक्षा करने के लिये मनुष्य नैसर्गिक अवस्था को त्याग कर समझौते द्वारा राज्य को जन्म देते हैं।

लौक के अनुसार इस समझौते के बाहर कोई नहीं रहता। यह समझौता किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को अधिकार न देकर समाज को ही नैसर्गिक कानूनों की व्याख्या करने और उन्हें लागू करने का भार सौंपता है। व्यक्ति अपने अधिकारों को नहीं सौंपते। समझौते से उनके अधिकारों में कोई कमी नहीं होती। व्यक्ति अपने को नई सत्ता के आधीन नहीं बना लेते, वरन् अपने अधिकारों की रक्षा के हेतु नई सत्ता का स्थापन करते हैं। इस समझौते के अनुसार राज्य उत्पन्न हो जाता है।

राज्य तो उत्पन्न हो गया, पर काम चलाने के लिये सरकार भी तो होनी चाहिये। कानूनों की व्याख्या करने के लिये जन-इच्छा के आधार पर एक व्यवस्थापिका सत्ता (Legisletive power) का निर्माण किया जाता है। साथ ही एक प्रबन्धक विभाग (Executive)

भी बनाया जाता है जो कि लौक के अनुसार व्यवस्थापिका सभा के आधीन होता है। किन्तु उसका स्पष्ट मत है कि कोई भी सत्ता सामान्य हित की भावना के विरुद्ध नहीं जा सकती। साथ ही व्यवस्थापिका सभा अपने अधिकार अन्य किसी सत्ता को हस्तांतरित (transfer) नहीं कर सकती। इस प्रकार, लौक के मतानुसार राजा के अधिकार सीमित हैं और वह पार्लियामेंट की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। कोई भी सत्ता यदि सामाजिक हित के विरुद्ध कार्य करती है तो वह अपना अधिकार स्वयं खो बैठती है और अधिकार देने वाले इसके लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं कि वे पुनः जिसे अपने हितों की रक्षा के लिये उचित समझें अधिकार सौंप दें। सरकार के भङ्ग होने से राज्य के जीवन-काल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि कुछ समय के लिये गड़बड़ी फैल भी जाय तो भी संगठित समाज के लाभ को समझ कर वे शीघ्र उसे स्थापित कर लेंगे।

३ रूसो का मत—रूसो का एक फ्रांसीसी विचारक था। उसके समय (७१२–१७७८ ई०) में उसके देश की हालत बहुत बुरी थी। निरंकुश राजा मनमानी करता था। सामन्त लोग अनेक सुविधाओं का उपभोग करते थे। अन्याय और असमानता का बोल बाला था और प्रजा अत्यन्त दुखी थी। समाज का नैतिक और आर्थिक पतन हो रहा था। रूसो (Jean Jaqcues Rousseau) स्वभाव से ही स्वतंत्रता का उपासक था। वह जनतन्त्र में विश्वास रखता था और यह मानता था कि उसी के अन्तर्गत व्यक्ति सच्ची स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है और नैतिक जीवन बिता सकता है। उसने अपने मत का प्रतिपादन Social contract नामक ग्रंथ में किया है। इसमें नैसर्गिक अवस्था का कोई चित्रण नहीं है। उसके सम्बन्ध में रूसो के विचार इससे ८ वर्ष पूर्व लिखे गये Inequality of Mankind नाम के लेख में

मिलते हैं। उसमें रूसो स्पष्ट स्वीकार करता है कि उसका यह चित्रण ऐतिहासिक नहीं है।

रूसो के लेख से ऐसा पता लगता है कि रूसो प्रारम्भिक अवस्था को आदर्श समझता था। उस समय मनुष्य सीधा-सादा और स्वस्थ था। वह बे-फिक्र और आनन्द से एकाकी जीवन बिताता था। उसकी आवश्यकतायें बहुत कम थीं और वे सरलता से पूरी भी हो जाती थीं। वह केवल दो दुखों को जानता था। एक तो शारीरिक दुख और दूसरी भूख। वह एक दम अज्ञान था और पाप-पुन्य तथा बुराइयों के विचार से सर्वथा अपरिचित था। पर उसका यह आनन्दपूर्ण और चिंता-हीन जीवन अधिक समय तक न रहा। जन-संख्या के बढ़ने से लोगों को कठिनाइयां भी बढ़ने लगीं। वे शिकार करने और मछली पकड़ने के काम अपनाने लगे। मनुष्य को भविष्य की चिन्ता होने लगी। वह कुछ समझदार भी हो गया। वह कुटिया बनाकर रहने लगा और चमड़े के कपड़े बनाकर पहनने लगा। इसी समय परिवार का भी धीरे-धीरे उदय हो रहा था। 'मेरा' और 'तेरा' का भाव बढ़ने लगा। लोग भूमि का घेरा बनाकर उसे अपनाने लगे। इस प्रकार सम्पत्ति की नींव पड़ी और उसी के साथ ही ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, बड़े-छोटे के भेद बढ़ने लगे। लोगों में द्वेष-भाव फैलने लगे और अन्याय, अत्याचार तथा असमानता का बोल-बाला हो गया। इस प्रकार मनुष्य जो एक दिन स्वतन्त्र था अब दासता की बेड़ी में जकड़ गया।

रूसो इस बात को स्वीकार करता है कि इन बन्धनों से छुटकारा पाकर पुनः प्रारम्भिक अवस्था को लौटना सम्भव नहीं है किन्तु यह तो किया ही जा सकता है कि यह जंजीर उसके लिये बाहरी हथकड़ियां न होकर उसकी शोभा बढ़ाने वाले आभूषण बन जांय। सारांश यह कि शक्ति के ऊपर आधारित सत्ता जन-इच्छा पर आश्रित हो जाये। अत·

एव उसका उद्देश्य एक ऐसा राज्य स्थापित करना था जिसमें सब व्यक्ति मिलकर ऐसे रहें कि सामूहिक शक्ति से उनकी रक्षा भी हो सके और उन्हें किसी बाहरी शक्ति की आधीनता भी स्वीकार न करनी पड़े। यानी वह जनतन्त्र का समर्थक होने के नाते निरंकुश शासन का उजन्मूलन कर जनता का शासन स्थापित करना चाहता था। इसके लिये उसने भी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का आश्रय लिया।

इस समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सारे अधिकारों को सारे जन-समूह को सौंप देता है। अधिकारों का यह समर्पण बिना शर्त के होता है और सभी व्यक्तियों की दशा एक-सी है। इसका फल यह होता है कि नये समुदाय का जन्म होता है जिसे राज्य कह सकते हैं। इसमें कोई व्यक्ति किसी के भी आधीन नहीं क्योंकि अधिकार समष्टि को दिये गये हैं और सभी की दशा समान है। इस प्रकार व्यक्ति जो एक हाथ से देता है समष्टि से वही दूसरे हाथ में पा जाता है। भेद केवल इतना है कि पहले उसकी स्वतन्त्रता और उसके अधिकार अपनी शक्ति पर आधारित थे किन्तु अब राज्य उनकी देख-भाल करता है। यह राज्य कुछ भी नहीं केवल उसकी सामूहिक हित की भावना का ही एक रूप है। इस सामूहिक हित की भावना को रूसो ने 'सामान्य इच्छा' (General will) कहा है। रूसो का विश्वास है कि यह इच्छा विवेक पर आधारित होती है और सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है, भले ही वह स्वार्थ के चक्कर में पड़ कर उस पर ध्यान न दें। राज्य में यही 'सामान्य इच्छा' सर्वोच्च होती है। इसको प्रकट करने और लागू करने के लिये कुछ राज्य कर्मचारी चुने जाते हैं। ये पदाधिकारी अथवा कर्मचारी राज्य या संगठित समाज के एजेन्ट के समान हैं इनके काम की देख-भाल रखने की बहुत आवश्यकता है और

यदि ये ठीक से काम न करें तो इन्हें हटा देना ही उचित है। इनके साथ पर नई नियुक्तियाँ कर दी जानी चाहियें।

आलोचना—कुछ समय तक इस सिद्धान्त की काफी चर्चा रही किन्तु १९ वीं शताब्दी में ऐतिहासिक खोजों ने इसकी पोल खोल दी और अब इस सिद्धान्त को नहीं माना जाता। इसकी आलोचना कई कारणों से की जाती है। (१) यह सिद्धान्त इतिहास-विरुद्ध है। इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जब कि राजनीतिक जीवन से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्तियों ने मिलकर समझौते द्वारा राज्य बनाया हो। इंगलैण्ड से अमेरिका में जाकर बसने वाले मेफ्लावर (Mayflower, 1620 A. D.) के यात्रियों का उदाहरण इस सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता क्योंकि उन्हें राज्य का अनुभव पहले से ही प्राप्त था। (२) इतिहास और मानवशास्त्र (Anthropology) की खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सदा से समाज में रहता आया है। अतएव नैसर्गिक अवस्था का विचार मान्य नहीं हो सकता है। (३) इसके अतिरिक्त हमें यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल में समाज की इकाई व्यक्ति न होकर क्रमशः टोटम, कुल, कुनबा और परिवार था। व्यक्ति को तो कहीं आधुनिक युग में आकर समाज की इकाई माना गया है। किंतु इस मत के सभी प्रतिपादकों ने नैसर्गिक अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है जैसे प्राचीन काल में व्यक्ति ही सब कुछ हो। (४) नैसर्गिक अवस्था की सूझ एक दम कल्पित है और इसी कारण विद्वानों ने अपनी इच्छानुसार इसका चित्रण भी किया है और इस सिद्धान्त से मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। (५) राज्य कभी एक दिन में नहीं बने और न राजनीतिक चेतना ही पलक मारते पैदा हो गई। राज्य का विकास शनैः शनैः हुआ। पर यह सिद्धान्त हमें विश्वास दिलाना चाहता है कि

राज्य एक दिन में बन गया। (६) समझौते हमेशा कानून के अन्तर्गत किये जाते है, यदि उन्हें मनवाने वाली पहले से उपस्थित कोई निष्पक्ष शक्ति न हो तो उनका कोई उचित आधार नहीं हो सकता। किन्तु इसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है। अतएव ऐसा समझौता यदि हो भी तो अवैध समझा जायगा। (७) समझौते की शर्तें पीढ़ी दर पीढ़ी लागू नहीं होती। जो समझौता करते है उन्हीं पर लागू होता हैं। पर यहां ऐसा नहीं है। (८) समझौता तभी तक लागू रहता है जब तक उसमें उल्लेखित दशायें बनी रहें। किन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इस बात पर कोई ध्यान नहीं देते। (९) समझौता साधारणतया किन्हीं दशाओं में तोड़ा भी जा सकता है। यदि राज्य का आधार समझौता माना जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि व्यक्ति राज्य से अलग भी हो सकता है। पर ऐसा नहीं होता। (१०) समझौते पर आधारित वस्तु के साथ व्यक्ति का वहीं तक सम्बन्ध होता है जहां तक वह उसका हित साधन करे। किन्तु मनुष्य का राज्य के साथ सम्बन्ध भिन्न प्रकार का होता है। राज्य के लिये व्यक्ति अपना सब कुछ अर्पण करने के लिये तत्पर रहते हैं। यह स्पष्ट है कि राज्य को अच्छे जीवन के लिये आवश्यक समझा जाता है। (११) यदि नैसर्गिक अवस्था में व्यक्ति राज्य और शासन प्रणाली से सर्वथा अपरिचित थे, जैसा कि इस मत के प्रतिपादक कहते हैं, तो उन्होंने कैसे राज्य की स्थापना की बात सोची। यह दोनों ही बातें एक दूसरे की विरोधी हैं। यदि उसे राज्य का ज्ञान था तो एकदम राज्य के जन्म की बात गलत प्रमाणित होती है और यदि उसे ज्ञान न था तो भी यकायक वह राज्य बना ही नहीं सकता था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त एकदम कल्पित है।

सत्य का अंश—इस सिद्धान्त में त्रुटिपूर्ण होने पर भी इस ओर ध्यान दिलाया कि बिना जनता की इच्छा अथवा स्वीकृति के किसी

राज्य का उचित आधार नहीं हो सकता। बाद में इसने राज्य के कार्यों के लिये भी जनता की स्वीकृति पर ज़ोर दिया और इस प्रकार जनतंत्र के विकास में बहुत सहायता पहुंचाई।

IV पितृ-प्रधान और मातृ-प्रधान सिद्धान्त

यह मत विकासवादियों का है। इन विद्वानों का कहना यह है कि राज्य का धीरे-धीरे विकास हुआ है। इनका मत यह है कि मनुष्यों का प्रारम्भिक समुदाय परिवार था। उसी के विकास के फलस्वरूप राज्य का जन्म हुआ।

पितृ-प्रधान सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हेनरी मेन (Sir Henry Maine) प्रमुख हैं। इन्होंने प्राचीन समाजों का अध्ययन किया था। अध्ययन के फलस्वरूप वह इस परिणाम पर पहुंचे कि राज्य का निर्माण परिवार के विकास से हुआ है। इनके मतानुसार ये परिवार पितृ-प्रधान (Patriarchal) थे। इसमें पिता को अपरिमित अधिकार प्राप्त होते थे। एक प्रकार से वह परिवार का निरंकुश शासक होता था और परिवार के सदस्यों को मृत्यु-दण्ड तक दे सकता था। विवाह करने, गोद लेने, जीतने और अन्य उपायों से ये परिवार बढ़ने लगे। थोड़े समय बाद एक परिवार के कई परिवार बन गये जो सामूहिक रूप से एक कुनबा (Gens or House) कहलाने लगे। इस कुनबे का प्रधान सबसे वृद्ध पुरुष होता था। इसी प्रकार कई कुनबों के बन जाने पर कबीला (Tribe) बन गया और कई कबीलों से मिलकर राज्य बना। इनमें वंश-गणना पिता के नाम से होती थी।

मातृ-प्रधान सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का मुख्य समर्थक मेकलेनन (Mclennan) है। यह राज्य के विकास को तो वैसे ही मानता है जैसा कि हेनरी मेन ने बताया है। पर इसका कहना यह है कि प्रार-

म्भिक परिवारों के प्रधान पुरुष न होकर स्त्रियाँ ही होतीं थी। वे ही सम्पत्ति की स्वामिन होती थी। वह स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध (Promiscuous Sex reclationship) का युग था। अतएव केवल माँ के सम्बन्ध में ही निश्चित रूप से कहा जा सकता था। स्वाभाविकतः ही वंश-गणना भी माँ के नाम से होती थी *। अतएव इन परिवारों को मातृ प्रधान (Matriaochal) कहा जाता है। इन्हीं परिवारों से कुनबा, कुनबों से कबीला, और कबीलों से राज्य बना।

आलोचना—ये सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के विषय में ठीक बातें नहीं बतलाते। जहा तक परिवारों का प्रश्न है कहीं पितृ-प्रधान और कहीं मातृ-प्रधान परिवारो का पहले जन्म हुआ। अतएव इनमें से किसी को भी प्रधानता नहीं दी जा सकती। (२) यह कहना कि परिवार के विस्तार से राज्य बना, वास्तविकता को उलट देना है। आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक विकास टोटम से कबीले, कबीलों से कुनबे और कुनबों से परिवार—इस प्रकार हुआ। अब परिवार भी एक सामाजिक इकाई नहीं रहा। यह स्थान अब व्यक्ति ने ले लिया है। अतएव ये सिद्धान्त भ्रमपूर्ण हैं। (३) यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति पर गम्भीरता से विचार नहीं करता केवल सामाजिक विकास का एक काल्पनिक चित्र उपस्थित करता है और वह भी त्रुटिपूर्ण प्रमाणित हो गया है।

---

* मैकाइवर के अनुसार माँ का यह पद व्यक्तिगत होने के स्थान पर सामाजिक ही अधिक था। वस्तुतः अधिकार माता का भाई उपयोग में लाता था। इस प्रकार के परिवार आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों, त्रावनकोर और अन्य स्थानों में अब भी किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं।

सत्य का अंश—इन सिद्धान्तों से दो सचाइयों पर ध्यान जाता है। सर्वप्रथम तो यह कि राज्य का विकास क्रमिक (gradual) हुआ और दूसरे यह कि इस विकास में रक्त-संबंध पर आधारित समुदायों ने भी एक महत्वपूर्ण भाग लिया।

V विकासवादी अथवा ऐतिहासिक मत

आपने देखा कि ऊपर बताये गये सिद्धान्तों में कोई भी त्रुटि रहित नहीं है यद्यपि उनमें से सभी सत्य के किसी न किसी अंश का उद्घाटन करते हैं विकासवादी अथवा ऐतिहासिक मत (Evolutionary or Historical view) यह है कि राज्य क्रमिक विकासका परिणाम है। न तो इसे ईश्वर ने बनाया, न यह पाशविक शक्ति के परिणाम स्वरूप बना, न इसका निर्माण समझौते के कारण हुआ और न यह परिवार के विस्तार मात्र का फल है। यह कभी किसी विशेष समय समझ सोच कर बनाया भी नहीं गया वरन् बहुत समय में धीरे-धीरे जाकर कहीं बन पाया है। इसके विकास का प्रारम्भ भी ऐसी रहस्यमय बात है जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यहां केवल यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है। जहां तक हम जानते हैं वह सदा से समाज में रहा है। इस समाज का स्वरूप बराबर बदलता रहा है। पीछे हम इस विकास पर विचार कर आये हैं। यहा हम केवल यही कह सकते है कि सामाजिक विकास की एक अवस्था ऐसी आती है जब राज्य उत्पन्न हो जाता है। राज्य के निर्माण में जिन महत्वपूर्ण शक्तियों ने भाग लिया उनका नीचे विवेचन किया जायगा।

रक्त-सम्बन्ध—इसमें कोई सन्देह की बात ही नहीं है कि प्रारम्भिक समुदायों का आधार रक्त-सम्बन्ध (Kinship) था। यह महत्वपूर्ण बात नहीं है कि यह रक्त-सम्बन्ध वास्तविक था या कल्पित, वरन् यह

है कि पूर्वजों और बड़ों के प्रति श्रद्धा ने लोगों को एकता के सूत्र में बांध दिया। इसका तात्पर्य यह है कि संगठन का बुनियादी कारण भी यही था, कारण तो उसका था मनुष्य की सामाजिकता यानी समाज की मनुष्य के लिये स्वाभाविकता और आवश्यकता। किंतु जो सर्वप्रथम समूह बने वे थे रक्त-सम्बन्ध पर आधारित। बाहरी व्यक्तियों और समुदाय के साथ शत्रु जैसा व्यवहार किया जाता था। रक्त-सम्बन्ध ने सामाजिक संगठन तो बनाये किन्तु उसने राज्य को जन्म न दिया।

धर्म—धर्म ने इस एकता को सुदृढ़ बनाने में बहुत काम किया। प्रोफेसर गैटिल (Gettell) के अनुसार प्रारम्भिक समाज में रक्त-सम्बन्ध और धर्म (Religion) एक ही वस्तु के दो पक्ष थे। प्रत्येक टोटम अथवा कबीले का अपना पृथक धर्म होता था। वे अपने पूर्वजों की और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे। उनका प्रधान केवल उनका सामाजिक नेता ही नहीं होता था वरन् उनका सर्वोच्च धर्माधिकारी भी होता था। जो उनके धर्म को न मानते थे वे विदेशी समझे जाते थे। धार्मिक कृत्य गुप्त रूप से किये जाते थे। गोद लेने का तरीका ही यह था कि उस व्यक्ति को समूह के धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित कर लिया जाता था। फिर वह उस समाज का ही एक सदस्य हो जाता था। इस प्रकार धर्म ने केवल सामाजिक एकता को ही दृढ़ता प्रदान नहीं की वरन् लोगों में अनुशासन और आज्ञा-पालन की भावना को भी जन्म दिया। प्रोफेसर गैटिल के अनुसार 'राजनीतिक विकास के सबसे प्राचीन और कठिन समय में केवल धर्म ही बर्बरता-पूर्ण अराजकता का अन्त कर श्रद्धा और आज्ञा पालन की शिक्षा दे सकता था। उस अनुशासन और सत्ता की आधीनता स्थापित करने

के लिये जो सभी सरकारों की आधार हैं, सहस्रों वर्षों की आवश्यकता पड़ी होगी।*

शांति और व्यवस्था की आवश्यकता—प्रारम्भिक काल में समूह बराबर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम होता था आपसी संघर्ष और युद्ध। इस संघर्ष के कारण इस बात की बड़ी आवश्यकता पड़ी कि समूहों की आन्तरिक एकता सुदृढ़ हो। जब यह संघर्ष बढ़ने लगे तो नेतृत्व वृद्धों के हाथों से वीर युवकों के हाथों में चला गया। वृद्ध लोग युवकों को परामर्श दिया करते थे। शक्तिशाली समूहों ने धीरे-धीरे दुर्बल समूहों को जीत कर अपने क्षेत्र की सीमा को बढ़ाना शुरू कर दिया। यही नहीं वरन् युद्ध की आवश्यकताओं ने उन्हें इस बात के लिये बाध्य कर दिया कि वे विजित समूहों को भी रियायत देकर अपना साथी बना लें जिससे उनकी शक्ति आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने में ही क्षीण न हो जाय।

आर्थिक आवश्यकतायें—इस समय तक कृषि को अपनाने से एक स्थायी और व्यवस्थित जीवन का सूत्रपात हो गया था। एक साथ गाँव में रहने से, साथ ही युद्ध करने और दुख-सुख सहने से गाँव-निवासियों में एकता की भावना बढ़ने लगी थी। रक्त-सम्बन्ध का बन्धन शिथिल होने लगा था विभिन्न वर्गों का सम्मिश्रण होने लगा था। भौमिक एकता की भावना प्रधान हो गई थी। भूमि की रक्षा का प्रश्न मुख्य बन गया। जैसे जैसे आर्थिक जीवन में उन्नति होती गई, सम्पत्ति सम्बन्धी सुस्पष्ट कानूनों की आवश्यकता बढ़ती गई। साथ ही

* देखिये Professor Gettell, **Introduction to Political Science**. p-45.

आपसी झगड़ों के निपटारा करने के लिये निर्णायकों की भी आवश्यकता पड़ने लगी। इनके बिना आर्थिक विकास में बाधा पड़ रही थी। प्राचीन सामाजिक प्रथायें परिवर्तित दशा में ना काफी साबित हो रही थीं।

राजनीतिक चेतना—सामाजिक और आर्थिक जीवन को व्यवस्थित करने की आवश्यकता समझी जा रही थी। राजनीतिक चेतना भी धीरे-धीरे बढ़ रही थी। इसी के फलस्वरूप सरकार और कानून का उदय हुआ और उसी के साथ राज्य का भी।

राज्य को बनाने वाली शक्तियों को आपने देखा। इन शक्तियों ने प्रायः मिल कर प्रभाव डाला है। इनमें कोई भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सभी ने समान रूप से राज्य के निर्माण में सहायता दी है।

VI शारीरिक कल्पना का सिद्धान्त

अभी तक हम राज्य की उत्पत्ति पर विचार करते आये हैं। यहाँ हम एक अन्य सिद्धान्त पर भी विचार करेंगे। शारीरिक कल्पना अथवा सामाजिक शरीर के सिद्धान्तों को कुछ लेखकों ने राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त कहा है। यह विचार भ्रमात्मक है। वस्तुतः यह सिद्धान्त राज्य के स्वरूप का है।

यह एक अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है और साथ ही बहुत लोकप्रिय भी है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने राज्य की तुलना एक बड़े आकार के मनुष्य से दी थी। उसके पश्चात् से अनेक विद्वानों ने राज्य की तुलना शरीर से दी है। इनमें प्रमुख हैं हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) और ब्लंटश्ली (Bluntschli)।

इस सिद्धान्त का सार यह है कि राज्य एक बहुत बड़ा प्राकृतिक जीवित शरीर है। राज्य और अन्य जीवित प्राणियों में अनेक समतायें

हैं। जिस प्रकार प्राणियों के शरीर भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित होते हैं राज्य के भी अनेक भाग हैं। जिस प्रकार प्राणियों का जीवन उनके भागों के ठीक से संचालन पर निर्भर है, राज्य में भी ऐसा ही है। राज्य अथवा समाज के भाग व्यक्ति हैं। समाज में भी व्यक्ति शारीरिक अवयवों के समान एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क होता है जो अन्य भागों का नियंत्रण करता है उसी प्रकार समाज में भी सरकार नियंत्रण करती है। शरीर में भागों के समान ही समाजका व्यक्ति से सम्बन्ध स्थायी है। जैसे शरीर में मस्तिष्क का कार्य सम्पूर्ण शरीर की भलाई है, उसी प्रकार सरकार का उद्देश्य भी ऐसे कार्य करना है जिसमें समाज का हित हो। इसी प्रकार की अन्य समानतायें भी बतालाई जाती हैं जिन पर ध्यान देना यहा आवश्यक नहीं है।

आलोचना—इस सिद्धान्त के कारण विचारों में एक बड़ी उलझन पैदा हो गई है और इससे कुछ लोग बहुत भ्रमपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंच गये हैं। इस आधार पर कुछ लोगों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि जिस प्रकार शरीर में उसके अवयव गौण है उसी प्रकार समाज में व्यक्ति भी गौण है। समाज ही मुख्य है। समाज और राज्य के हित के लिये व्यक्ति को अपना बलिदान करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में फासिस्ट तो यहां तक बढ़ गये हैं कि वे कहते हैं कि व्यक्ति एक साधन मात्र है। व्यक्तिगत विकास की बात करना कोरी मूर्खता है। स्पष्टतया ऐसे किसी भी विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता जो व्यक्ति के महत्व और उसके विकास की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता। (२) इसके अतिरिक्त इस तुलना से इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं कि जिस प्रकार शरीर का अवयव शरीर से पृथक होकर अपना जीवन नहीं बिता सकता, राज्य के बाहर व्यक्ति का भी कोई जीवन नहीं

हो सकता। यहाँ यह भुला दिया जाता है कि व्यक्ति एक राज्य की सदस्यता त्याग कर दूसरे राज्य की नागरिकता स्वीकार कर सकता है यह बात साधारणतया शारीरिक अवयवों पर लागू नहीं होती। (३) समाज में कोई अपना स्वतन्त्र मस्तिष्क नहीं होता जैसा कि शरीर में होता है। इसके विपरीति समाज में प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि और इच्छा शक्ति पृथक होती है। अतएव यह तुलना मेल नहीं खाती। (४) जिस प्रकार शारीरिक अवयवों में तनिक सी तकलीफ होने पर भी समस्त शरीर को कष्ट होने लगता है, उसी प्रकार व्यक्तिगत हानि राज्य को कष्ट नहीं पहुंचाती। (५) शरीर एक पुराने शरीर से उत्पन्न होता है और नये जीवों को जन्म देता है। राज्य के साथ ऐसा नहीं होता। (६) शरीर के अवयवों का बाहरी प्राणियों से कोई स्वतन्त्र सम्पर्क नहीं होता, किंतु व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का सदस्य हो सकता है। उसके कार्य और जीवन राज्य तक ही सीमित नहीं हैं।

इन बातों से यह पता लगता है कि यद्यपि यह तुलना कुछ सीमा तक ठीक है किन्तु जीवों के शरीर की बातों को पूर्णतया राज्य पर नहीं घटाया जा सकता। फिर राज्य और समाज भी दो भिन्न बातें हैं। उनको एक बतलाना गहरी भूल है।

सत्य का अंश—यह सिद्धान्त राज्य की एकता पर ध्यान दिलाता है और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालता है। साथ ही वह यह भी बतलाता है कि राज्य में भी अन्य शरीरों के ही समान परिवर्तन होते रहते हैं।

—००—

सातवाँ अध्याय

राज्य सत्ता

पूर्ण स्वतन्त्रता जैसी कोई वस्तु नहीं होती—सब मिलाकर भी राज्य सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता क्यों कि वाह्य रूप से वह दूसरे राज्यों के अधिकारों से सीमित रहता है और आन्तरिक रूप में स्वयं अपने स्वरूप और अपने सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों से।

—ब्लंटश्ली

I राज्य सत्ता का तात्पर्य

राज्य की व्याख्या करते समय आपने देखा कि राज्य के चार तत्वों में राज्य सत्ता अथवा राज्य शक्ति (Sovereignty) भी एक है। यही वह महत्वपूर्ण तत्व है जो राज्य को अन्य साधारण समुदायों से पृथक कर देता है। राजनीतिक विचारकों का यह मत है कि राज्य वाह्य रूप से तो स्वतन्त्र होता ही है किन्तु उसमें एक ऐसी सत्ता का होना भी आवश्यक है जो सर्वोच्च अथवा सर्वोपरि (Supreme) हो। अर्थात् राज्य के अन्दर जिसकी सभी आधीनता स्वीकार करते हों। इसी शक्ति को उन्होंने 'राज्य सत्ता' अथवा 'राज्य प्रभुता' कहा है और इस शक्ति के धारण करने वाले को 'राज्य सत्ताधारी' (Sovereign) का नाम दिया है।

राज्य सत्ता की विद्वानों ने अनेक परिभाषायें दी हैं। फ्रांसीसी विद्वान वोदाँ (Bodin) के अनुसार 'कानून के नियन्त्रण से बरी

नागरिकों और प्रजा पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति' का नाम ही राज्य प्रभुता है। विलोग्बी (Willoughby) के अनुसार यह 'राज्य की सर्वोच्च इच्छा' का नाम है। अमेरिकन विद्वान बर्गेस (Burgess) ने इसे 'प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति और उसके समस्त समुदायों के ऊपर एक मौलिक, अनियन्त्रित और अपरिमित शक्ति' बताया है। आगे चलकर वह कहते हैं कि यह बिना किसी से प्राप्त हुई एक ऐसी स्वतन्त्र शक्ति होती है जिसकी आज्ञा मानी जाती और जो अपनी आज्ञा मनवा सकती है।+ अंग्रेज विद्वान ऑस्टिन (John Austin) कहते हैं कि 'यदि कोई ऐसा निश्चित सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) हो जो स्वयं तो अन्य किसी सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) की आज्ञा मानने का आदी न हो किन्तु जिसकी आज्ञा का पालन साधारणतया उस समाज के अधिकांश व्यक्ति करते हों तो ऐसा व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) उस समाज का राज्य सत्ताधारी है और वह समाज राजनीतिक और स्वतंत्र है।❀

+देखिये Burgess : I 'understand by it the original, absolute unlimited power over the individual subject and over all association of subjects. It it the underived and independent power to command and compel obedience.'

❀देखिये John Austin : 'If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society and the society including the superior is a society political and independent.'

ऑस्टिन की इस परिभाषा का विवेचन करने से आपको पता चलेगा कि राज्य सत्ता के सम्बन्ध में उसने चार मुख्य बातें बतलाई हैं। (१) राज्यसत्ता हमेशा किसी मनुष्य या उसके समूह के पास पाई जाती है। (२) यह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह निश्चित होना चाहिये। (३) यह निश्चित व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह बाह्य रूप में पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिये। वह किसी अन्य राज्य सत्ताधारी के आधीन नहीं होना चाहिये। (४) उसकी आज्ञा का पालन अधिकांश नागरिक स्वाभाविक रूप से करते होने चाहिये।

ऑस्टिन की इस परिभाषा की कुछ विद्वानों ने बड़ी आलोचना की है। इनमें सर हेनरी मेन, सिज़विक और लार्ड ब्राइस प्रमुख हैं। उनका कहना है कि यह मत तथ्यों के अनुसार नहीं है। लार्ड ब्राइस कहते हैं कि यह केवल दो प्रकार के राज्यों में लागू हो सकता है: प्रथम जहाँ अपरिमित राजतंत्र है अथवा जहाँ सर्व शक्तिमान व्यवस्थापिका सभा है। शेष सभी राज्यों में सत्ता किसी न किसी रूप में परिमित है। सयुक्त राष्ट्र, अमेरिका में एक कठोर विधान (rigid constitution) है जो अधिकारों को सीमित करता है। पिछड़ी जातियों में रीति-रिवाजों और परम्पराओं का बोल-बाला होता है। (२) यह परिभाषा सघ राज्यों में लागू नहीं होती क्योंकि उसमें कोई भी सर्वशक्तिमान सत्ता नहीं होती। सत्ता केन्द्र और इकाइयों में विभाजित होती है और दोनों ही सत्तायें अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होती हैं। (३) यह न तो मतदाताओं पर ध्यान देती है और न जनमत पर यद्यपि वास्तविक जीवन में इन दोनों का ही स्थान महत्वपूर्ण है और राज्य सत्ताधारी को इनका पूरा ध्यान रखना होता है। (४) यह राज्य सत्ताधारी को निरकुश बताता है, यद्यपि यह बात न तो ठीक है और न उचित ही। (५) ऑस्टिन राज्य सत्ताधारी को कानून का एकमात्र स्रोत बतलाता है

यद्यपि ऐसा नहीं है। इस समस्या को हल करने के लिये वह कहता है कि राज्य सत्ताधारी जिस बात को होने देता है, वही उसकी आज्ञा है। किंतु इस मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता (६) ऑस्टिन के मतानुसार राज्य सत्ताधारी एक निश्चित व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह होना चाहिये किंतु संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ऐसा नहीं है। वहां शासन विधान को परिवर्तित करने के कई ढंग हैं फिर राज्य सत्ताधारी किसे कहा जाय और सविकालन समय में किसे राज्य सत्ताधारी माना जाय? इस प्रकार यह परिभाषा सभी राज्यों में लागू नहीं होती।

II राज्यसत्ता के लक्षण

राजनीतिक के अनेक विद्वानों ने राज्यसत्ता के लक्षणों (Attributes) का उल्लेख किया है। यहां इन पर एक-एक करके विचार किया जायगा जिससे राज्यसत्ता का तात्पर्य आप अच्छी तरह समझ जावें।

अनियंत्रितता—आपने बर्गेस की परिभाषा में देखा कि राज्यसत्ता को अनियंत्रित (absolute) कहा गया है। जब तक शक्ति अनियंत्रित नहीं होती, उसे सर्वोच्च अथवा सर्वोपरि नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त की दृष्टि से राज्य जो चाहे कर सकता है। उसके ऊपर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाई जा सकती। राज्य की इस शक्ति के दो रूप हैं: आंतरिक (internal) और बाह्य (external)। आंतरिक दृष्टि से राज्य का समस्त नागरिकों और समुदायों के ऊपर पूर्ण अधिकार होता है। कानून द्वारा उसकी शक्ति को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, यद्यपि सरकार के अधिकारों पर रोक लगाई जा सकती है। पर राज्य स्वयं अपनी इच्छा से बन्धन स्वीकार कर सकता है। प्रोफेसर गार्नर कहते हैं कि 'नैतिक कानून, नैतिकता के सिद्धान्त ईश्वर का भय, विवेक और मानवता के विचार जनमत का भय, और

अन्य तथाकथित राज्य की सत्ता पर नियंत्रण उस समय तक कोई अर्थ नहीं रखते जब तक राज्य स्वयं उन्हें मानकर लागू न करे ❀। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कोई भी राज्यसत्ता को नियंत्रित अथवा सीमित करता है। जहाँ तक राज्यशक्ति के वाह्य पक्ष का प्रश्न है राज्य पूर्णतया स्वतंत्र होता है। अन्य कोई राज्य बलपूर्वक उससे कुछ नहीं मनवा या करवा सकता। विदेशी राज्यों के साथ सन्धियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संघ की सदस्यता से उसकी वाह्य शक्ति में कोई कमी नहीं आती। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वेच्छा से वह चाहे जो भी बन्धन मान ले कोई बाहरी ऐसी शक्ति नहीं हो सकती जो कानूनन उसे किसी भी विषय में बाध्य कर सके।

अविभाज्यता—राज्यसत्ता को टुकड़ों में नहीं बाटा जा सकता। एक राज्य मे केवल एक ही सर्वोच्च सत्ता हो सकती है। उसके साथ में अन्य समानान्तर (Parellel) सत्ता नहीं हो सकती। राज्य के सभी नागरिकों को उस सत्ता को स्वीकार करके उसकी आज्ञा का पालन करना होता है। प्रोफेसर गैटिल (Gettell) के अनुसार 'जहाँ राज्यसत्ता अनियंत्रित नहीं है वहाँ राज्य भी नहीं है: राज्यसत्ता यदि विभाजित है तो एक से अधिक राज्य हैं।' वास्तव में राज्यसत्ता के विभाजन की बात करना उसे नष्ट कर देने के समान है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकारी काम अथवा अधिकारों को नहीं बाँटा जा सकता। संघ शासन (Federation) में यही होता है। पर जहाँ तक राज्यसत्ता का प्रश्न है वह अविभाज्य (Indivisible) है।

❀ देखिये J. W. Garner. **Political Science and Government** p. 184

व्यापकता—राज्यसत्ता राज्य की सीमा में सर्वव्यापक (All. comprehensiue) होती है। कोई भी प्रदेश, व्यक्ति या समुदाय उससे बरी नहीं हो सकता। किंतु राज्य यदि चाहे तो अपनी इच्छा से अपनी सत्ता को परिमित कर सकता है। ऐसा विदेशी राजदूतों दूतावासों, विदेशी राजाओं आदि के सम्बन्ध में किया जाता है। प्रोफेसर गिलक्राइस्ट के अनुसार 'यह तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्यता की बात है और कोई वास्तविक अपवाद नहीं है। कोई भी राज्य अपनी राज्य-शक्ति का उपयोग कर जब चाहे इन दी हुई सुविधाओं को वापस ले सकता है।'

अदेयता—राज्य सत्ता अदेय (inalienable) है। कोई राज्य बिना अपना हनन किये राज्यसत्ता दूसरे को नहीं सौंप सकता। ऐसा करने से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा और वह एक दूसरे राज्य का भाग मात्र रह जायगा। इसी बात को ध्यान में रख कर प्रोफेसर लीबर (Lieber) ने कहा है, 'जैसे कोई वृक्ष अपने उगने का अधिकार नहीं दे सकता अथवा कोई व्यक्ति बिना अपने को नष्ट किये अपने जीवन तथा व्यक्तित्व को नहीं दे सकता, इसी प्रकार राज्य-सत्ता भी नहीं दी जा सकती।'

स्थायित्व—राज्यसत्ता राज्य का एक स्थायी (Permanent) तत्व है। समय के साथ यह कभी नष्ट नहीं होती। जब तक राज्य रहेगा, यह भी विद्यमान रहेगी। इसका सम्बन्ध राज्य के साथ वैसा ही है जैसा कि प्राण का शरीर से है। राज्यसत्ता खोते ही राज्य स्वयं भी समाप्त हो जायगा। सरकार में परिवर्तन भले ही होते रहें, राज्यसत्ता अक्षुण्य रहती है।

III राज्यसत्ता के भेद

नाम मात्र की और वास्तविक राज्यसत्ता—यह भेद वास्तव में

राज्यसत्ता का न होकर राजसत्ताधारी का है"। यदि राज्य के प्रधान अधिकारी के हाथों में वास्तविक सत्ता होती है तो उसे वास्तविक (Real or actual) राज्यसत्ताधारी कहा जाता है, किंतु यदि वास्तविक सत्ता उसके पास न होकर उसके मन्त्रिमण्डल अथवा अन्य किसी समूह में हो तो ऐसे सत्ताहीन प्रधान को नाममात्र का (Nominal or titular) राज्यसत्ताधारी कहा जायगा। सीमित राजतन्त्र में राजा नाममात्र का राज्यसत्ताधारी होता है वास्तविक सत्ता मन्त्रिमंडल के हाथों में रहती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रबन्धक सत्ता मन्त्रिमंडल के हाथों में रहने पर भी वह प्रायः व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। अतएव इसे ही वास्तविक राज्यसत्ताधारी कहना ठीक होगा।

वैधानिक और यथार्थ राज्यसत्ता—यह भेद भी राज्यसत्ताधारियों से सम्बन्ध रखता है। वैधानिक (De Jure) राज्यसत्ताधारी वह कहलायगा जिसकी सत्ता विधान की दृष्टि से न्यायपूर्ण हो। यदि विधान की दृष्टि से उसका अधिकार न्यायपूर्ण न हो किंतु अपनी शक्ति के आधार पर उसने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली हो तो उसे यथार्थ (De Facto) राज्यसत्ताधारी कहा जायगा। एक राज्यसत्ताधारी वैधानिक और यथार्थ दोनों ही हो सकता है। इँगलैण्ड का राजा ऐसा ही है। कानून से जनता की इच्छा से और यथार्थ में भी वह राजा है। इसके विपरीत एक राज्य के दो पृथक राज्यसत्ताधारी हो सकते हैं : एक वैधानिक और दूसरा यथार्थ। उदाहरण के लिये अबीसीनिया को इटली ने १९३६ ई० में जब जीत लिया तो इटली का सम्राट वहाँ का यथार्थ राज्यसत्ताधारी बन गया। पर अबीसीनिया का भूतपूर्व शासन सम्राट नेगस ने राज्यगद्दी पर अपने अधिकार को नहीं छोड़ा। विधान और जनता उसके पक्ष में थी अतएव वह वैधानिक

राजा तो था पर सत्ता उसके हाथ में न थी। अब इटली के हार जाने पर मित्र राष्ट्रों ने उसका सिंहासन उसे पुनः वापस कर दिया है और वह एक बार फिर वैधानिक और यथार्थ राज्यसत्ताधिकारी है। इसी प्रकार अफगानिस्तान के वैधानिक बादशाह अमानुल्लाह के निकाल दिये जाने पर पहले बच्चा सक्का और फिर नादिरखाँ राजा बन बैठे। ये केवल यथार्थ राज्यसत्ताधिकारी थे। किंतु बाद में नादिरखाँ को जनता से नियमित राजा स्वीकार कर लिया और इस प्रकार वह वैधानिक राजा भी बन गया। इस प्रकार यथार्थ राज्यसत्ताधारी को जनता द्वारा मान्य कर लिये जाने के पश्चात् वैधानिक पद प्राप्त हो जाता है। यूगोस्लाविया के मार्शल टिटो की सरकार को इसी प्रकार वैधानिक स्थिति प्राप्त हुई। वैधानिक सत्ता और यथार्थ सत्ता अधिक समय तक पृथक नहीं रह सकती। जनता की स्वीकृति न मिलने पर वह पलट जाती है और नष्ट हो जाती है जैसा कि अफगानिस्तान में बच्चा सक्का के साथ हुआ। जनता की स्वीकृति मिलने पर अथवा अधिक समय तक बने रहने से उसे वैधानिक पद प्राप्त हो जाता है। अव्यवस्थित अवस्था में ही अस्थायी रूप से एक देश में ये दोनों सत्ता पृथक रह सकती हैं। समय बीतने पर राज्यसत्ताधारी एक हो जाता है।

कानूनी राजनीतिक और लोकप्रिय राज्यसत्ता—राज्यसत्ता के बारे में राजनीतिक विचारकों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग राजनीति के कानूनी (Legal) रूप को महत्व देते हैं और कहते हैं कि एक राज्य के अन्दर कानून बनाने और आज्ञा जारी करने का जिसे अन्तिम और सर्वोच्च अधिकार हो वही राज्यसत्ताधारी है। इस मत के अनुयायियों में बोदाँ, हाब्स, आस्टिन प्रमुख हैं। इनके अनुसार राज्यसत्ताधारी एक निश्चित और प्रत्यक्ष मानव [illegible] चाहिये। इंगलैण्ड म

इस प्रकार की सत्ता 'पार्लियामेण्ट के साथ राजा' (King-in-Parliament) है। वह सब प्रकार के कानून बना सकता है और इसके कानून और आज्ञायें सर्वोपरि और सर्वमान्य होती हैं।

किन्तु कुछ विद्वानों का कहना यह है कि कानूनी राज्य सत्ताधारी अपनी मनमानी नहीं कर सकता। अतएव उसे सर्वोच्च पद देना ठीक नहीं है। बड़े से बड़े निरंकुश तानाशाह को भी यथार्थ में अनेक बातों को ध्यान में रख कर चलना पड़ता है। उदाहरण के लिये राणा रणजीत सिंह चाहे कितने ही शक्तिशाली क्यों न थे किन्तु वे भी लोक-प्रथाओं पर आधारित नियमों की उपेक्षा न कर सकते थे। प्रथम महायुद्ध के पूर्व टर्की का सुल्तान निरंकुश था, फिर भी उसे शरियत का ध्यान रख कर चलना पड़ता था। आज की सभ्य सरकारों को भी जनमत का आदर करना होता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए प्रोफेसर डायसी (Dicey) ने कहा है कि 'कानूनों द्वारा मान्य राज्यसत्ताधारी के अतिरिक्त भी एक राज्यसत्ताधारी होता है जिसके आगे कानूनी राज्यसत्ताधारी को झुकना पड़ता है।' इसी को उन्होंने राजनीतिक राज्यसत्ताधारी (Political soveriegn) का नाम दिया है। राजनीतिक राज्यसत्ताधारी सुविख्यात और निश्चित नहीं होता। कहीं पर कोई प्रभाव काम करते हैं तो कहीं कोई। इन्हें निश्चित रूप से बताया भी नहीं जा सकता। इसीलिये प्रोफेसर गैटिल (Gettell) कहते हैं कि 'राजनीतिक राज्यसत्ताधारी की बात राज्यसत्ता को प्रभावों की एक सूची मात्र में परिवर्तित कर देता है।' प्रोफेसर लीकाक (Leacock) कहते हैं कि 'राजनीतिक सत्ता की जितनी ही खोज की जाय उतनी ही वह दूर भागती दिखाई देती है...।'

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जिनका कहना यह है कि कानूनी अथवा राजनीतिक राज्यसत्ताधारियों की खोज व्यर्थ है।

सच्ची राज्यसत्ता तो सदैव जनता के पास रहती है। वह जब भी चाहे स्थापित सरकार को पलट कर अपनी इच्छा के अनुसार नई व्यवस्था बना सकती है। अतएव जनता की राज्यसत्ता अथवा लोकप्रिय राज्य-सत्ता (popular sovereignty) ही ठीक है। यह विचार सर्व प्रथम मध्ययुग के कुछ विचारकों ने उपस्थित किया किंतु इसका सबसे बड़ा आधुनिक प्रचारक रूसो था। अब तो जनतंत्र का यह मूल सिद्धान्त बन गया है कि सम्पूर्ण सत्ता जनता से प्राप्त होती है और जनता ही सर्वोपरि है। भारतीय विधान परिषद् ने भी एक प्रस्ताव पास करके उक्त घोषणा कर दी है।

एक उदाहरण से इन दृष्टिकोणों की भिन्नता स्पष्ट हो जायगी। यदि यह पूछा जाय कि ब्रिटेन में राज्यसत्ताधारी कौन है तो प्रथम मत के अनुयायी 'पार्लियामेंट सहित राजा' का नाम लेंगे जब कि द्वितीय विचार के मानने वाले 'आम मतदाताओं' अथवा 'जनमत' का ध्यान दिलावेंगे और तीसरे पक्ष वाले 'ब्रिटेन के नागरिकों' को सर्वोपरि ठहरावेंगे। किंतु ये सभी विद्वान राज्यसत्ता की एकता में विश्वास रखते हैं।

IV राज्यसत्ता की एकता और बहुलता के सिद्धान्त

ऊपर हमने राज्यसत्ता की एकता के सिद्धान्त (Monistic view) की व्याख्या की है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य में केवल एक अविभाजित, अनियंत्रित राज्यसत्ता हो सकती है। इन्हीं दिनों इस मत की कड़ी आलोचना की गई है। विद्वानों का कहना यह है कि राज्यसत्ता एक नहीं अनेक होती हैं। इसे राज्यसत्ता की बहु-लता का सिद्धान्त (Pluralistic view) कहा जाता है। इनका कहना यह है कि राज्यसत्ता की एकता का सिद्धान्त समुदायों (assoc-

nations के लिये घातक सिद्ध हुआ है इसका परिणाम यह हुआ है कि राज्य सभी समुदायों के ऊपर नियंत्रण करने का ही नहीं वरन् उनके जीने-मरने के अधिकार का भी दावा करता है। अब समय आगया है कि इस भूल का सुधार किया जाय। उनका कहना यह है कि समुदाय राज्य से कम महत्वपूर्ण नहीं होता। राज्य की सदस्यता तो अनिवार्य है पर इनकी सदस्यता के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता होने पर नागरिक इन्हें इतना आवश्यक समझते हैं कि प्रसन्नता से इनके सदस्य बन जाते हैं। राज्य इन समुदायों को जन्म नहीं देता। ये स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। राज्य उन्हें अधिकार नहीं देता। उनके सदस्य ही समुदायों को शक्ति प्रदान करते हैं और अनुशासन बनाये रखने के लिये उन्हें दण्ड देने का अधिकार भी दे देते हैं। यह दण्ड प्रायः जुर्माने, या सदस्यता से पृथकता के रूप में होता है। ये समुदाय राज्य से किसी दशा में कम नहीं हैं। भेद केवल इतना है कि राज्य के पास सैन्यशक्ति होती है। लेकिन महत्व में और उपयोगिता में यह उससे कम नहीं है। इसलिये कभी कभी राज्य और समुदाय में संघर्ष होने पर नागरिक राज्य के विरुद्ध इन समुदायों का साथ देते हैं। इसी आधार पर कोल (G. D. H. Cole) तो यहाँ तक बढ़ गये हैं कि वह राज्य को अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय का पद दे देने पर उतारू हैं। किन्तु अब अधिकार विचारकों ने यह स्वीकार कर लिया है कि समुदायों की स्वतन्त्र सत्ता को मान लेना जहां आवश्यक है वहां यह भी जरूरी है कि राज्य की अन्तिम सत्ता को भी माना जाय जिससे वह व्यक्ति और समुदाय तथा एक समुदाय और दूसरा समुदाय और के आपसी संम्बन्धों पर नियन्त्रण रख सके और यह भी ध्यान रख सके कि कोई समुदाय समाजहित के विरुद्ध कार्य नहीं करता। इस प्रकार इन दोनों ही विचारों में सामञ्जस्य स्थापित हो गया है।

V अनियन्त्रित राज्य सत्ता की आलोचना

हम कह आये हैं कि राज्यसत्ता की एक लक्षण अनियंत्रितता भी है। आधुनिक विचारकों ने इस मत की तीव्र आलोचना की है। उनका कहना यह है कि वास्तविक जीवन में राज्य और सरकार को एक ही समझा जाता है। यदि ऐसा न भी हो तब भी राज्य सत्ताधारी का अनियंत्रित अधिकार मान लेने में अनेक बुराइयाँ हैं। (१) इससे राज्य के सम्मुख व्यक्ति का कोई महत्व नहीं रह जाता। राज्य चाहे तो उसके अधिकारों को कुचल सकता है और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये उसे अपना साधन बना सकता है। सैनिकवाद (Militarism) और फासिज्म (Fascism) मे विश्वास रखने वाले देशों में ऐसा ही किया गया। (२) राज्य अन्य समुदायों की उपेक्षा कर सकता है। इन्हें दबा सकता है अथवा उन्हें गैर कानूनी घोषित कर सकता है इसका फल भी सामाजिक जीवन पर बुरा होगा। ३) राज्य अपने को सर्व शक्ति मान समझ कर अन्य राज्यों के अधिकारों को छीनने और उन्हें अपने आधीन करने का उद्योग कर सकता है इसका परिणाम होगा युद्ध जो कि मानवता को पतन के गर्त मे ले जा रहे हैं। यदि राज्य बाह्य क्षेत्र में अपना ऐसा रुख न रक्खें तो शान्ति से रहा जा सकता है। झगड़ों के फैसले तलवार द्वारा न होकर यदि आपसी बातचीत अथवा पंचायत के द्वारा हों तो न्याय भी हो जाय और शान्ति भी भङ्ग न हो। किन्तु अनियंत्रित राज्यसत्ता के विचार ने इसे प्रतिष्ठा के विरुद्ध ठहरा कर युद्ध अनिवार्य कर दिये हैं।

यह तो हुईं इस मत की बुराइयां। किन्तु व्यावहारिक जीवन मे भी हम यह पाते हैं कि राज्य अनियंत्रित शक्ति नहीं रखता। (१) उसे विधान के अनुसार कार्य करना होता है। यह सत्य है कि विधान बदला जा सकता है किन्तु फिर भी तो विधान रहता है। (२) उसे जनमत

का आदर करना होता है बड़े से बड़े तानाशाह भी जनमत के महत्व को स्वीकार करते हैं और उसे अनुकूल बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। जनमत का लम्बे अर्से तक विरोध राज्य के अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है। (३) विदेशी मामलों में यह अन्य राज्यों को, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय संघ को नहीं भुला सकता। ऐसा करने से उसके लेने के देने पड़ जायेंगे। हो सकता है कि इनकी उपेक्षा करके भी वह कुछ समय तक रह सके किन्तु इसका पतन निश्चित हो जाता है। (४) उसे व्यक्तियों और समुदायों के अधिकारों का आदर करना पड़ता है। बिना कारण मनमानी करने से विद्रोह हो जाने की सम्भावना रहती है। (५) उसे लोगों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक विश्वास और भावना का भी आदर करना होता है। समय के प्रतिकूल काम करना नादानी का परिचायक होता है। (६) उसे अपने ध्येय अर्थात् व्यक्ति, समाज और मानवता के हित का भी ध्यान रखना होता है। नागरिक राज्य की आज्ञा का पालन इसलिये करते हैं कि राज्य का ध्येय ऊँचा है। यदि राज्य स्वयं ही अपने ध्येय की उपेक्षा करने लगे तो नागरिकों से भी वह अधिक आशा नहीं कर सकता।

इन सब बातों के रहते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सिद्धान्तः राज्य सत्ता अनियंत्रित है। वह स्वयं भले ही इन बातों को ध्यान में रखकर अपने ऊपर नियन्त्रण करले, किसी भी बाहरी शक्ति को मानने के लिये वह बाध्य नहीं है।

VI राज्य सत्ता कहाँ होती है ?

हम देख चुके हैं कि राज्यसत्ता के विषय में कई दृष्टिकोण हो सकते हैं : कानूनी, राज्यनीतिक और लोकप्रिय। लोकप्रिय दृष्टिकोण से

राज्य सत्ता के स्थान (Location) का पता लगाने में कोई भी कठिनाई नहीं है। सभी राज्यों में समान रूप से यह जनता में विहित है। जहां तक राजनीतिक राज्य सत्ता का प्रश्न है इसमें कुछ कठिनाई उपस्थित हो जाती है। यदि हम सभी प्रभावों को जानना चाहें तो प्रत्येक बात में हमें पूरी तरह से जाँच करनी होगी। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किसी व्यक्ति या समुदाय के परामर्श या दबाव से राज्य सत्ताधारी ने कार्य किया है। इसी कारण लोकौक ने कहा है कि 'राजनीतिक सत्ता की जितनी ही खोज की जाय उतनी ही वह दूर भागती दिखाई देती है।' इसलिये यह खोज भी अत्यन्त कठिन है और फल एकदम अनिश्चित।

जहाँ तक कानूनी राज्यसत्ता की खोज का प्रश्न है यह अपेक्षाकृत तरल प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं। एक मत तो यह है कि जिस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह का शासन-विधान (Constitution) को बनाने, बिगाड़ने और परिवर्तित करने का अधिकार हो उसी में कानूनी राज्यसत्ता विहित होती है। दूसरा मत यह है कि राज्यसत्ता कानून बनाने वाली संस्थाओं व समूह में रहती है। यदि दूसरे मत को माना जाय तो प्रोफेसर गैटिल (Gettell) के कथनानुसार (१) व्यवस्थापिका सभायें, (२) न्यायालय, (३) विधान-निर्मात्री परिषद या कन्वेशन, (४) प्रबन्धक विभाग जो आज्ञायें और आर्डीनेन्शों को प्रचारित करता है, और (५) मतदाता। अन्तिम को वहीं सम्मिलित किया जाना चाहिये जहां जन मत-गणना (Refrendum) और जनता द्वारा पहले (Initiative) की प्रथायें प्रचिलित हैं। किन्तु यह पहले मत को माना जाय तो राज्यसत्ता का स्थान विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न मिलेगा।

उदाहरणार्थ ब्रिटेन में 'पार्लियामेंट सहित राजा' ऐसी शक्ति है जब कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इस प्रकार की सत्ता निश्चित नहीं है। क्यों कि वहाँ शासन-विधान मे परिवर्तन करने के भिन्न-भिन्न ढंग निर्धारित हैं। अतएव वहाँ कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

वास्तव में राज्यसत्ता के निवास-स्थान के खोज का प्रश्न ही गलत उठाया जाता है। राज्यसत्ता राज्य का एक तत्व है, सरकार का नहीं। अतएव उसे खोजना एक व्यर्थ का प्रयास है जिससे यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है।

+++++++

आठवाँ अध्याय

राज्य के उद्देश्य तथा कार्य

राज्य के तीन उद्देश्य है : इसका सर्वप्रथम उद्देश्य व्यक्ति की भलाई करना है, तत्पश्चात् इसे संगठित व्यक्तियों के सामूहिक हितों की ओर ध्यान देना चाहिये, और अन्त में इसका लक्ष्य सभ्यता की उन्नति और विश्व की प्रगति होना चाहिये।

—प्रोफेसर गार्नर

1 राज्य का उद्देश्य

इसके पूर्व कि आप राज्य के उद्देश्यों पर विचार करें आपको इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिये कि राज्य एक साधन है या साध्य (end) कुछ विचारक राज्य को साधन (means) नहीं मानते। उनका कहना है कि मनुष्य राज्य के बिना अपना काम चला ही नहीं सकता। अतएव व्यक्ति की अपेक्षा वह अधिक महत्वपूर्ण है, कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को राज्य के लिये कार्य करना चाहिये। व्यक्ति का राज्य के साथ वही सम्बन्ध है जो अंग का शरीर के साथ होता है। अतएव राज्य स्वयं ही साध्य है और उसका उद्देश्य अपने को कायम रखना है। कुछ उग्र आदर्शवादी और फासिस्ट इसी प्रकार सोचते है।

इसके विपरीत व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक साधन भी है। वह एक मानव संस्था है और उसी के हित के लिये है। फिर

वह मनुष्य से भी बड़ी कैसी हो सकती है ? मनुष्य की संस्थाएँ सदैव मनुष्य की तुलना में गौण रहेंगी। फिर राज्य तो एक मानसिक विचार मात्र है। उसका चलाने वाला तो मनुष्य है। अतएव राज्य मनुष्यों से ऊँचा हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त कुछ विचार ऐसे भी हैं जिनका कहना है कि राज्य एक साधन भी है और एक साध्य भी। एक ओर तो वह अपने नागरिकों के हित-साधन की एक संस्था है। दूसरे दृष्टिकोण से यह स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति जो उसके आधीन होते हैं इसकी सेवा करने के लिये बाध्य हैं।* ब्लंटश्ली चित्र और चित्रकार की उपमा देते हुये कहता है कि एक दृष्टिकोण से चित्र चित्रकार की जीविका उपार्जन का साधन हो सकता है पर ऐसा कलात्मक चित्र जो चित्रकार के आदर्श तथा उसकी भावनाओं का साकार रूप में उपस्थित करता हो उसका साध्य भी तो हो सकता है। तो यह प्रश्न केवल अपने दृष्टिकोण का है। ब्लंटश्ली का यह मत सत्य के अधिक निकट है।

राज्य के उद्देश्य—अब आप राज्य के उद्देश्य पर विचार कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य विचार नहीं है। अरस्तू के अनुसार 'राज्य की उत्पत्ति जीवन को सम्भव होती है और उसे बहतर बनाने के लिये वह कायम है।' धर्म ग्रंथों तथा धार्मिक विचारकों के अनुसार राज्य का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था कायम करना है कि इस जन्म में धर्मानुसार आचरण किये जा सकें और मृत्यु के पश्चात् सुख प्राप्त हो। मेक्यविली (Machiavelli) तथा हाब्स के अनुसार राज्य को उद्देश्य आन्तरिक शान्ति रखना और शक्ति-वृद्धि करना है। व्यक्तिवादियों के अनुसार इसका उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा

---

* देखिये The Theory of the State, p. 307

करना है। आदर्शवादियों के अनुसार इसका ध्येय नैतिकता के अनुकूल जीवन को सम्भव बनाना है। उपयोगितावादियों (Utilitarions) के अनुसार यह उद्देश्य 'अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिकतम भलाई' करना है। समाजवादियों के अनुसार राज्य का उद्देश्य अच्छे जीवन के लिये अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओं को पूरा कर नागरिक को समाज का उपभोगी सदस्य बनाना है।

इन वादों के विवाद से निकलकर जब आप विचार करते हैं तो आपके सम्मुख कुछ ऐसी मोटी बातें आजाती हैं जिनसे प्रायः सभी आधुनिक विचारक सहमत होंगे। पहली ऐसी बात यह है कि राज्य को कम से कम शान्ति, व्यवस्था, रक्षा और न्याय का समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। इसके बिना सामाजिक जीवन ही सम्भव नहीं हो सकता इसके पश्चात् उसे व्यक्ति के सामान्य हितों का ध्यान रखना चाहिये जिससे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और जीवन भी सुखमय बने। अन्त में उसका उद्देश्य यह भी रह जाता है कि मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिये जो भी सम्भव हो सकता है करे। इसीलिये प्रोफेसर गार्नर ने राज्य के उद्देश्य व्यक्ति की भलाई, सामाजिक हित और सभ्यता की उन्नति तथा विश्व की प्रगति बतलाया है ❀। शायद उग्र राष्ट्रवादी विश्व की प्रगति की बात सुन कर कुछ चौंके। पर इस उद्देश्य पर बल देना मानव-कल्याण के लिये नितांत आवश्यक है, नहीं तो कोरी राष्ट्रीयता हमें कहीं का न छोड़ेगी और अन्त में मानव सभ्यता का विनाश करके रहेगी।

❀ देखिये Political Sciene and Government. p. 73,

II राज्य के कार्य-सम्बन्धी सिद्धान्त

राज्य के उद्देश्यों पर विचार करने के पश्चात् आप इस प्रश्न का उत्तर देने की अवस्था में हो जाते हैं कि राज्य के कार्य क्या होने चाहिये। इस सम्बन्ध में भी अनेकमत प्रचलित हैं। हम एक एक करके इन पर विचार करेंगे। पर इनके पूर्व हम एक ऐसे मत पर भी विचार करने चलें जो राज्य की आवश्यकता को ही स्वीकार नहीं करता।

अराजकवाद—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होगा अराजकवादी Anarchistie) राज्य की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते उनके अनुसार राज्य अन्याय तथा अत्याचार पर आश्रित है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। वह पूर्णतया शक्ति पर आधारित है। जनमत की बात कहना व्यर्थ है। अधिक से अधिक जनमत का अर्थ बहुमत होता है और यह मत भी स्वतंत्रतापूर्वक दिया हुआ नहीं होता। बाहरी नियंत्रण चाहे जो भी हों व्यक्ति के स्वाभाविक विकास को रोक देते हैं व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति जो भी करे अपनी इच्छा से। राज्य में व्यक्ति सरकार के आधीन ही नहीं होता, पूँजिपति और धर्माधिकारी उसका अलग खून चूसते हैं और राज्य उनकी रक्षा करता है। इन सबसे छुटकारा पाने का एक ही उपाय है : राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय और उसके स्थान पर स्वेच्छा से दिये गये सहयोग पर जीवन आधारित हो। ऐसा समाज वर्तमान 'कानूनी अवस्था' से कहीं अच्छा होगा।

अराजकवादियों के अनुसार उनके आदर्श समाज में सभी अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतन्त्र होंगे। उत्पादन-कार्य सहकारिता समितियाँ (Cooperative societies) चलायेंगी। नागरिक इनमें से किसी का भी सदस्य बन सकेगा और कुछ घंटे प्रतिदिन कार्य

करने के पश्चात् अच्छे जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं को पा सकेगा। अराजकवादी समाज में शांति और व्यवस्था का काम भी एच्छिक (Voluintary) समुदाय ही करेंगे।

यह चित्र है तो आकर्षक किंतु जिस विश्वास पर बनाया गया है वह ठीक नहीं है। सभी व्यक्ति भले और सामाजिक प्रवृत्ति लिये हुए नहीं होते। अतएव इस प्रकार का समाज चल नहीं सकता। फिर इनकी राज्य की आलोचना भी अतिशयोक्ति पूर्ण है। सभी वर्तमान राज्य आज लोक-सेवा के अनेक कार्य कर रहे हैं। फिर उन्हें कैसे नितान्त बुरा समझा जाय? यही नहीं, इनकी अपने आदर्श समाज की रूपरेखा भी स्पष्ट नहीं है जिससे यह ठीक से पता लग सके कि नये समाज मे ये कैसे काम चलावेंगे। फिर भी राज्य और सरकार के दोषों पर ध्यान दिला कर इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

व्यक्तिवाद—व्यक्तिवाद (Individualism) का कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिये यह आवश्यक है कि राज्य में यथासम्भव व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता दी जाय। राज्य भी स्वतन्त्रता के ऊपर रुकावट डालता है पर उसके बिना व्यक्ति नहीं चल सकता। जब तक व्यक्ति स्वयं निर्दोष नहीं हो जाते राज्य को बुरा होने पर भी रखना पड़ेगा। किंतु राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिये जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु नितांत आवश्यक है। सक्षेप में राज्य का काम स्वतन्त्रता की रक्षा और अपराधों की रोकथाम है, व्यक्ति की उन्नति के लिये प्रयत्न करना नहीं। इस प्रकार राज्य के कार्य शांति तथा व्यवस्था रखना, अपराधियों को दण्ड देना, सम्पति की रक्षा करना और समझौतों को लागू कराना भर रह जाता है।

इस विचार के पक्ष में अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं। (१) न्याय का आधार लेकर यह कहा जाता है कि व्यक्तित्व के पूर्ण

विकास के लिये स्वतंत्रता का होना जरूरी है। प्रतिबन्ध लगे रहने से व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं कर पाता और उसकी विशेष योग्यतायें दबी रह जाती हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग पर चलने, सोचने, और बोलने की आजादी दे दी जानी चाहिये। इन्हें एक ही सांचे में ढालने का प्रयत्न उनके व्यक्तित्व को ही नष्ट कर कर देता है और उन्हें आलसी तथा पंगु बना देता है। यही नहीं इससे समाज भी एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रगति रुक जाती है। (२) आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को अच्छी तरह समझता है और उसमें इतनी योग्यता भी होती है कि अपने हितों की रक्षा कर सके। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जानी चाहिये। खुले बाजार में बिना राज्य के हस्तक्षेप के स्पर्द्धा होने से सब को अपना उचित भाग प्राप्त हो जायगा। यही नहीं इसके परिणामस्वरूप वस्तुयें अच्छी भी बनेंगी और सस्ती होंगी। इससे सभी का लाभ होगा और सभी संतुष्ट रहेंगे। अनुभव भी यही बतलाता है कि जहाँ भी सरकार ने इधर दखल दिया है काम बिगड़ा है सुधरा नहीं। (३) जीव विज्ञान Biology के सिद्धान्तों के आधार पर भी व्यक्तिवाद का समर्थन किया गया है। इस आधार पर बतलाया जाता है कि जीवन में निरन्तर एक संघर्ष चलता रहता है इस संघर्ष में जो योग्य होते हैं वे बच जाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं। यह एक ऐसा प्राकृतिक नियम है जो सभी स्थानों पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। अतएव व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। राज्य द्वारा निर्धन, असमर्थ आदि की सहायता व्यक्ति को दोहरा नुकसान पहुंचाती है। एक तो इससे इन लोगों को अधिक सुविधा मिल जाती है और दूसरे उसका भार योग्य व्यक्तियों को सहन करना पड़ता है।

और फिर राज्य की सहायता पर पलने वाले व्यक्ति कभी समाज का कोई लाभ नहीं करते। वे समाज में जोंक (Parasite) के रूप में बने रहते हैं। राज्य की सहायता न मिलने से व्यक्ति स्वयं संघर्ष करेगा। इससे उसकी योग्यता का पूर्ण विकास होगा। निर्बल व्यक्ति नष्ट हो जायंगे और उन्नत व्यक्ति जीवित रह जाँयगे। (४) राज्य की अयोग्यता को आधार बनाकर भी इस मत का समर्थन किया जाता है। कहा जाता है कि यह सोचना कि राज्य व्यक्ति की अपेक्षा उसकी आवश्यकता को बहतर ढंग से समझ सकता है और पूरी कर सकता है एक गलत बात है। राज्य का काम भी तो मनुष्य ही चलाते हैं। इनमें भी कुछ दोष होते हैं और उनकी भी कार्यक्षमता सीमित होती है। यदि उन्हें अधिक काम दे दिया जायगा, उसे वह नहीं कर सकेंगे या बुरा करेंगे। यही हुआ भी है। जहाँ जहाँ सरकार के काम और क्षेत्र को बढ़ाया गया है उनके कामों की शिथिलता आ गई है। जब साधारण कार्य भी सरकार कुशलता पूर्वक नहीं कर पाती तो फिर यह और नया बोझ क्यों डाला जाय ?

इस सिद्धान्त की अब तीव्र आलोचना की जाती है। (१) आज सभी यह मानते हैं कि राज्य का काम सामाजिक हित को बढ़ाना है और उसके लिये सुविधायें पैदा करना। अतएव उसे स्वतंत्रता का बाधक समझना ठीक नहीं है। वास्तव में स्वतन्त्रता मनमाने ढंग से कार्य करने से नहीं मिला करती वरन् सामाजिक नियमों तथा अनुशासन को मानने से मिलती है। (२) फिर व्यक्ति यदि अपने अपने स्वार्थ के लिये काम करेगा तो उससे समाज में संघर्ष बढ़ेंगे। समाज की कोई चिंता न करेगा, स्वार्थ ही सर्वोपरि हो जायगा। अतएव राज्य द्वारा नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। (३) राज्य सामाजिक भलाई के लिये बहुत कुछ कर सकता है। यह माना कि राज्य में बहुत दोष हैं

और इसने अनेक भूलों की हैं पर इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य में आवश्यक सुधार किये जाँय न कि उसे शक्तिहीन बना दिया जाय। (४) यह कहना कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को समझता है और उसके लिये कार्य करता है ठीक नहीं है। वास्तव में व्यक्ति हमेशा दूरदर्शी नहीं होता। नासमझी और अज्ञान भी उसे भ्रम में डाल सकते हैं। (५) जहाँ तक बे रोकटोक स्पर्द्धा का प्रश्न है जर्मनी तथा अमेरिका के उदाहरण यह स्पष्ट बता देते हैं कि इसका परिणाम एकाधिकार (Monopoly) होता है जो खुले बाजार का विरोधी है। (६) आर्थिक स्वतन्त्रता से सबके समान हित की जा बात कही जाती है वह भी एक धोका है। अनुभव यह बतलाता है कि अधिकतर व्यक्तियों के लिये इसके अर्थ हैं भुखमरी। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् की दशा इस बात की पुष्टि कर देती है (७) यह कहना कि जीवन-संग्राम में अयोग्य व्यक्ति पिछड़ कर नष्ट हो जाते हैं तथ्यों का उपहास करना है। इसका अर्थ यह होगा कि भूखे किसान तथा कारीगर की अपेक्षा चोर तथा डाकू अधिक प्रशंसनीय हो जाँयगे। सच बात तो यह है कि अरब-विज्ञान का यह सिद्धान्त मनुष्य पर लागू नहीं किया जा सकता। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। और यथासम्भव उसे पूर्ण विकास का सुयोग मिलना चाहिये। (८) फिर जीवन में केवल सघर्ष ही तो नहीं होता, सहयोग भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है और इस को कैसे भुला दिया जाय ? (९) अन्त में यह कहा जा सकता है कि बुराइयों की रोक-थाम ही काफी नहीं है। उनको जड़ से दूर करने के भी कुछ उपाय करने होंगे। नहीं तो समाज में उन्नति न हो सकेगी। (१०) हो सकता है कि व्यक्तिवाद की आवश्यकता निरंकुश राज्यों में रही हो पर अब तो प्रजातन्त्र के युग में ऐसे विचार व्यर्थ हैं क्योंकि

इसमें सरकार को चलाने वाले भी तो व्यक्ति के प्रतिनिधि ही होते हैं। और वे जनमत के अनुकूल शासन-कार्य चलाते हैं।

पर व्यक्तिवाद में कुछ सचाई भी है। एक तो यह है कि निजी बातों में व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। निजी बातों से हमारा अभिप्राय उन बातों से है जिनका अन्य व्यक्तियों के जीवन से कोई लाजिमी सम्बन्ध नहीं है। दूसरे यह सरकार की मशीनरी में सुधार की आवश्यकता है।

समाजवाद—समाजवादी (Socialists) व्यक्तिवाद के विरोधी है। वे भी नागरिकों को स्वतन्त्र देखना चाहते हैं किंतु उनका कहना है कि पूँजीवादी समाज में नागरिक की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। ऐसे समाज में आर्थिक विषमता रहती है। कुछ व्यक्ति बहुत अमीर होते हैं और कुछ अत्यन्त निर्धन। निर्धनों को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की चिंता से ही मुक्ति नहीं मिलती। अतएव स्वतन्त्रता उनके लिये बेमाने हो जाती है। इस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपभोग के लिये आर्थिक सुरक्षा अत्यन्तावश्यक हो जाती है। समाजवादियों का कहना है कि राज्य को ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे नागरिक इस सुरक्षा को अनुभव करें। इसके लिये उसे अन्याय, असमानता और विशेष सुविधाओं का अन्त कर 'सामाजिक न्याय' (Social justice) स्थापित करना चाहिये। वे यह स्वीकार करते हैं कि राज्य यदि उचित हाथों में हो तो वह जन-हित के लिये बहुत काम कर सकता है। अतएव वे राज्य के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं समझते। उनके अनुसार राज्य का कार्य व्यक्तियों की चँहुमुखी उन्नति करता है।

समाजवाद के मुख्य सिद्धान्त ये हैं : (१) समाजवादियों के अनुसार समाज व्यक्ति के लिये आवश्यक और व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है।

यदि दोनों के हितों में संघर्ष हो तो सामाजिक भलाई को ही प्रधानता दी जानी चाहिये। (२) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के उस समय तक कोई अर्थ नहीं जब कि स्वतन्त्रता का उपभोग न कर सके। अतएव पूँजीवादी समाज में कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता कोई महत्व नहीं रखता। जिन व्यक्तियों का सारा समय अपने जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने में बीत जाता है वे राजनीतिक स्वतन्त्रता से कोई लाभ नहीं उठा सकते। (३) राजनीतिक प्रजातन्त्र एक दिखावा मात्र है। सच्चा प्रजातन्त्र तभी सम्भव हो सकता है जब नागरिकों में आर्थिक अरक्षता (economic insecurity) की भावना न रहे और प्रत्येक ऐसे नागरिक को जो काम करने को तत्पर हो जीवन-निर्वाह के लिये पर्य्याप्त धन मिले। (४) यही नहीं सभी नागरिकों को अवसर की समानता प्राप्त होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब पूंजीवाद को समाप्त कर शोषण का अन्त कर दिया जाय। उत्पादन लाभ के लिये न होकर समाज की आवश्यकता के आधार पर हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण कर दिया जाय जिससे स्पर्द्धा और व्यक्ति की बरबादी रुक जाय। इस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था में ही नागरिकों को समानता के अवसर प्राप्त हो सकते हैं।

समाजवाद की कुछ विद्वान बहुत आलोचना करते हैं। (१) उनके अनुसार सरकार को और अधिक काम सौंपने का अर्थ यह होगा कि सरकारी मशीन बोझ के ही मारे टूट जायगी। इससे प्रबन्धक विभाग के हाथों में काफी ताकत आजायगी। और लोगों को बदमाशी और छल-फरेब करने के और भी अधिक अवसर मिल जाँयगे। (२) उत्पादन में लाभ की भावना हटा देने का परिणाम यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायित्वहीन बन जायगा और उनमें साहसपूर्ण कार्य करने

या पहल करने की प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जायगा इसका परिणाम यह होगा कि उनका व्यक्तित्व विकसित न हो पावेगा (३) इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि नई व्यवस्था में उत्पादन कम हो जायगा जिसका परिणाम सभी के लिये बुरा होगा। (४) अन्तिम बात यह कही जाती है कि हिंसा के ऊपर समाज का पुनर्निर्माण हितकर न होगा। इसका फल यह होगा कि शान्तिपूर्ण उपायों का त्यागकर जो भी शक्तिशाली होगी हिंसा द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न करेंगे जिससे मानव संस्कृति का विनाश निश्चित हो जायगा। हिंसा का प्रोत्साहन देना अपने हाथों ही अपने पांवों पर कुल्हाड़ी मारने के समान है।

इन आलोचनाओं के बावजूद भी इसके मुख्य सिद्धान्तों को आज सभी स्वीकार करते हैं और इसे सामाजिक बुराइयों का एकमात्र उपचार कहा जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् समाजवाद का प्रचार और विस्तार काफी बढ़ गया है जो इसकी उपयोगिता का एक अचूक प्रकारण है।

साम्यवाद—साम्यवाद (Communism) समाजवाद का ही एक उग्र क्रान्तिवादी रूप है। इसके प्रतिपादक कार्ल मार्क्स 'कम्यूनिस्ट मेनिफैस्टो' और 'कैपटील' में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। यहां इसके मूल सिद्धान्तों पर संक्षेप में विचार किया जायगा।

साम्यवाद का प्रथम सिद्धान्त है इतिहास की आर्थिक व्याख्या (Economic interpretation)। कार्क्स का कहना था कि आर्थिक अवस्था समाज के संगठन पर निर्णायक प्रभाव डालती है। राजनीतिक सत्ता सदैव उस वर्ग के पास रहती है जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। यह वर्ग सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था को अपने हितों के अनुकूल बना लेता है और इस बात का

रसक प्रयत्न करता है कि उसमें कोई ऐसे परिवर्तन न हो पावें जो नके हितों के विरुद्ध हों। (२) दूसरा सिद्धान्त अतिरिक्त र्थअ Surplus value) का है। मार्क्स का कहना है कि औद्योगिक ान्ति के पश्चात् उत्पादन के साधन कुछ पूँजीपतियों के हाथों में न्द्रित हो गये हैं। वे मजदूरों का श्रम खरीद लेते हैं। इस क्रय-विक्रय पूँजीपतियों का पक्ष प्रबल होता है। अतएव वह मजदूर को कम से म मजदूरी देकर उनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। सका परिणाम यह होता है कि वस्तु के परिश्रम जन्य-मूल्य में और सकी विक्री के मूल्य में बहुत अन्तर हो जाता है। इसे मार्क्स ने तिरिक्त अथ का नाम दिया है। यह वास्तव में मजदूरों का शोषण कत्रित किया हुआ लाभ है। (३) श्रेणी-युद्ध (Clan war) ार्क्स का कहना है कि पूँजीपति कभी इस अतिरिक्त अर्थ को छोड़ हीं सकते क्योंकि इसी के ऊपर उनकी समस्त सत्ता आधारित है। तएव पूँजीपतियों तथा मजदूरों के स्वार्थों में सदैव विरोध रहा ावेगा। इन दोनों में किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं हो कता। (४) इस संघर्ष के फलस्वरूप पूंजीवाद का नाश निश्चित । पूँजीवाद में एक ओर तो पूँजी धीरे-धीरे कुछ लोगों के पास ुंच जाती है और दूसरी ओर निम्न और मध्य वर्गों की अपेक्षिक ति गिरती चली जाती है। उत्पादन बढ़ जाता है पर खपत कम ने लगती है। इसके परिणाम स्वरूप बेकारी और आर्थिक संकट त्पन्न हो जाते है। पूँजीवादी इनसे छुटकारा पाने के लिये आर्थिक ष्ट्रीयता और राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता का सहारा लेना चाहते हैं। छ राष्ट्र साम्राज्यवाद की ओर झुक जाते हैं। पर इससे पूँजीवाद । कुछ राहत भले ही मिल जाय पर उसका विनाश से बचना म्भव है। मजदूरों का संगठन धीरे धीरे दृढ़ होता जाता है और

एक दिन सर्वहारा वर्ग पूँजीवादियों का खात्मा कर देता है। (५) इसके पश्चात् सर्वहारावर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariot) कायम कर दी जाती है। उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण या सामाजीकरण हो जाता है। यह अन्तरिम व्यवस्था उस समय तक चलती है जब तक पूँजीवाद का समूल नाश नहीं हो जाता। (६) ऐसा हो जाने पर एक वर्गहीन और राज्यहीन समाज कायम हो जायगा। ऐसे आदर्श समाज में सभी के साथ बिना भेद-भाव के समानता का बर्ताव होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार कार्य करना होगा और आवश्यकतानुसार उसे धन मिलेगा। श्रेणी-भेद के मिट जाने से श्रेणी युद्ध का प्रश्न स्वयं ही हल हो जायगा।

साम्यवाद के इन सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या एक पक्षीय है और श्रेणी युद्ध तथा अवैधानिक उपायों का प्रचार करके साम्यवादी समाज में घृणा और अव्यवस्था का प्रचार करते हैं। साम्यवाद का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि समाजवादी वैधानिक उपायों द्वारा सामाजीकरण में कहां तक सफल होते हैं ?

यहाँ संक्षेप में समाजवाद और साम्यवाद के कुछ भेदों को भी समझ लेना अच्छा होगा। (१) साम्यवादी आदर्श समाज में एक वर्गहीन और राज्यहीन व्यवस्था कायम करने का स्वप्न देखते हैं। समाजवादी राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और उसे नष्ट नहीं करना चाहते हैं। (२) साम्यवादी आदर्श समाज तक पहुंचने के लिये वर्तमान राजकीय व्यवस्था का अन्तकर सर्वहारावर्ग की तानाशाही स्थापित करना चाहते हैं किंतु समाजवादी इसमें विश्वास नहीं रखते। वे वर्तमान राज्य के माध्यम द्वारा ही समाजवाद का प्रचार करना चाहते हैं। (३) साम्यवादी क्रांतिवादी तथा वैधानिक उपायों में विश्वास

करते हैं। वे शक्ति के बल पर पूँजीवादी व्यवस्था को उलट कर नये समाज को स्थापित करना चाहते हैं। पर समाजवादी वैधानिक तथा शांतिपूर्ण उपायों द्वारा ही परिवर्तन करना चाहते हैं। (४) साम्यवाद राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता और विश्व-बंधुत्व की भावना को मानता है। समाजवाद राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक है। (५) साम्यवादी नास्तिक (Atheist) होते हैं। वे धर्म को अफीम बतलाते हैं। उनका कहना है कि धर्म सत्ताधारियों का समर्थक होता है और उसके नाम पर अनेक अन्यायों तथा अत्याचारों को प्रश्रय दिया जाता रहा है। अतएव इससे एकदम छुटकारा ले लेना ही अच्छा है। इसके विपरीत समाजवादी धर्म के सम्बन्ध में तटस्थ हैं। हाँ, जहाँ तक धर्म के नाम पर होने वाली बुराइयों का प्रश्न हैं वे भी उन्हें मिटाने के लिये कटिबद्ध हैं। (६) साम्यवाद का विश्वास है कि धन का वितरण आवश्यकतानुसार होना चाहिये। इसके विपरीत समाजवादियों का कहना है कि धन का वितरण व्यक्ति के काम के अनुसार होना चाहिये।

साम्यवादी राज्य के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। अतएव राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

आदर्शवाद—आदर्शवादी (Idealist) राज्य को एक ऐसी नैतिक सस्था मानते हैं जिसके बिना व्यक्ति का नैतिक विकास असम्भव है। राज्य में ही उसे ऐसी सुविधायें मिल सकती है जिनका उपयोग कर व्यक्ति अपनी योग्यताओं का पूर्ण विकास कर सकता है। इसका कारण है कि राज्य मनुष्य की सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का प्रतीक है। अतएव राज्य की आज्ञा-पालन में नागरिक वस्तुतः अपनी सद्इच्छाओं का ही पालन करता है। व्यक्ति और राज्य दोनों का ही उद्देश्य 'सर्वोत्तम जीवन' को सम्भव बनाना है। पर आदर्शवादियों का कहना

है कि नैतिकता अंतः प्रेरणा का विषय है और उसे ऊपर से नहीं लादा जा सकता। अतएव राज्य ऐसे कोई भी कार्य नहीं करता जिससे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की उन्नति हो सके। राज्य के पास बल-प्रयोग ही एकमात्र साधन है पर इसके द्वारा नैतिकता का प्रसार नहीं किया जा सकता। हाँ, राज्य यह अवश्य कर सकता है कि व्यक्ति के विकास के मार्ग में जो बाधायें हैं उन्हे दूर कर दे। तो आदर्शवादियों के अनुसार राज्य का काम है 'नैतिक जीवन के रास्ते में बाधक रोड़ों को हटाना।' ग्रीन के अनुसार राज्य को अशिक्षा, मद्यपान, जुआ आदि सभी बुराइयों को दूर करना चाहिये जिससे व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकें। इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादियों द्वारा बतलाये गये कार्य भी उसे करने होते हैं क्योंकि उनके बिना सामाजिक जीवन में व्यवस्था ही नहीं आ सकती।

इस सिद्धान्त की कुछ विद्वानों ने इस आधार पर आलोचना की है कि इसके अनुसार राज्य के कार्य निषेधात्मक (Negative) होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक कोई बुराई स्पष्टतः अच्छे जीवन के लिये बाधक प्रतीत न हो, राज्य उस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही न करेगा। इसके अतिरिक्त आदर्शवाद के विरुद्ध यह भी अभियोग लगाया जाता है कि यह केवल नैतिक उन्नति की सोचता है और नागरिकों के भौतिक सुखों की उपेक्षा करता है। आदशवाद के उस उग्र रूप की भी जिसके अनुसार राज्य ही सब कुछ है और कुछ भी करने के लिये स्वतन्त्र है तीव्र आलोचना की जाती है। व्यक्ति को राज्य के सम्पूर्णतः आधीन बना देना उसकी स्वतन्त्रता के लिये घातक है।

उपयोगितावाद—उपयोगितावादियों (Utelitarians) के अनुसार प्रत्येक वस्तु का औचित्य उसकी उपयोगिता पर है। राज्य भी इस दृष्टि से आवश्यक है। पर इसका उद्देश्य ऐसे कार्य करना होना चाहिये जिनसे 'अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिकतम भलाई'

हो। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर राज्य कुछ भी करने को स्वतंत्र है। किंतु इस सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणित करना सरल नहीं है। सार्वजनिक भलाई की बात ध्यान में रखना सरल है किंतु 'अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिकतम भलाई' का पता लगाना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर जब हम व्यक्तियों की भलाई की सोचते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रायः स्वार्थ-साधन से होता है। अतएव यह कठनाई और भी बढ़ जाती है।

आधुनिक विचार-धारा—एक समय ऐसा था जब राज्य को एक पुलिस-संस्था (Police State) के रूप में देखा जाता था। यानी राज्य का कार्य देश में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना समझा जाता था। वह युग व्यक्तिवाद का था। आज राज्य को एक लोकहित की संस्था (Welfare-State) माना जाता है। यानी आज यह सभी स्वीकार करते हैं कि राज्य को वे सभी कार्य करने चाहिये जो कि लोकहित के लिये हैं। इस प्रकार राज्य का कार्य नागरिकों को उनके बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में उन्नति के लिये सहायता देना हो जाता है। आज के युग में आदर्शवादियों के अनुसार राज्य के कार्यों को केवल निषेधात्मक रूप में नहीं माना जा सकता। राज्य को व्यक्तियों की उन्नति के लिये सक्रिय भाग लेना होता है। संक्षेप में आप यह कह सकते हैं कि राज्य को वे सभी कार्य करने चाहिये जो उसके उद्देश्यों की पूर्ति करते हों।

III राज्य के कार्य

परम्पराओं के आधार पर राज्य के कार्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है—(१) अनिवार्य (Essential or Constituent) और (२) ऐच्छिक (Optional or Ministrant)। पहली श्रेणी में

वे कार्य आते हैं जिनको प्रत्येक राज्य को करना होता है और जिनको न करने से राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जिन्हें प्रत्येक उन्नत राज्य को करना चाहिये क्योंकि वे सार्वजनिक हित की दृष्टि से आवश्यक है यद्यपि उनके न करने से राज्य के अस्तित्व पर कोई खतरा नहीं पहुंचता।

अनिवार्य कार्य—इनमें बाहरी आक्रमण से रक्षा का नाम सबसे पहले आता है। यदि राज्य के पास एक ऐसी अच्छी जल, स्थल और नभ सेना न हो जो बाहरी आक्रमणों से नागरिकों की रक्षा कर सके तो वह राज्य कभी भी अन्य शक्तिशाली राज्यों का शिकार हो सकता है। पड़ौसी राज्यों से अच्छे सम्बन्ध रखना भी इसके लिये आवश्यक है। (२) आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना भी राज्य के लिये आवश्यक है। इसके लिये एक ओर तो राज्य नागरिकों और समुदायों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की स्पष्ट घोषणा करता है और दूसरी ओर वह अपराधियों के लिये दण्ड निर्धारित करता है। यही नहीं वह कानूनों को लागू करने लिये पुलिस की भी व्यवस्था करता है और आवश्यकता पड़ने पर सैना की सहायता भी लेता है। (३) न्याय का प्रबन्ध भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। आपसी झगड़ों को निपटाने और अपराधियों को दण्ड देने के लिये राज्य न्यायालय स्थापित करता है। इनका कार्य कानूनों की व्याख्या करना और उनके आधार पर झगड़ों का निर्णय करना होता है। यदि न्यायालय न हों तो नागरिकों के अधिकारों की रक्षा असम्भव हो जाय। (४) कर लगाना भी राज्य के लिये आवश्यक है। यदि राज्य कर लगाकर धन एकत्रित न करेगा तो वह ऊपर बताये गये कार्यों को पूरा न कर पायगा। इसके साथ ही सिक्कों को ढालना, विनियम-दर नियत करना और राज्य की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी आ जाता है।

इनके अतिरिक्त कुछ विचारक पति-पत्नी और बच्चे और उसके माँ-बाप के सम्बन्धों को स्थिर करना भी राज्य का एक आवश्यक कार्य बतलाते हैं। कुछ विचारकों ने समझौतों (Contract) का नियंत्रण करना और उन्हें लागू करना भी राज्य का अनिवार्य कार्य बतलाया है।

ऐच्छिक कार्य—जैसा कि हम कह आये हैं सार्वजानक हित की दृष्टि से राज्य इन कामों को करते हैं। ये काम प्रायः इस प्रकार के हैं जो यदि राज्य न करे तो या तो होंगे ही नहीं अथवा बुरी तरह किये जायंगे। ऐसे कार्यों में पहला नम्बर शिक्षा का आता है। शिक्षा का महत्व सभी स्वीकार करते हैं। बिना शिक्षा नागरिक अपना जीवन सुखी नहीं बना पाते। अतएव राज्य का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह शिक्षा की उचित व्यवस्था करे। जनता की अज्ञानता और अशिक्षा उन्नति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। अतएव उन्नत राज्य प्राथमिक शिक्षा निशुल्क देते हैं और ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। (२) व्यापार तथा उद्योग पर नियंत्रण राज्य का दूसरा ऐच्छिक कार्य है। वर्तमान युग में राज्य का यह महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है कि वह सार्वजनिक हित में व्यापार तथा उद्योग पर नियन्त्रण करे। इस नियन्त्रण का रूप ऐसा होना चाहिये कि नागरिकों की भी अधिक से अधिक भलाई हो और देश का भी हित हो। इसके लिये राज्य ऐसे कानून बनाता है जिससे जहां तक सम्भव हो सकता है मजदूरों के साथ पूरा न्याय हो। क्योंकि आर्थिक जीवन को यों ही मनमाने ढंग पर ठप्प नहीं होने दिया जा सकता, अतएव राज्य मजदूरों तथा मालिकों के झगड़ों का निपटारा भी करता है। (३) बड़े उद्योगों और कारबारों का राजकीय प्रबन्ध भी एक आज महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। इसके अन्तर्गत यातायात और सन्देश के साधनों पर राज्य का एकाधिकार आ जाता है। इनसे हमारा अभिप्राय रेल, जहाज, वायुयान,

स्टीमर, ट्राम, डाक, टेलीफोन, टेलीग्राम, केबिलग्राम तथा रेडियो की व्यवस्था से हैं। ये साधन आधुनिक समाज में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं कि इनका प्रबन्ध राज्य के पास ही रहना उचित है। इनके अतिरिक्त लोहे और इस्पात के बड़े कारखानों कोयले की खानों, बिजली-घरों का प्रबन्ध भी सरकार के हाथों में होना चाहिये। अस्त्र-शस्त्र का निर्माण तो अभी भी प्रायः सभी देशों में सरकारी प्रबन्ध में होता है। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे कारबार हैं जिन्हें सरकारी प्रबन्ध में कर देने से काम भी ठीक होता है, जनता भी लूट से बच जाती है और मजदूरी को भी उचित परिश्रमिक मिल जाती है। (४) मुद्रा तथा विनियम का प्रबन्ध भी राज्य के हाथों में ही रहना अच्छा रहता है। इसके लिये प्रायः राज्य एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करता है और उसे सिक्के बनाने और नोट छापने का काम दे देता है। वह विदेशों के साथ विनिमय दर (Exchang-rate) भी निर्धारित करता है जिससे विदेशी व्यापार में सुविधा हो। (५) कृषि और ग्राम-सुधार भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि राज्य इस ओर कदम उठाये, और ग्रामवासियों को सुखी बनाने के लिये प्रयत्न करे। (६) गरीब और असमर्थों की सहायता करना भी राज्य का एक कर्तव्य माना जाता है। इसके लिये सार्वजनिक परोपकारिक समुदाय यथेष्ठ नहीं होते। राज्य को स्वयं भी इनके लिये कार्य करना होता है और इन्हें सहायता देनी होती है। पाश्चात्य देशों में तो काम करने के लिये तत्पर किंतु बेकार व्यक्तियों को सहायता देना भी राज्य का एक कर्तव्य समझा जाता है। (७) सफाई और स्वास्थ्य की देखभाल भी राज्य का एक महत्वपूर्ण काम है। राज्य को स्वच्छता का प्रबन्ध करना इसलिये आवश्यक है कि इसके बिना बीमारी के फैलने का

बराबर डर लगा रहता है। इसके साथ ही राज्य को बीमारी की रोक-थाम और इलाज का पूर्ण प्रबन्ध करना होता है। इसके लिये वह अस्पताल खोलता है और इस सम्बन्ध में प्रचार करता है। यही नहीं वह खाने-पीने की वस्तुओं को शुद्ध और बेमिलावट रखने के लिये कार्यवाही करता है। (८) **सामाजिक सुधार के कार्य** करना भी राज्य का एक कर्तव्य माना जाता है। राज्य को सामाजिक कुरीतियों को दूर करके ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होता है जिसमें सभी व्यक्ति समानता तथा स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें। (९) **मनोरंजन-सम्बन्धी कार्य** भी राज्य के महत्वपूर्ण ऐच्छिक कार्यों में से हैं। इस सम्बन्ध में राज्य से यह आशा की जाती है कि वह बाग, पार्क, खेल-कूद के मैदान वगैर बनवाये। मनोरंजन के साथ ही बौद्धिक विकास के लिये पुस्तकालय, वाचनालय, कलागृह, संगीतशालाओं, म्यूजियम, जू (Joo) आदि खोले। इसके अतिरिक्त राज्य मनोरंजन के साथ ज्ञान के प्रसार के लिये रेडियो तथा सिनेमा पर नियन्त्रण कर सकती। (१०) **विदेशी मामलों तथा व्यापार सम्बन्धी कार्य** किसी समय ऐच्छिक कार्यों में माने जाते हैं किंतु आज तो वे इतने महत्वपूर्ण हो गये हैं कि इनको राज्य के अनिवार्य कार्यों में गिना जाना चाहिये। (११) **जन-संख्या** की गणना का काम भी राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसे सभी राज्य करते हैं। (१२) **उन्नति की योजनायें** बना कर उन्हें कार्य रूप में परिणित करना भी राज्य का इन्हीं दिनों एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। आज की विचारधारा यह है कि नागरिकों के चँहुमुखी विकास के लिये राज्य को पहले से योजनायें बना लेना चाहिये और फिर उनके अनुसार कार्य करना चाहिये।

राज्य के कार्य वास्तव में इतने विस्तृत हैं कि उनकी एक सूची बना सकना सम्भव नहीं है। ये काम बराबर बढ़ते-घटते रहते हैं और

समय के परिवर्तन के साथ इन कामों का महत्व भी कम-अधिक होता रहता है। यद्यपि कार्यों का यह परम्परागत वर्गीकरण अभी भी चलता है पर इनको विभाजित करने वाली रेखा अब बहुत अस्पष्ट हो गई है और प्रत्येक उन्नत राष्ट्र से अब यह आशा की जाती है कि वह इन सभी कार्यों को करे। हाँ कुछ कार्य ऐसे अवश्य हैं जिन्हें राज्य कर ही नहीं सकता। उदाहरण के लिये राज्य व्यक्ति पर दबाव डालकर उसे नैतिक नहीं बना सकता। नैतिकता आत्मा का विषय होता है अतएव राज्य ऐसे कार्य तो कर सकता है जिनसे नागरिकों के नैतिक विकास में सहायता मिले। यही नहीं यदि नैतिकता की बातें कानूनों के अन्तर्गत आ जाती हैं तो उनको वह लागू भी कर सकता है। पर कानूनों को लागू करना और नागरिकों को नैतिक बनाना दो पृथक बातें हैं। पर इस प्रकार की बातें कम ही हैं और राज्य के कार्य अब बहुत व्यापक हो गये हैं।

—oo—

नवाँ अध्याय

कानून, आज्ञा-पालन और दण्ड

हम क्रान्तिकारी अस्त्रों का उपयोग करने के तभी अधिकारी हैं जब समझाने के ढंगों का मुकाबला दमन से किया जाता है। क्योंकि सभ्यता के साधनों को केवल अन्त में ही छोड़ना चाहिये।

—हेरोल्ड जे० लास्की

I कानून का अर्थ

कानून अथवा नियम शब्द बहुत व्यापक है। इसे कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। प्राकृतिक जगत में ऐसी बातों को जो कार्य-कारण का सम्बन्ध प्रकट करती हैं अथवा किसी सत्य का उद्घाटन करती है 'कानून' या 'नियम' का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिये यह एक प्राकृतिक नियम (Physical Law) है कि होने से पदार्थ बढ़ते हैं। इसी प्रकार का एक नियम यह भी है कि ठोस वस्तु को ऊपर उछालने से वह पृथ्वी पर आ गिरेगी। इन्हें प्राकृतिक नियम इसलिये कहा जाता है कि यह ऐसे प्राकृतिक सत्य हैं जो सभी देशों कालों और परिस्थितियों में ठीक पाये जावेंगे।

जिस प्रकार प्राकृतिक जगत से सम्बन्ध रखने वाले ये कानून हैं, मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले भी अनेक प्रकार के कानून होते हैं। मनुष्य सम्बन्धी इन नियमों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग तो ऐसे नियमों का है जिन्हें कोई मनुष्य शक्ति लागू नहीं कर सकती और दूसरा वर्ग उन नियमों का है जो लागू किये जा सकते हैं और किये जाते हैं। प्रथम वर्ग में दो प्रकार के कानून आ जाते हैं : (१) ईश्वरीय या धार्मिक नियम (Laws of God)। ये वे नियम हैं जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे ईश्वर प्रणीत है। प्रत्येक

धर्म इस प्रकार के कुछ न कुछ नियम बतलाता है। इन नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के मन, वचन और कर्म तीनों से ही होता है। उदाहरण के लिये धर्म का एक नियम यह है कि किसी का बुरा न चाहो। यहाँ मन से भी दूसरे का बुरा चाहने का निषेध है। इन नियमों का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। इन्हें मानना न मानना मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर है। धार्मिक लोगों का ऐसा विश्वास है कि इन्हें न मानने से पाप (Sin) लगता है और मृत्यु के पश्चात् दुख उठाना पड़ता है। (२) नैसर्गिक नियम (Law of Nature) जिन पर आगे विचार किया जायगा। दूसरे वर्ग में भी दो प्रकार के के कानून आ जाते हैं : (३) नैतिक नियम (Moral Laws) जिनका आधार नैतिकता अथवा जन-मत होता है और (४) राजकीय कानून (Civil or Positvie Laws) जिनका आधार राज्यसत्ता है। इसी वर्गीकरण को यों रक्खा जा सकता है :—

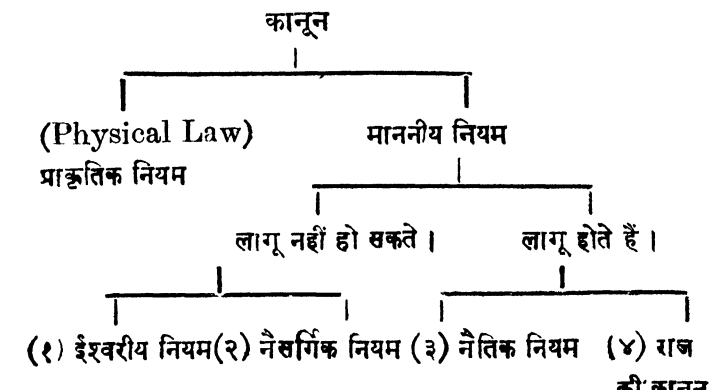

राजकीय कानून—सर्वप्रथम यहाँ राजकीय कानूनों पर विचार किया जायगा। राजकीय कानून उन कानूनों को कहते हैं जिन्हें राज्य स्वीकार करता है और लागू करता है। इन कानूनों का सम्बन्ध केवल मनुष्य के वाह्य कार्यों से होता है। उसे ऐसी बातों से मतलब नहीं होता जिसका वाह्य रूप में कोई फल न हो। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति दूसरे को चोट या हानि पहुंचाना चाहता है तो कानून तब तक उनके ऊपर लागू नहीं हो सकता जब तक अपने इस विचार को वह कार्य रूप में परिणित करने का प्रयत्न न करे। राजकीय कानूनों का सम्बन्ध केवल वचन और कर्म से है मन से नहीं क्योंकि मन की बात जानना मनुष्य के सामर्थ की बात नहीं है। इन बातों को ध्यान में रख कर राजकीय कानून की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: राजकीय कानून राज्य द्वारा स्वीकृत मनुष्यों के वाह्य कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले आचरण के वे नियम हैं जिन्हें राज्य लागू करता है। आस्टिन (Austin) ने इन्हें 'राज्यसत्ताधारी द्वारा दी गईं आचरण सम्बन्धी आज्ञायें' बतलाया है। किन्तु आस्टिन ने यह भुला दिया है कि सभी राजकीय कानून आज्ञाओं के रूप में नहीं होते। राजकीय कानून के दो रूप पाये जाते हैं: (१) आज्ञात्मक (Mandatory) कानून जिन्हें मानना आवश्यक है। उदाहरण के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कानून के अनुसार टैक्स देना ही होता है। उससे छूट नहीं मिल सकती। राज्य स्वयं चाहे तो भले ही उसे बरी कर दे। इसमें निषेधात्मक (Negative) कानून भी जिनके द्वारा कुछ कार्य करने की मनाही की जाती है आ जाते हैं। इनको न मानने से राज्य दण्ड देता है। (२) पर कुछ राजकीय कानून ऐसे भी हैं जिन्हें मानने के लिये व्यक्ति वाध्य नहीं होता। इन्हें अनुमति दायक कानून (Permissive Laws) कहा जाता है। उदाहरण के लिये सगोत्र-विवाह कानून का अभिप्राय यह

कदापि यह नहीं है कि प्रत्येक विवाह अपने ही गोत्र में हो वरन् यह है कि अपने ही गोत्र में भी विवाह किया जा सकता है। आस्टिन कानून को आज्ञा बता कर इन अनुमति-दायक कानूनों को भुला देता है। यही नहीं, यह परिभाषा केवल राज्यसत्ताधारी को ही कानून का एक मात्र स्रोत (Source) मानती है। प्रथाओं पर और न्यायाधीशों के निर्णयों पर आधारित कानूनों पर यह ध्यान नहीं देती। फिर इस परिभाषा से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि कानून का आधार शक्ति है। तथ्य यह है कि मनुष्य कानून का पालन केवल इसलिये करते हैं कि वे उनकी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। हालैंड और सामण्ड की परिभाषायें इससे अच्छी हैं। हालैण्ड (Holland) के अनुसार ये 'मनुष्यों के बाह्य आचरण के वे व्यापक नियम हैं जिन्हें सर्वोच्च राज्यसत्ता लागू करती है।' सामंड (Salmoud) के कथनानुसार ये 'उन सिद्धान्तों का समूह है जिन्हें राज्य स्वीकार करता है और न्याय प्रबन्ध के लिये न्यायालयों में काम में लाता है।'

II राजकीय कानूनों के स्रोत और भेद

कानूनों के बनने के जरिये कई हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि केवल राज्यसत्ताधारी ही कानून बना सकता है। यहाँ संक्षेप में इन पर विचार किया जायगा।

सामाजिक प्रथायें या रीति-रिवाज—प्राचीन काल में समाज में लिखे हुए कानून नहीं होते थे। उस समय प्रचिलित प्रथाओं के अनुसार कार्य किये जाते थे। प्रथाओं या रीति-रिवाजों का विकास सामाजिक आवश्यकता अथवा समयानुकूलता के कारण होता है। इनमें से सभी प्रथाओं को स्थायित्व प्राप्त नहीं हो जाता। समय की आवश्यकता के अनुसार कुछ तो बराबर बदलती रहती हैं और कुछ बहुत

समय तक चलती हैं। ऐसी प्राचीन प्रथाओं को कानून के समान ही समझा जाता है और लागू किया जाता है। कभी-कभी राज्य स्वयं इन्हें कानून रूप देकर राजकीय कानून बना देता है। अलग-अलग राज्यों में रीति-रिवाजों का यह भाग अलग-अलग होता है। इंगलैण्ड में इनका महत्व बहुत ज्यादा है। राजकीय कानूनों का यह भाग वहाँ कॉमन लॉ (Common Law) कहलाता है।

धर्म—प्राचीन समय में प्रथाओं और धार्मिक नियमों में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था। अनेक प्रथायें ऐसी थीं जो धर्म के नियमों पर आधारित थीं। जब कभी कोई नया प्रश्न उठता था तो मुनियों और ऋषियों से परामर्श लेकर काम किया जाता था। भारतवर्ष जैसे धर्म प्रधान देश में तो कानून बहुत कुछ धर्म ग्रंथों के आधार से बनते थे। अब भी हिन्दू लॉ (Hindu Law) इसी प्रकार के नियमों का संग्रह मात्र है। इसी प्रकार मुस्लिम लॉ (Muslim Law) भी धर्म ग्रंथों पर बना हुआ है।

पंचों और न्यायाधीशों के निर्णय—न्यायाधीश या पंच केवल कानूनों की व्याख्या और उन्हें लागू ही नहीं करते उन्हें पुराने कानूनों को नये मामलों में लागू करना होता है। और कानून के अस्पष्ट रहने पर न्याय, नैतिकता अथवा विवेक के आधार पर निर्णय देना होता है। कुछ न्यायाधीशों के निर्णय इतने सुन्दर होते हैं कि भविष्य के लिये वे उदाहरण (Precedent) बन जाते हैं। कहीं कहीं यह नियम होता है कि बड़ी अदालतों के उदाहरण छोटी अदालतों को मानने होते हैं। ऐसा ब्रिटेन और हिन्दुस्तान में है। यदि ऐसा न भी हो तब भी इन उदाहरणों का आदर किया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्यायाधीश भी कानून बनाते हैं जो अन्य कानूनों के समान ही मान्य होते हैं

ऐसे कानूनों को न्यायाधीशों द्वारा बने कानून (Judge made Law) कहा जाता है।

वैज्ञानिक टीकायें—कानून के विकास में वैज्ञानिक व्याख्याओं और टीकाओं का भी कम महत्व नहीं है। जो काम न्यायाधीश अपने सन्मुख उपस्थित मामलों को लेकर करते हैं, वही कानूनदां भी करते हैं। वे कानूनों की व्याख्या करने के लिये और उनकी बारीकियों को समझने के लिये काल्पनिक मामलों का सहारा लेते हैं। कभी-कभी वे कानूनों की कमियों की ओर ध्यान दिला कर उनकी पूर्ति के लिये सुझाव रखते हैं। कुछ विचारक इतने प्रामाणिक माने जाते हैं कि उनका मत न्यायाधीश स्वीकार कर लेते हैं। वर्तमान हिन्दू लॉ में मिताक्षर और दयाभंग की अधिकारी रचनाओं को यही स्थान प्राप्त है।

व्यवस्थापिका विभाग—यह जरिया वर्तमान युग में अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। अब सभी राज्यों में एक व्यवस्थापिका विभाग रहता है जिसका काम भी कानूनों को बनाना है। कानून बनाने का यह काम एक व्यक्ति अथवा सभा के हाथ में हो सकता है। जनतंत्र के युग में यह काम प्रायः व्यवस्थापिका सभा को दे दिया जाता है। कानून का यह जरिया शेष सभी जरियों से ऊंचा है। अन्य स्रोतों द्वारा बने कानून व्यवस्थापिका विभाग द्वारा संशोधित, और रद्द किये जा सकते हैं। अतएव कानून बनाने में यह विभाग सर्वोच्च कहा गया है।

राजकीय कानूनों के भेद—राजकीय कानून कई प्रकार के होते हैं। (१) वैधानिक कानूनों (Constitutional) के अन्तर्गत वे सभी कानून आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध सरकार के संगठन तथा अधिकार. राज्य के उद्देश्य, नागरिकों के अधिकार तथा कर्तव्यों से

होता है ऐसे कानूनों को अन्य कानूनों से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है और इनको बनाने और संशोधित करने के लिये प्रायः एक विशेष कार्य-प्रणाली (Procedure) निर्धारित होती है। (२) **शासन सम्बन्धी कानून** (Administrative Law) उनको कहते हैं जो सरकारी अफसरों की विशेष स्थिति और उत्तरदायित्वों को स्थिर करते हैं, उनके प्रति नागरिकों के अधिकारों को बताते हैं और इनके मामलों में बरती जाने वाली कार्य-प्रणाली का निर्धारित करते हैं। ऐसे कानून फ्रान्स में प्रचलित हैं। यदि फ्रान्स में कोई अफसर भूल करता है तो उस पर साधारण न्यायालयों में साधारण कानूनों द्वारा अभियोग नहीं चलाया जाता। इसके लिये शासन संबंधी विशेष न्यायालय और विशेष कानून होते हैं। इन्हीं को शासन सम्बन्धी कानूनों का नाम दिया जाता है। (३) **साधारण कानून** (Statute-Law) वैधानिक कानूनों के अतिरिक्त ऐसे अन्य कानूनों को कहते हैं जिन्हें राज्य का व्यवस्थापिका विभाग बनाता है। शासन सम्बन्धी कानून प्रायः साधारण कानूनों के ही एक भाग होते हैं। (४) **अस्थायी राजाज्ञायें** (Decrees or Ordinances or Orders) उन आज्ञाओं, आर्डिनेन्शों आदि को कहते हैं जिन्हें प्रबन्धक विभाग के अधिकारी विशेष परिस्थितियों में कुछ समय के लिये बनाते हैं। इनके अन्तर्गत वे आज्ञायें और उपनियम भी आ जाते हैं जिन्हें मनाने और लागू करने का अधिकार उन्हें कानून के अन्तर्गत दिया गया हो। (५) **प्रथाओं पर आश्रित कानून** (Common Law or Customary Law) उन्हें कहते हैं जो समाज में बहुत समय से चले आ रहे हैं और जिन्हें न्यायालय कानून के समान ही मान्य ठहराते हैं। ये लिखित अथवा अलिखित दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। (६) **न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून** (Judge made Laws) के

अन्तर्गत वे सभी कानून आ जाते हैं जिनके बनने में या विकसित होने में न्यायाधीशों का हाथ रहता है (७) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) उन कानूनों को कहते हैं जो राज्यों के आपसी सम्बन्धों के विषय में होते हैं। ये कानून सन्धियों, प्रथाओं, पारस्परिक समझौतों और अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों के निर्णयों पर आश्रित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसी सीमा तक राजकीय कानूनों की श्रेणी में आते हैं जिस सीमा तक राज्य इन्हें अपने देश का कानून मानकर इन्हें लागू करता है। यदि इनमें से कुछ को राज्य स्वीकार नहीं करता तो वे राजकीय कानून न होकर नैतिक कानून की श्रेणी में आ जाते हैं।

III राजकीय कानून और अन्य प्रकार के कानून

विचारों को उलझन से बचाने के लिये अच्छा होता यदि कानून शब्द केवल राजकीय कानूनों के लिये ही प्रयुक्त किया जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता और प्रायः 'कानून' और 'नियम' शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। नीचे कुछ नियमों पर विचार किया जायगा और राजकीय कानूनों से उनका अन्तर भी स्पष्टतः समझाया जायगा।

मानवीय कानून और प्राकृतिक नियम—हम कह चुके हैं कि प्राकृतिक घटनाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध प्रकट करने वाले सत्यों को प्राकृतिक नियमों (Physical Laws) का नाम दिया गया है। मानवीय कानूनों अथवा नियमों में और इनमें बड़ा अन्तर है (१) प्राकृतिक नियम प्राकृतिक जगत में होने वाली घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं जबकि मानवीय नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है। (२) प्राकृतिक नियम बनाये नहीं जाते, उन्हें खोज निकाला जाता है।

उन्हें मनुष्य जाने या न जाने माने या न माने, वे सदैव सत्य बने रहेंगे और प्राकृतिक जगत में उनके अनुसार कार्य होता इसमें संदेह नहीं। विपरीत ईश्वर प्रणीत नियमों को छोड़ कर शेष सभी मानवीय कानून मनुष्यकृत हैं। इनमें से कुछ लागू किये जा सकते हैं और कुछ केवल विचार भर होते हैं और कभी लागू नहीं होते। (३) यदि प्राकृतिक घटनायें प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हों तो इस निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है कि ये नियम त्रुटिपूर्ण हैं और सत्य नियमों को खोजने के प्रयत्न किये जाते हैं। किन्तु मानवीय नियमों के विरुद्ध आचरण होने पर यह परिणाम नहीं निकाला जाता और राजकीय कानूनों को तोड़ने पर तो अपराधियों को दण्ड भी दिया जाता है। (४) प्राकृतिक नियम सर्व व्यापी, स्थिर, निश्चित और स्थायी होते हैं। स्थान, काल और परिस्थिति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सर्वमान्य होते हैं। उनका विरोध किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता क्यों कि उन्हें सत्य प्रमाणित किया जा सकता है। मानवीय कानूनों के साथ यह बात नहीं होती। प्रत्येक समाज, धर्म, काल, परिस्थिति में ये बदलते रहते हैं। इनके विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है। इनका विरोध किये जाने पर उन्हें उचित ठहराने का कोई साधन नहीं है। हां राजकीय नियमों के उल्लंघन किये जाने पर दण्ड अवश्य दिया जा सकता है।

नैसर्गिक नियम—'नैसर्गिक नियम' (Law of Nature) शब्द को विद्वानों ने कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। अतएव उसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना सम्भव नहीं है। ग्रीक विचारकों का मत यह था कि जिस प्रकार प्राकृतिक जगत में नियम होते हैं, मानव जगत में भी ऐसे ही सर्वव्यापी और स्थायी नियमों का पता लगाया जा सकता है। उनका विश्वास था कि सकल विश्व कुछ ऐसे ही व्यापक बुनियादी नियमों से बंधा हुआ है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने अपने मत भी

दिये हैं। इनके बाद में स्टोइक्स (Stoics) ने नैसर्गिक नियम की अपनी एक नई व्याख्या दी। उनके अनुसार ये 'विवेक पर आधारित दैवी नियम' होते है। उनका कहना था कि बुद्धि के द्वारा ऐसे ईश्वरीय नियमों का पता लगाया जा सकता है जो सब व्यापक होते हैं। यह लोग एक प्रकार से आदर्श नियमों को खोज निकालना चाहते थे जो स्थानीय कानूनों से अच्छे हों और मानव भाग पर समान रूप से लागू किये जा सकें।

आधुनिक युग मे आकर इस विचार का एक नया उपयोग किया जाने लगा। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले विचारकों ने एक ऐसी नैसर्गिक अवस्था की कल्पना की जब राज्य न था। उन्होंने बताया कि ऐसी राज्यहीन नैसर्गिक अवस्था में मनुष्य जिन नियमों को मानते थे उन्हीं का नाम नैसर्गिक नियम है। किसी विद्वान ने यह कहा कि ये नियम मानव-स्वभाव पर आधारित थे तो किसी ने यह बतलाया कि वे विवेक पर आधारित थे। इसके पश्चात् स्पेंशर (Herbert Spencer) ने भी नैसर्गिक नियम की चर्चा की। उसके अनुसार नैसर्गिक नियम केवल एक है। वह यह कि मनुष्यों को स्वतन्त्रता का समान अधिकार है।

इस प्रकार इस विचार को कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया। पर सभी विद्वानों का उद्देश्य कुछ ऐसे आदर्श नियमों को बताना प्रतीत होता है जो व्यवहारिक जीवन में लागू किये जाय। इनके आधार पर वे राजकीय नियमों की आलोचना करना चाहते थे या उनमें कुछ सुधार कराना चाहते थे या अपनी समझ के अनुसार कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य उपस्थित करना चाहते थे। इनका उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो इस विचार ने राजनीति में एक महत्वपूर्ण काम किया है यानी आदर्श की ओर ध्यान दिलाया है। आदर्श का यह विचार मनुष्य

की प्रकृति नैतिकता, न्याय अथवा विवेक-किसी पर भी आधारित किया जा सकता है।

नैसर्गिक नियमों का राजकीय कानूनों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। होब्स और लौक का अवश्य यह मत था कि राजकीय नियम नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध नहीं हो सकते। किन्तु होब्स नैसर्गिक नियमों की व्याख्या करने के अधिकार राज्यसत्ताधारी को सौंप कर दोनों का भेद मिटा देता है जबकि लौक के अनुसार नैसर्गिक नियम ही राज्य के उत्पन्न हो जाने पर राजकीय कानून कहलाने लगते हैं। हम देख चुके हैं कि कई कारणों से यह विचार ठीक नहीं है। राजकीय कानून सब स्थानों में अलग होते हैं किन्तु नैसर्गिक नियम सभी देश, काल और परिस्थितियों में एक रहते हैं। अतएव वे एक नहीं हो सकते। आज इस विचार का महत्व केवल यही रह गया है कि इस आधार पर राजकीय नियमों में सुधार होते रहते हैं। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को बनाने में इस विचार ने बहुत सहयोग दिया है।

नैतिक नियम—नैतिक नियम (Moral Laws) उन नियमों को कहते हैं जो मनुष्य के बाह्य कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं और जिन्हें समाज स्वीकार करता है। समाज द्वारा यह स्वीकृति प्रदान लोकमत द्वारा अथवा समाज की नैतिक चेतना द्वारा दी जाती है। उन्हें लागू करने के लिये समाज के पास राज्य के समान साधन उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इन कानूनों का आधार मनुष्य की 'सामाजिकता' और 'लोकमत ही कहा जा सकता है।

IV कानून और नैतिकता

कानून और नैतिकता में बहुत अन्तर है। (१) कानून से हमारा तात्पर्य यहां उन राजकीय नियमों से है जो नागरिकों को यह बतलाते

हैं कि वे क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते। यदि वे कानून के विरुद्ध कार्य करेंगे तो वे दण्डनीय होंगे। इसके विपरीत नैतिकता व्यक्ति को यह बतलाती है कि क्या करना उचित है और क्या करना उचित नहीं है। जहां पहले का स्रोत राज्य है दूसरे का स्रोत नैतिकता की भावना है। (२) दोनों के क्षेत्र भी भिन्न हैं। राजकीय कानूनों का सम्बन्ध केवल वाह्य कार्यों से है जबकि नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक और वाह्य जीवन दोनों से ही है। आन्तरिक बातों में कानून का कोई दखल नहीं है। (३) कानून निश्चित और लिखित होते हैं। यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि राज्य के बनाये गये कानून क्या हैं। किंतु नैतिकता के विषय में यह सुविधा नहीं है। नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा या चेतना से है और इस सम्बन्ध में हो सकता है कि दो व्यक्तियों के विचार भिन्न हों। (४) कानून को राज्य लागू करता है और उनके उल्लंघन किये जाने पर दण्ड देता है। नैतिकता से पीछे केवल आत्मा अथवा जनमत की शक्ति होती है। (५) कानून इसलिये बनाये जाते हैं कि वे समयानुकूल और उपयोगी होते हैं। अतएव ऐसे कार्य भी जो अनैतिक नहीं हैं गैर कानूनी घोषित कर दिये जाते हैं क्यों कि सरकार ऐसा करना ठीक समझती है। जैसे सड़क पर बाईं ओर चलने में नैतिकता का कोई प्रश्न उठता किन्तु एक कार को भीड़भाड़ की जगह दाईं ओर चलाने पर चालान किया जा सकता है। साइकिल पर दोहरी सवारी करना या बिना लेम्प चलना अनैतिक न होने पर भी दण्डनीय है। (५) यही नहीं कुछ ऐसे कानून भी होते हैं जो नैतिक भावना के विरुद्ध हैं। नैतिकता यह माँग करती है कि जो भी ऋण लिये जांय उन्हें पूरा चुकता किया जाय। किन्तु कानून एक अवधि निर्धारित करता है जिसके अन्दर वसूलयाबी की कार्यवाही यदि न की जाय तो ऋण मारा जाता है।

नैतिकता और कानून में स्पष्ट भेद होने पर भी दोनों में बहुत घनिष्टता है। प्राचीन काल से ही कानून, धर्म और नैतिकता में एक निकट का सम्बन्ध रहा है। यह बात इसी से स्पष्ट हो जायगी कि हिन्दी के 'धर्म' शब्द से कानूनी कर्तव्य और नैतिक उत्तरदायित्व दोनों की ही ध्वनि निकलती है। आज भी यह माना जाता है कि अच्छे कानून नागरिकों की नैतिक चेतना के अनुकूल होने चाहियें। यही नहीं नैतिकता और कानून परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जो कानून बहुत समय तक माने जाते हैं वे ही नैतिकता के एक अंग बन जाते है। कुछ समय पूर्व बाल-विवाह केवल एक कानूनी अपराध समझा जाता था, अब यह एक नैतिक अपराध भी माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका आपसी सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। राज्य और कानून बराबर जनमत पर प्रभाव डालते रहते हैं और स्वयं भी समाज के नैतिक विकास के परिचायक होते हैं।*

V कानून का उद्देश्य

कानून के उद्देश्य के सम्बन्ध में सभी विचारकों के मत एक न होने पर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे आज सभी सहमत होंगे। कुछ समय पूर्व विद्वानों का यह मत था कि राज्य कानूनों को बनाता है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि राज्य द्वारा राजकीय कानून स्वीकृत और लागू किये जाते हैं तब तो इस विचार से सभी सहमत होंगे। किन्तु यदि इसका मतलब यह हो कि सर्वप्रथम राज्य ने ही कानून को जन्म दिया अथवा सरकार मनचाहे कानून बना सकती है तो यह धारणा निश्चित रूप मे भ्रमोत्पादक है। प्रारम्भिक समाज में भी किसी न किसी

---

*देखिये R. N. Gilchiol, **the principel of Political Science**, p-183 सिजविक की Elements of Politics में भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

रूप में नियम वर्तमान थे। भेद केवल यह है कि वे धर्म, अथवा प्रथा पर आश्रित थे। पर पालन उन्हें भी करना होता था। सच बात तो यह है कि जहाँ भी मनुष्य मिलकर रहते हैं नियमों का होना अनिवार्य हो जाता है। यदि नियम न हों तो आपस में मिलकर रहने का कोई आधार ही न रह जाय। आपस में ही मारकाट और छीना झपटी शुरू हो जाय। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनमानी करे और प्रत्येक मनुष्य का जीवन संकटमय हो जाय। हाब्स के बताये हुई नैसर्गिक अवस्था जैसा ही जीवन हो जाय स्पष्ट तथा सामाजिक जीवन नियमों के अभाव में सम्भव नहीं हो सकता। बिना नियम बनाये और माने साधारण खेलकूद या सभायें तक नहीं चल सकतीं। इससे यह स्पष्ट है कि नियमों के बिना सामाजिक जीवन और सभ्यता असम्भव है।

तो फिर कानून क्या करता है? कानून व्यक्तियों की मनमानी को रोकता है। मनुष्य को जंगली अवस्था से निकाल कर उन्हें सभ्य बनाता है और शक्ति के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पर बल देता है। वह लोगों के अधिकारों और कर्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या करता है और व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों और समुदायों के साथ के सम्बन्धों को निश्चित करता है। सारांश यह है कि कानून ऐसी अवस्था पैदा करता है जिससे व्यक्ति का अधिकतम विकास हो सके और साथ ही सामाजिक जीवन भी निरंतर प्रगति करता रहे। पीछे हम राज्य की आवश्यकता और महत्व पर विचार कर चुके हैं। राज्य के सम्बन्ध में कही गई सभी बातें कानून पर भी लागू होती हैं क्यों कि राज्य का काम कानूनों द्वारा ही चलता है।

VI अच्छे और बुरे कानून

हम कह आये हैं कि राज्य कानून द्वारा सभ्य जीवन सम्भव बनाता है। कानून यदि राज्य के इस उद्देश्य को ठीक प्रकार से पूरा करते

हैं तो उन्हें अच्छे कानून कहा जाता है। यदि वह इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते तो बुरे कानून कहलवाते हैं। पर कानूनदा इस भेद को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि अच्छे और बुरे कानूनों की बात करना व्यर्थ है। राज्य सभी कानूनों को समान रूप से लागू करता है, वे सभी माननीय हैं फिर व्यर्थ में यह विवाद क्यों किया जाय ?

कानूनदा के इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य का अपना एक व्यक्तित्व होता है और उसका विकास ही मानव जीवन का ध्येय होता है। अतएव हमें सभी संस्थाओं को इस आधार पर जाँचना पड़ेगा कि वे मनुष्य के विकास में सहायता पहुंचाती हैं या बाधा, और यदि वे बाधक हैं तो उन्हें या तो बदल देना होगा या नष्ट कर देना। अतएव यह नहीं माना जा सकता कि राज्य के लागू करने से ही कोई कानून उचित या अच्छा बन जाता है।

अच्छे कानून की पहिचान—अच्छे कानून की पहिचान निम्नलिखित बातों से की जा सकती है: (१) क्या कानून समाज की आवश्यकता की पूर्ति करता है ? (२) क्या वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति या अधिकतर व्यक्तियों को लाभ पहुंचाता है ? (३) क्या वह निष्पक्ष और न्याय पर आधारित है ? वह किसी व्यक्ति समूह या वर्ग का हित-साधन तो नहीं करता ? (४) क्या आम जनता उसके पक्ष में है और प्रसन्नता से उसका पालन करती है ? (५) क्या वह समाज की नैतिक भावना के अनुकूल है ? (६) क्या वह व्यक्तियों के विकास में सहायता पहुंचाने वाला है ? (७) क्या उसमें अपराधियों के लिये समुचित दण्ड की व्यवस्था है ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक है तो वह अच्छा कानून है, नहीं तो बुरा है।

बुरे कानूनों को कैसे बदलवाया जाय ?—यदि सरकार बुरे कानूनों को बनाती है तो नागरिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उन्हें बदलवाने का प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जन-संगठन आवश्यक है जिससे निरंकुशता का विरोध किया जा सके। उन्हें समाचार पत्रों द्वारा, सभा करके प्रदर्शन करके इन कानूनों का विरोध करना चाहिये। इन बातों से एक लाभ तो यह होगा कि एक संगठित जनमत इन कानूनों के विरुद्ध बनाया जा सके और दूसरा लाभ यह भी होगा कि सरकार को भी पता चल जावेगा कि जनता को यह कानून पसन्द नहीं है। इन लगातार आन्दोलनों का नैतिक परिणाम यह होगा कि सरकार इन कानूनों पर पुनर्विचार करने के लिये बाध्य हो जायगी। यदि देश में प्रतिनिधात्मक संस्थायें हैं तो उनमें इन कानूनों के विरोध में प्रस्ताव पास किये जाने चाहिये। यदि नामजद सदस्यों के कारण ये प्रस्ताव पास न हों तो सरकारी पदाधिकारियों के पास प्रतिनिधि-मंडल ले जाने चाहिये और आवेदन-पत्र भेजे जाने चाहिये। इस पर भी यदि जनमत की उपेक्षा की जाय तो जनता के प्रतिनिधियों को सरकारी धारा सभाओं से त्यागपत्र देकर इन कानूनों के प्रश्न को लेकर चुनाव लड़ने चाहिये। यदि धारा-सभा में निर्वाचित सदस्यों को बहुमत है और जनता इन्हें हटाने के पक्ष में है तो कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है ऐसा न होने पर नागरिकों को सरकार से असहयोग करके ऐसे कानूनों को मानने से इन्कार कर देने का नैतिक अधिकार है। किन्तु ऐसा तभी किया जाना चाहिये जब कि समस्त वैधानिक और शान्तिपूर्ण उपायों को प्रयुक्त कर लिया गया हो और वे असफल हो गये हों। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी जी का अहिंसक असहयोग का अस्त्र एक नवीन ढंग है। सशस्त्र विद्रोह की अपेक्षा इसका प्रयोग भी कुछ कम कारगर नहीं होता। पर एक बात ध्यान में रखने की है। जिन कानूनों का विरोध

किया जा रहा है वे यथार्थ में इतने महत्वपूर्ण होने चाहिये कि उनके लिये राज्य की आज्ञा का उल्लंघन भी ठीक हो। छोटी मोटी बातों के लिये इसका प्रयोग लाभ के स्थान पर उलटा हानि ही पहुंचाता है।

VII आज्ञापालन क्यों ?

कानूनों का पालन संगठित समाज के लिए आवश्यक माना जाता है। यदिकतर व्यक्ति प्रायः राजाज्ञाओं का पालन करें तो राज्य का स्थिर रहना ही कठिन हो जाय। बात तो यह ठीक है। पर प्रश्न यह उठता है कि नागरिक प्रायः कानूनों तथा अन्य राजाज्ञाओं का पालन क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर विद्वानों ने अलग-अलग दिये हैं। हाब्स के अनुसार व्यक्ति शक्ति-भय अथवा दबाव के कारण (Force-or Fear) राज्य की आज्ञाओं को मानता है। लौक के अनुसार राजाज्ञाओं को मानने का कारण व्यक्तिगत हित (Utility) है। ऐसा करने से उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। बाद में बैन्थम (Bentham) में भी उपयोगिता के इस सिद्धान्त पर बल दिया। रूसो के अनुसार राज्य का आधार इच्छा (Will) है। मनुष्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं क्योंकि ये अनुभव करते हैं कि ये आज्ञायें सामान्य हित के लिये दी गई हैं और वे उसकी निस्वार्थ इच्छा (disinterested will) से मेल खाती हैं। सर हेनरी मेन (Sir Hanry Mrine) ने आज्ञापालन का कारण आदत (Habit) बतलाया। मनुष्य को जब एक काम करने की आदत पड़ जाती है तो वह बिना समझे सोचे उसे करता रहता है। इनमें से कोई भी व्याख्या पूर्ण नहीं है यद्यपि सभी में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। सच तो यह है कि आज्ञापालन मनुष्य की किसी एक प्रवृत्ति का नहीं

वरन् अनेक प्रवृतियों का परिणाम है। इनमें से केवल कुछ मुख्य प्रवृतियों पर यहां ध्यान दिया जा सकता है।

लार्ड ब्राइस ने भय उपयोगिता, इच्छा, आदत के अतिरिक्त आज्ञा पालन के कई अन्य कारण भी बताये हैं। सर्वप्रथम स्थान वह उदासीनता (Indolence) को देते हैं। मनुष्य स्वयं तकलीफ नहीं उठाना चाहता। वे सबसे सरल मार्ग को अपनाना पसन्द करते हैं और यह मार्ग है राज्य की आज्ञाओं का पालन दूसरा कारण आदर भाव (Deference) है। यह आदर भाव प्रेम, श्रद्धा, प्रसिद्धि या यसन्दगी में किसी पर आधारित हो सकता है। इनके कारण व्यक्ति राजाज्ञाओं का पालन करते हैं। तीसरा कारण है सहानुभूति (Sympathy) यानी अनुकरण करने का स्वभाव। इनके अतिरिक्त अनुशासन (Discipline) भी इसका एक कारण है। अनुशासन के कारण मनुष्य पसन्द न होने पर भी यकायक राज्य का विरोध करने को तैयार नहीं होता। आज्ञापालक का अन्य एक कारण जनमत (Opinion) भी बताया गया है। जनमत का नागरिकों के कार्यों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इसलिये कानून मानता है कि आंशिक रूप से भय, स्वार्थ, विवेक, इच्छा और जनमत उसे ऐसा करने की प्रेरणा देते हैं।

क्या राज्य के लिये लड़ने से इन्कार किया जा सकता है ?—कुछ विद्वानों का मत तो इस सम्बन्ध में यह है कि राज्य व्यक्ति के विकास के अवसर प्रदान करता है और सभ्य जीवन सम्भव बताया है। अतएव राज्य मनुष्य के लिये इतनी आवश्यक संस्था है कि उसके लिये व्यक्ति को अपने को बलिदान कर देने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। इसके विपरीत कुछ लोग युद्ध के इतने विरुद्ध है कि वे किसी

भी प्रकार के युद्ध में किसी भी प्रकार की सहायता करना अनुचित मानते हैं। इन दोनों के बीच का एक पक्ष ऐसे विचारकों का है जिनका मत यह है कि आक्रमक युद्ध (aggressive wars) होने पर राज्य के हेतु लड़ने से इन्कार कर देने का मनुष्य को नैतिक अधिकार है किन्तु रक्षात्मक युद्धों (defensive wars) में प्रत्येक मनुष्य को अपने देश की रक्षा हेतु अपने को उत्सर्ग कर देना चाहिये। अपनी सन्तानों को गुलामी से बचाने के लिए अपनी जान दे देना कुछ मँहगा सौदा नहीं है। पर वे युद्ध को नैतिक अपराध समझाने वाले शान्तिवादियों को देश की रक्षा हेतु अस्त्र उठाने के उत्तरदायित्व से मुक्त कर देने को तत्पर हैं। पर उनसे अन्य काम लिये जा सकते हैं। यह विचार अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

क्या व्यक्ति को आज्ञा उल्लंघन का अधिकार है?—शक्तिशाली सरकार में विश्वास करने वाला हाब्स यह अधिकार मानने को कतई तैयार नहीं है। लौक ऐसे मामलों में इस अधिकार को मानने को तैयार है जब कि सरकार सामान्य हित की एकदम उपेक्षा कर देती है और निरंकुशतापूर्वक राज्य करती है। रूसो के मतानुसार सरकार को जब भी जनता ठीक समझे बदल सकती है। प्रजातन्त्र के इस युग में विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब आज्ञापालन के स्थान पर आज्ञा-उल्लंघन ही मनुष्यों का नैतिक कर्तव्य हो। इस प्रकार के अवसर बुरे कानून बनाने, अनुत्तरदायी शासन कायम रखने, प्रजा पर अत्याचार किये जाने, जनमत की उपेक्षा करने और आक्रमक युद्ध करने पर आ सकते हैं। किन्तु आज्ञा-उल्लंघन सदैव एक गम्भीर बात होती है और इस विषय में बहुत सोच विचार के साथ काम लिया जाना चाहिये।

अँगरेज आदर्शवादी ग्रीन (T. H. Green) ने कहा है कि

यदि राज्य नागरिकों की ऐसी माँगों को अस्वीकृत कर दे जिन्हें वे अपने नैतिक विकास के लिये आवश्यक समझता है तो विशेष परिस्थितियों में नागरिकों को विद्रोह करने का अधिकार मिल जाता है। किन्तु उसका कहना है कि पहले नागरिकों को समझा कर और हर सम्भव उपायों से प्रचार कर जनमत को अपने मत के अनुकूल कर लेना चाहिये। इतने पर भी उन्हें यह सोचना चाहिये कि क्या वर्तमान दशा इतनी बुरी है कि अराजकता उसकी अपेक्षा ठीक होगा? उन्हें यह भी देखना चाहिये कि क्या समाज उसका साथ देगा? यदि समाज भी उसका साथ दे तो विद्रोह किया जा सकता है; किन्तु ऐसी अवस्था में सरकार को पलटने में कोई दिक्कत न होगी।

प्रोफेसर लास्की (Laski) के अनुसार ग्रीन की बताई बातें पूरी हो जाने पर तो विद्रोह करना एक कर्तव्य हो जाता है। यों वह प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-उल्लंघन का अधिकार देता है चाहे वह अकेला ही क्यों न हो। किन्तु भावनाओं में न बहकर समझ से काम लिया जाना चाहिये।

महात्मा गांधी का भी यही मत है कि यदि अन्तर्आत्मा की प्रेरणा हो और गम्भीर विचार उस प्रेरणा का समर्थन करे तो किसी की भी परवा न करके राज्याज्ञा का उल्लंघन करना चाहिये किन्तु उसके बदले में व्यक्ति को कष्ट झेलने को भी तय्यार रहना चाहिये।

VIII दण्ड का उद्देश्य

राज्य में अनुशासन बनाये रखने के दो साधन हैं: एक तो नागरिकों की खुद की समझदारी जिसमें शिक्षा अत्यन्त सहायक होती है और दूसरी दण्ड व्यवस्था। यदि नासमझ व्यक्ति कानून का उल्लंघन करते हैं तो उन्हें दण्ड देना पड़ता है।

पर दण्ड का उद्देश्य क्या है ? कानून के समान ही दण्ड का उद्देश्य भी सब नागरिकों के लिये अच्छे जीवन की दशाओं को सुरक्षित बनाये रखना है। राज्य प्रत्येक नागरिक को कुछ अधिकार देता है जिनका उपयोग करके व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। किन्तु इन अधिकारों के उपयोग की शर्त यह है कि वह दूसरों के समान अधिकारों का आदर करे। यदि वह अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को हानि पहुँचाता है तो वह स्वयं भी अपने अधिकारों को खो बैठता है। इस प्रकार राज्य दण्ड देकर अपराधियों को दूसरों की स्वतन्त्रता का हनन करने से रोकता है। यह तो हुई दण्ड की आवश्यकता। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं। जिन पर आगे विचार किया जायगा।

प्रायश्चित का सिद्धान्त—इस मत के अनुसार दण्ड अपराध का एक अनिवार्य परिणाम है। अपराधी को दण्ड मिलने से उसके अपराध का प्रायश्चित (expiation) हो जाता है। सुकरात (Socrates) ने इसी बिना पर जेल से भागने से इन्कार कर दिया कि कानून के साथ किये गये इस अलिखित समझौते को वह नहीं तोड़ सकता। कान्त (Kant) के अनुसार यह एक नैतिक आवश्यकता है। हेगिल (Hegel) के अनुसार दण्ड अपराधी का एक नैतिक अधिकार है।

परिशोधात्मक सिद्धान्त— इस मत के अनुसार दण्ड अपराध का बदला (Retribution) है। बदला लेना मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्राचीन काल में हानि उठाने वाले व्यक्ति का समुदाय स्वयं बदला लिया करता था और 'खून के बदले खून' के सिद्धांत का अक्षरशः पालन किया जाता था। सरहद के आज़ाद कबीलों में आज भी यही प्रथा है। किंतु राज्य की स्थापना के पश्चात् व्यक्ति से यह

अधिकार ले लिया गया है। फिर भी कुछ विद्वानों का यह मत है कि राज्य को इस प्रकार से दण्ड देना चाहिये कि जनता की बदला लेने की भावना संतुष्ट हो जाय।

दृष्टान्त का सिद्धान्त—इस मत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य यह है कि दूसरे व्यक्ति उस दृष्टांत से शिक्षा लेकर अपराध करना छोड़ दें। दण्ड ऐसा होना चाहिये कि अपराधियों के मन में आतंक पैदा हो जाय और उन्हें ऐसे कार्य करने की हिम्मत न पड़े। यह विचार प्राचीन काल में बहुत प्रचलित था। उस समय जनता के सामने मौत की सजा देना, अपराधी का सिर कटवा कर नगर या दुर्ग के फाटक पर टँगवा देना, पेड़ से अपराधी को उलटा टाँग कर नीचे से आग लगवा देना आदि प्रथायें इसीलिये प्रचलित की गईं थी। अब इस प्रकार के दंग को बुरा माना जाता है।

नियन्त्रणात्मक सिद्धान्त—इस मत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य रोकथाम करना है। इसलिये दण्ड ऐसा दिया जाना चाहिये जिससे अपराधी यह समझ जाय कि अपराध करने में उसे घाटा रहा। इस मत के मानने वाले कुछ विद्वान् अपराधियों का अंग-भंग करने के पक्ष में हैं जिससे वे फिर अपराध न कर सकें मौत की सजा भी इस लिये दी जाती है जिससे अपराधी अपनी कार्यवाहियों से समाज को भविष्य में हानि न पहुँचावे। इसी कारण कारावास निष्कासन आदि दण्ड भी दिये जाते हैं। अंग-भंग में अब विश्वास नहीं किया जाता।

सुधारात्मक सिद्धान्त—इस मत के अनुसार दण्ड का सच्चा उद्देश्य अपराधी की मनोवृत्ति को पलटना होना चाहिये जिससे वह यह समझने लगे कि अपराध एक असामाजिक बात है इस मत के मानने वालों का यह विश्वास है कि कोई व्यक्ति जन्म से अपराधी नहीं होता। कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि मनुष्य को अपराधी बनाने का

उत्तरदायित्व सामाजिक परिस्थितियों पर है। अतएव यदि हम अपराध का अन्त करना चाहते हैं तो हमें इन परिस्थियों का सुधार करना चाहिये। बिना इनमें सुधार किये अपराध कम होने के प्रयत्न करना हास्यास्पद है। हमें अपने अपराधियों का सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें मारने का नहीं। आजकल होता यह है कि अपराधियों को कारावास में रख दिया जाता है जहाँ वे सुधरने के स्थान पर और भी पक्के बदमाश बन जाते हैं। इसके बजाय उन्हें शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक शिक्षा दी जानी चाहिये, और साथ ही कोई ऐसा काम भी सिखा देना चाहिये जिससे वे अपना जीवनोपार्जन कर सकें और समाज के अच्छे नागरिक बन सकें।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अपराध का कारण मस्तिष्क का विकार है और इलाज से अपराधियों को सुधारा जा सकता है। अतएव इनका कहना है कि बन्दीगृहों के स्थान पर सुधार-गृहों की व्यवस्था की जानी चाहिये जिनमें अपराधियों की चिकित्सा हो। यद्यपि इस विचार में भी सत्य का कुछ अंश है किन्तु यह पूर्णरूप से मान्य नहीं हो सकता।

आज सुधारात्मक सिद्धान्त की महत्ता सभी विचारक स्वीकार करते हैं। मुख्यतया बच्चों के मामलों में सुधारात्मक ढंग को उपयोग में लाने की सिफारिश की जाती है। सोवियत रूस में इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किये गये हैं और उनका आश्चर्यजनक फल निकाला है।

एक अच्छी दण्ड व्यवस्था में आधुनिक विचारकों के अनुसार परिशोधात्मक सिद्धान्त, दृष्टाँत के सिद्धान्त, नियन्त्रणात्मक सिद्धान्त और सुधारात्मक सिद्धान्त का समन्वय होना चाहिये। किन्तु उनमें विशेष ध्यान नियन्त्रणात्मक और सुधारात्मक सिद्धान्तों की ओर दिया जाना

चाहिये। जहाँ तक प्रायश्चित के सिद्धान्त का प्रश्न है उसकी आज के भौतिक युग में कोई मान्यता नहीं है।

आधुनिक विचारकों का यह मत है कि दण्ड निर्धारित करते समय निम्न बातों को ध्यान में रहना चाहिये—(१) अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिये। (२) दण्ड देते समय परिस्थिति पर ध्यान देना चाहिये। भावावेश में किये गये और सोच-समझ कर किये अपराधों के लिये एक ही दण्ड नहीं होना चाहिये। (३) दण्ड देते समय अपराधी के पिछले कार्यों और चरित्र पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। (४) अपराध के पीछे जो भावना निहित है यानी उसके उद्देश्य पर भी ध्यान रखाना चाहिये। (५) दण्ड देते समय अपराधी के व्यक्तित्व पर भी ध्यान रखना चाहिये। स्त्री, पुरुष और बालक, वृद्ध, युवा और शिशुको एक-सी मात्रा में दण्ड देना ठीक नहीं है। (६)दण्ड सीमा के अन्दर किंतु ऐसा होना चाहिये कि अपराधी और उसके विपक्षी दोनों की यह भावना रहे कि अपराध का उचित फल मिला है। (७) दण्ड का ध्येय सामाजिक हित है। अतएव ऐसा कोई कार्य नहीं किया जाना चाहिये जिससे समाज को हानि हो।

प्राणदण्ड का औचित्य—प्राण दण्ड के विषय में विचारक एक-मत नहीं हैं। किन्तु लोगों की आम भावना यह है कि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। अतएव यथा सम्भव उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। कभी २ ऐसा भी हुआ है कि प्राणदण्ड देने के पश्चात् अपराधी की निर्दोषता प्रमाणित हो गई है। विचारकों का कहना है कि जब मनुष्य को जीवित करने की सामर्थ सरकार में नहीं है तो उसको प्राणदण्ड देना भी उचित नहीं है। किन्तु देशद्रोह के अपराध में प्राणदण्ड की सभी राज्यों में व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त यदि यह प्रतीत हो कि एक अपराधी इतना पतित हो गया कि उसका सुधार होना

असम्भव है और उसका जीवित रहना समाज के लिये ख़तरे से ख़ाली नहीं है। तो उसे प्राणदण्ड दिया जा सकता है। किन्तु ऐसा करना तभी उचित ठहराया जा सकता है जब सुधार के सब प्रयत्न बेकार हो गये हों। साधारण हत्या के अपराध में मौत की सज़ा को तब तक उचित नहीं ठहराया जा सकता जब तक ऐसा कार्य जान बूझकर न किया गया हो। पर यह मतभेद का विषय है। कुछ विद्वानों का कहना है। कि किसी भी दशा में प्राणदण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। मनुष्य को कारावास में बन्दी बना कर उसे सुधारने के प्रयत्न किये जाने चाहियें। बहुत सम्भव है कि आगे चलकर वही व्यक्ति एक उत्तम नागरिक बन जावे।

———

दसवाँ अध्याय

नागरिकता

सच्चा नागरिक जीवन विस्तार में सर्वव्यापी है। उसका संबंध संसार के सभी देशों की जनता से और सभी श्रेणी के लोगों से है। मजदूर अथवा स्त्रियां कोई भी उसके बाहर नहीं हैं।

डा० बेनीप्रशाद

I नागरिक और प्राकृतीकरण:

प्रथम अध्याय में 'नागरिक' शब्द के प्राचीन और अर्वाचीन अर्थ पर प्रकाश डाला गया था। आपने देखा कि 'नागरिक' शब्द के शाब्दिक अर्थ और राजनीतिक प्रयोग में आकाश-पाताल का अन्तर है। आज नागरिक केवल नगर के निवासियों को ही नहीं वरन् उनसभी देश के निवासियों को कहा जाता है जो राज्य को अपना मानते हैं और राज्य की सदस्यता के नाते अनेक सुविधाओं को उपभोग करते हैं। वैटिल (Vettel) ने नागरिक की परिभाषा देते हुये कहा है कि 'नागरिक राज्य के वे सदस्य हैं जो उससे कुछ कर्तव्यों से बंधे हुए हैं, उसकी सत्ता के अन्तर्गत हैं और उससे प्राप्त लाभों में बराबर के भागीदार हैं।' इस प्रकार नागरिकता एक राजनीतिक और कानूनी स्थिति है। इसके मुख्य लक्षण यह हैं: (१) राज्य का सदस्य होना और उसे अपना समझकर उसे अपनी भक्ति देना। (२) बदले में

कुछ सुविधाओं को उपभोग करना जिसमें विदेश में जाने पर सुरक्षा के लिये राज्य की सहायता भी सम्मिलित है।

नागरिक और राज्य निवासी—उक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी राज्यनिवासी नागरिक नहीं होते। उनमें ऐसे भी व्यक्ति रहते हैं जो विदेशी अथवा अनागरिक (aliens) हैं। वे देश में राजदूत होकर, या पर्यटन के लिये, या वाणिज्य-व्यापार आदि के लिये आकर रह सकते हैं। ऐसे व्यक्ति जिस राज्य में वे अस्थायी रूप से रह रहे होते हैं उसे अपना राज्य नहीं मानते और न उससे उनकी भक्ति होती है। वे उस देश के कानून मानते हैं, कर भी देते हैं, सभा-सोसायटियों में भाग लेते हैं और न्यायालयों मे नालिश भी कर सकते हैं। कहीं कहीं (स्विटजरलैण्ड) स्थानीय चुनावों में उन्हें मत देने के अधिकार भी मिल जाते हैं किन्तु वे नागरिक नहीं होते। राज्य युद्ध के समय सैना में उनकी अनिवार्य भर्ती नहीं कर सकता।

नागरिक और मतदाता—कही कहीं यह भ्रमात्मक विचार पाया जाता है कि नागरिक केवल वे व्यक्ति होते हैं जिन्हें पूर्ण नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। यह धारणा ठीक नहीं है। बालकों को, पागलों को, दिवालियों को कोई भी राज्य राजनीतिक अधिकार नहीं देता यद्यपि वे अन्य नागरिक सुविधाओं का समान रूप से उपभोग करते हैं। अतएव यह सोचना कि केवल मतदाता ही नागरिक हैं गलत है। ब्लंटश्ली ने इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये दो शब्द 'पूर्ण नागरिक' और 'अपूर्ण नागरिक' सुझाये हैं। कहीं कहीं नागरीकृत (Naturalised) व्यक्तियों को भी पूर्ण राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते। अमेरिका में ऐसे नागरिक प्रेसीडेण्ट पद के लिये खड़े नहीं हो सकते। अतएव यह वर्गीकरण बहुत सुभीते का है और स्वीकार कर लिया जाना चाहिये।

'नागरिक' और 'प्रजा'—ब्रिटेन में 'नागरिक' शब्द प्रचलित नहीं है। वहां साम्राज्य के सभी व्यक्तियों को समान रूप से 'प्रजा' (Subject) कहा जाता है। ब्रिटेन, दक्षिण अफ्रीका, सीलोन आदि सभी के निवासी ब्रिटिश प्रजा हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि साम्राज्य की अपनी कोई नागरिकता है। इसके विपरीत सभी स्वराज्य प्राप्त उपनिवेशों के नागरिकता के कानून भिन्न हैं। अब 'प्रजा' शब्द को आधीनता की सी कुछ ध्वनि निकलने के कारण पसन्द नहीं किया जाता। लेकिन वैधानिक राज्यों में 'प्रजा' और 'नागरिक' शब्दों में कोई भेद नहीं रह जाता।

नागरिकता के सिद्धान्त—नागरिकता का निश्चय करने वाले दो सिद्धान्त प्रचलित हैं : (१) भूमि का सिद्धान्त (jus loci or Jus soli) और (२) रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त (jus Sanguinis)। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार जो बच्चा राज्य की सीमा में उत्पन्न होता है उसे माता-पिता की नागरिकता पर ध्यान दिये बिना राज्य की नागरिकता मिल जाती है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार यदि बच्चे के माता-पिता नागरिक हैं तो वह चाहे कहीं भी उत्पन्न क्यों न हो, वह अपने माता-पिता के राज्य का नागरिक बन जाता है। फ्रांस और इटली में दूसरा नियम माना जाता है जब कि इँगलैण्ड और अमेरिका की दोहरी नीति है। जहां तक अपने नागरिकों का प्रश्न है वे रक्त अथवा वंश के सिद्धान्त को लागू करके बच्चे ब्रिटिश नागरिक मान लेते हैं और विदेशियों के सम्बन्ध में वे भूमि के सिद्धान्त को लागू कर उन्हें भी नागरिक मान लेते हैं।

दोहरी नागरिकता की समस्या—इन दो पृथक सिद्धान्तों के कारण और ब्रिटेन और अमेरिका की उपरोक्त दोहरी नीति के कारण नागरिकता के निश्चय में कभी-कभी बहुत दिक्कत पड़ जाती है क्योंकि

एक ही व्यक्ति दो पृथक राज्यों की पृथक नीतियों के अनुसार दो राज्यों का नागरिक हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि अस्थायी निवास के समय फ्रांसीसी अथवा इटालियन माता-पिता का पुत्र ब्रिटिश भूमि या जहाज पर उत्पन्न हो जाय तो अपने राज्य के कानून के अनुसार तो बच्चा फ्रांसीसी अथवा इटालियन नागरिक कहलायगा पर अँगरेजी कानून के अनुसार वही नागरिक ब्रिटिश नागरिक हो जायगा। इस दोहरी नागरिकता के कारण युद्ध के समय एक विकट परिस्थिति पैदा हो सकती है। अतएव राज्यों ने ऐसे कुछ उपायों से काम लिया है कि इन कठिनाइयों से बचा जा सके : (१) यदि अस्थायी रूप से रहने के पश्चात् माँ-बाप वापस लौट जाँय तो बच्चा उत्पत्ति के राज्य का नागरिक नहीं रहता। (२) वयस्क हो जाने पर व्यक्ति को दोनों में से एक नागरिकता का चुनाव करना होता है। उदाहरण के लिये अमेरिका का १६०७ ई० का यह कानून है कि ऐसे मामलों में १८ वर्ष की आयु होने पर व्यक्ति को नागरिक होने की अपनी इच्छा की स्पष्ट घोषणा करनी होती है।

प्राकृतीकरण—इन जन्मजात नागरिकों के अतिरिक्त अनागरिकों को भी राज्य नागरिकता प्रदान करता है। प्रत्येक देश में इसके लिये निश्चित नियम होते हैं। इस कार्यवाही को 'प्राकृतीकरण' (Naturalisation) कहा जाता है और इस प्रकार बने नागरिक 'प्राकृतीकृत नागरिक' कहलाते हैं। प्राकृतीकरण के कुछ नियमों या ढंगों पर यहां विचार किया जायगा—

(१) निवास—प्रायः सभी राज्य एक निश्चित अवधि तक रहने के पश्चात् नागरिकता प्रदान कर देते हैं। यह अवधि भिन्न भिन्न देशों में पृथक-पृथक है। किन्तु प्राकृतीकरण के पूर्व पहले राज्य की नागरिकता त्याग देनी होती है और नये राज्य के प्रति भक्ति की शपथ लेनी होती

है। तभी आवेदन पत्र पर विचार किया जाता है। इंगलैण्ड और अमेरिका में यह अवधि ५ वर्ष है। किन्तु अमेरिका में ऐशियावासियों के आम नागरी करण पर रोक है। और केवल निर्दिष्ट देशवासियों को परिमित संख्या में नागरिकता दी जाती है। (२) विवाह—प्रायः स्त्री को अपने पति के राज्य की नागरिकता दे दी जाती है किन्तु पुरुष को स्त्री के राज्य की नागरिकता नहीं मिलती। पर जापान में पतियों को जापान की नागरिकता दे दी जाती है। (३) सरकारी नौकरी—कुछ देशों में विदेशी यदि सरकारी नौकरी करें तो उन्हें नागरिकता दे दी जाती है। अमेरिका की सेना में एक वर्ष तक सेवा करने से नागरिकता मिल सकती है। (४) स्थावर सम्पत्ति—पेरू, मेक्सिको आदि राज्यों में स्थावर सम्पत्ति खरीदने से नागरिकता प्राप्त हो जाती है। (५) जायज किये जाने से—नागरिक पिता और अनागरिक माता की नाजायज संतान कानून द्वारा जायज करार दिये जाने पर नागरिक हो जाती है। (६) गोद लेने से—एक नागरिक यदि किसी अनागरिक को गोद ले ले तो इस आधार पर भी नागरिकता दे दी जाती है। (७) देश के जीतने से—यदि एक राज्य अन्य प्रदेश को जीत ले तो विजित देश के निवासियों को भी नागरिकता मिल जाती है। रूस ने १९३९ ई० के पश्चात् जिन देशों को लिया वहां के निवासियों को पूर्ण नागरिकता दे दी। पर यह आवश्यक नहीं है।

नागरिकता का लोप—जिस प्रकार नागरिकता प्राप्त होती है उसी प्रकार वह खो भी जाती है। पर स्वेच्छा से भी नागरिकता का त्याग किया जा सकता है। और नागरिकता देशद्रोह अथवा सेना से भाग जाने पर भी उसे छीना भी जा सकता है।

ऊपर नागरिकता के प्रदान किये जाने और लुप्त हो जाने के आम

नियम बताये गये हैं। पर प्रत्येक देश के कानून पृथक हैं और उन्हीं के अनुसार वहाँ काम होता है।

II उत्तम नागरिकता

ऊपर आपने नागरिकता के कानूनी अर्थ को देखा, किन्तु कानून द्वारा नागरिक की स्थिति प्राप्त करने से ही कोई व्यक्ति सच्चा नागरिक नहीं हो जाता। सच्ची नागरिकता इससे कहीं बड़ी बात है। श्री निवास शास्त्री इसका जिक्र करते हुए कहते हैं कि नागरिक राज्य का 'वह सदस्य है जो अपने विकास के साथ ही बुद्धिमतापूर्वक इस बात का भी ध्यान रखता है कि समाज का सर्वोत्तम नैतिक हित किस बात में है।' उनका तात्पर्य यह है कि नागरिक एक निष्क्रिय व्यक्ति नहीं होता वरन् एक ऐसा व्यक्ति होता है जो सामाजिक मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक विचार करता हो, कर्तव्य पालन के लिये तत्पर रहता हो और अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित करता हो। यही विचार प्रोफेसर लास्की का भी है। डाक्टर विलियम बोइड (William Boyd) ने इस विचार को यह कह कर प्रकट किया है कि सच्ची नागरिकता कर्तव्यों के उचित पालन और सामञ्जस्य में है ❀। कहने का अभिप्राय यह है कि नागरिकता के अथ यह नहीं हैं कि व्यक्ति एक संकुचित दायरे में अपने को सीमित रक्खे वरन् यह है कि वह छोटे-बड़े सभी समुदायों और सम्प्रदायों के प्रति अपने कर्तव्यों का ठीक से पालन करे। इस प्रश्न पर हम पीछे विचार कर आये हैं अतएव यहाँ हम इसे दोबारा नहीं उठावेंगे +।

❀ True citizenship consists in the right ordering of loyalties

+ देखिये पृष्ठ

अनेक विचारकों ने उत्तम नागरिकता के प्रश्न पर विचार किया है और उसके अनेक गुण बतलाये हैं। इस सम्बन्ध में व्हाइट का मत है कि उत्तम नागरिक में ऊँचे दर्जे का विवेक, ज्ञान और अनुरक्ति होनी चाहिये। उसमें इतना साहस होना चाहिये कि सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी आवाज बुलन्द कर सके। उसे दमन से नहीं डरना चाहिये। लार्ड ब्राइस ने इनके अतिरिक्त अनुशासन और कर्तव्य पालन को भी उत्तम नागरिक के लिये आवश्यक बतलाया है। अन्य विद्वानों ने संयम, सहिष्णुता, निष्पक्षता, आत्म-त्याग, सहयोग और लोक सेवा की भावना पर बल दिया है। यह स्पष्ट है कि इन गुणों के अभाव में उत्तम नागरिकता सम्भव नहीं है।

उत्तम नागरिक और अच्छा व्यक्ति—प्लेटो के अनुसार उत्तम नागरिक और अच्छा व्यक्ति एक ही बात है। पर आज यह नहीं माना जाता। व्यक्ति की अच्छाई का अभिप्राय चारित्रिक और नैतिक उत्तमता से होता है किंतु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा व्यक्ति अच्छा नागरिक भी हो। नागरिकता एक सामाजिक प्रवृत्ति है जिसका सम्बन्ध चरित्र से न होकर सामाजिक कार्यों से है। अच्छा व्यक्ति एक उत्तम नागरिक भी हो सकता है पर यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही। एक सदाचारी व्यक्ति भी असामाजिक हो सकता है और एक उत्तम नागरिक भी व्यक्तिगत जीवन में दोष युक्त हो सकता है।

उत्तम नागरिक और देशभक्त—देशभक्त उस व्यक्ति को कहा जाता है जो देश के लिये अपने को उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहता है। प्रश्न यह नहीं होता कि देश का विचाराधीन हित उचित है या अनुचित। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक देशभक्त देश के प्रति अंध श्रद्धा से काम लेकर उचित-अनुचित का कोई ध्यान नहीं रखता। पर उत्तम नागरिक इन सभी बातों का ध्यान रखता है और अपने

दृष्टिकोण को देश तक ही सीमित रखकर उसे संकीर्ण नहीं बना लेता।

अच्छा व्यक्ति और देशभक्त—देशभक्त के विषयमें व्यक्तिगत जीवन, चरित्र और आचरण का प्रश्न नहीं उठता। केवल उसकी आत्म-त्याग की भावना को दृष्टि में रक्खा जाता है। उदाहरण के लिये आधुनिक टर्की का निर्माता मुस्तफा कमाल दुश्चरित्र होते हुये भी सच्चा देशभक्त था और निश्चय ही उसने टर्की को एक शक्तिशाली राज्य बनाया।

III उत्तम नागरिकता के मार्ग में बाधायें

ऊपर हम उत्तम नागरिक गुणों को देख चुके हैं किंतु व्यवहारिक जीवन में उत्तम नागरिक दुष्प्राप्य हैं। उत्तम नागरिकता के मार्ग में अनेक बाधायें हैं जो उसे आदर्श से नीचे खींच लाती हैं। लार्ड ब्राइस और अन्य विद्वानों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। (१) **अज्ञान और मूढ़ता**—जनतन्त्र के लिये यह आवश्यक है कि जनता शिक्षित और समझदार हो। अज्ञान और मूढ़ता जनतन्त्र के पतन और अच्छी नागरिकता की कमी के मूल कारण हैं। नागरिकों में यदि इतनी भी शिक्षा और समझ न होगी कि सार्वजनिक कार्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर ठीक निष्कर्ष निकाल सकें तो उत्तम नागरिकता एक दुराशा भर रहेगी। मूढ़ मनुष्य के साथ तर्क से काम नहीं लिया जा सकता। वह नई बातें जानने अथवा सीखने को कभी तैयार नहीं होता। (२) **आलस्य और उदासीनता**—यदि नागरिक आलसी है तो उनसे सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी लेने की आशा करना व्यर्थ है। आलस्य उदासीनता को जन्म देता है। आलसी व्यक्ति यह सोचने लगता है कि उसके अतिरिक्त काम करने वाले सहस्रों व्यक्ति हैं फिर उसके करने या न करने से न कुछ बनेगा और न बिगड़ेगा। साथ ही यह भी सोचता है कि वह समष्टि में न कुछ के बराबर है। यदि वह आवाज उठाये भी तो यह 'नक्कारखाने में तूती के समान होगी। किंतु अधिकतर व्यक्ति इसी

प्रकार सोचकर यदि सार्वजनिक मामलों में विचार और कार्य करना बन्द कर देंगे तो प्रजातन्त्र एक मखौल बन जायगा और सारी सत्ता चन्द व्यक्तियों के हाथ में चली जायगी जो अपनी मनमानी करेंगे। (३) जल्दबाजी के कार्य—यदि नागरिक बिना अच्छी तरह से समझे सोचे और दूरदर्शिता से काम लिये किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर जल्दबाजी में कार्य कर बैठता है तो वह कभी उत्तम नागरिक नहीं बन सकता। अच्छे नागरिक को संयम से काम लेकर सभी बातों पर गौर से ध्यान देना चाहिये और उसके पश्चात कार्य करने चाहियें। (४) मनमाने कार्य=जो नागरिक बिना हित-अहित पर ध्यान दिये मनमाने काम कर बैठते हैं वे अपने को तो हानि पहुँचाते हैं, सामाजिक व्यवस्था को भी खतरे में डाल देते हैं। नागरिकता का मूल सिद्धान्त ही यह है कि मनमाने कार्यों पर रोक लगाकर व्यक्तियों को सामाजिक हित के कार्य करने की प्रेरणा दी जाय। (५) स्वार्थ-साधन—जो व्यक्ति स्वार्थी है और संकीर्ण मनोवृत्ति वाला है वह कभी राज्य का भला नहीं कर सकता। उसका ध्यान सदैव अपने हित या अपने वर्ग के हित की ओर रहेगा और वह अपने थोड़े से स्वार्थ के पीछे समाज के बड़े हितों को कुर्बान करने में न हिचकिचायगा। यदि अपनी तिकड़म से वह किसी पद पर हो गया तो अपने पद का दुरुपयोग करेगा जिससे समाज की हानि होगी। (६) दलबन्दी—पार्टियाँ प्रजातन्त्र को चलाने के लिये आवश्यक हैं किंतु उनकी सबसे बड़ी बुराई यह है कि वे सामाजिक हित को भुलाकर पार्टीबन्दी में पड़ जाती हैं और पार्टी को समाज से भी अधिक महत्व देने लगती हैं। इस प्रकार की दलबन्दी से सारा राजनीतिक वातावरण दूषित हो जाता है और इस दलदल में फँसकर सामाजिक भलाई का ध्यान ही दूर हो जाता है। (७) निर्धनता—निर्धनता एक बड़ा भारी अभिशाप है। जिस व्यक्ति को अपनी ऐड़ी-चोटी का

पसीना बहाकर कठिनता से खर्च निकालना पड़ता है उससे यह आशा करना कि वह सामाजिक कार्यों में समय देगा एक दुराशा है। उसके लिये तो पेट की समस्या ही इतनी कठिन हो जाती है कि वह अन्य बातों पर ध्यान ही नहीं दे सकता। इस प्रकार निर्धनता उत्तम नागरिकता के मार्ग में एक बड़ी रुकावट है। (८) साम्प्रदायिकता—पार्टीबन्दी के समान ही साम्प्रदायिकता भी उत्तम नागरिक के मार्ग में एक बड़ी बाधा है। साम्प्रदायिकता का भूत जिस पर सवार हो जाता है उसकी सारी समझ मारी जाती है और वह जंगलियों के समान व्यवहार करने लगता है। जब तक इस बीमारी को दूर नहीं किया जाता उत्तम नागरिकता असम्भव है। (९) सड़ी हुई प्रथायें और रूढ़ियां—परम्पराओं से लिपटे रहना और अंध विश्वास पर आधारित प्रथाओं और रूढ़ियों को मानना भी उत्तम नागरिकता के लिये बाधक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे लकीर के फकीर बने रहना पसन्द करते हैं और सभी सुधारों का चाहें वह कितने ही उपयोगी क्यों न हों विरोध करते हैं। जब तक इस पोंगापंथ से पिण्ड नहीं छुड़ाया जायगा उत्तम नागरिकता की नींव पड़ना सम्भव नहीं है। (१०) अंध राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद—आज ये दोनों ही उत्तम नागरिकता के एक बड़े दुश्मन बन गये हैं। इनके कारण मनुष्य के विचार भेदभाव पर आधारित हो जाते हैं और वे युद्ध और विजय के विचार में मग्न होकर मानवता को भुला देते हैं। ऐसे संकीर्ण विचारों से छुटकारा पाये बिना उत्तम नागरिक होना असम्भव है।

IV सुधार के उपाय

उत्तम नागरिकता के मार्ग से इन बाधाओं को हटाना आवश्यक है। राज्य, समाज, समुदाय और व्यक्ति सभी के सम्मिलित प्रयत्नों से

यह सम्भव हो सकता है। लार्ड ब्राइस के अनुसार सुधार के उपायों को दो किस्मों में बाँटा जा सकता है : (१) राज्य व्यवस्था में सुधार और (२) नैतिक सुधार।

राज्य व्यवस्था में इस प्रकार के सुधार किये जाने चाहिये कि नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों में हाथ बँटाने का अधिक से अधिक अवसर मिले। जहाँ तक हो सके सामाजिक और राजनीतिक समानता होनी चाहिये जिससे किसी भी नागरिक का यह ख्याल न हो कि वह सार्वजनिक बातों में समान भागीदार नहीं है और उसके साथ भेदभाव बढ़ता जा रहा है। समाज आर्थिक वितरण में भी विषमता मनुष्य में ऊंच नीच की भावना पैदा कर देती है और धनवानों को प्रभाव डालने के अत्यधिक साधनों को दे देती है। तो राज्य व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि न तो किसी नागरिक को छोटे-बड़े का भान हो और न कोई यह सोचे कि इतने व्यक्तियों के बीच उसकी बात का कोई महत्व नहीं है। जहाँ तक सम्भव हो सके सरकारी मशीनरी को जनता के निकट सम्पर्क में रखना चाहिये। स्वाधीनता स्वशासन की संस्थायें भी इस सम्बन्ध में बहुत उपयोगी होती हैं। राज्य के मामलों में सार्वजनिक पहल (Initiative) और जन-मत गणना (Refendum) की प्रथाओं को प्रचलित करके भी राज्यकार्य में लोगों की दिलचस्पी को बनाये रक्खा जा सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य में से बेईमानी, रिश्वतखोरी आदि को कतई दूर कर देना चाहिये जिससे प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार कार्य करने का अवसर मिल जाये और किसी के उचित अधिकारों का खून न हो।

उपरोक्त सुधारों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी ठीक और अस्थायी उपाय तो नागरिकों का नैतिक सुधार है। (१) इसके लिये शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये और इसमें

नागरिकता की शिक्षा को मुख्य स्थान देना चाहिये। (२) इसके अतिरिक्त चरित्र-निर्माण पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये। नागरिकों को यह समझा देना चाहिये कि उनका भी अपना व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा है और उनका भी समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान और कर्तव्य है। यदि उनमें अपनी मान-मर्यादा का विचार उत्पन्न करा दिया जाय तो वे कभी कोई ओछे काम न करेंगे। यही नहीं उनके सम्मुख महापुरुषों के उदाहरण रक्खे जाने चाहिये जिनसे वह प्रेरणा लें। उन्हें बतलाया जाना चाहिये कि अच्छे कार्य करने से वह भी अपने को उतना ही उच्च बना सकते हैं। यह ढंग इतना महत्वपूर्ण है कि इसका कभी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता।

ग्यारहवाँ अध्याय

अधिकार और कर्तव्य

यह ठीक ही कहा गया है कि जब तक अधिकार कर्तव्यों में परिणित नहीं होते वे अधिक काम के नहीं हो सकते। बिना दूसरों के अधिकारों का ध्यान रक्खे केवल अपने ही अधिकारों का उपयोग समाज के सामंजस्य में गड़बड़ी कर देता है।... दूसरों की भावनाओं का सक्रिय ध्यान और यदि आवश्यकता आ पड़े तो अपने को रोक कर भी दूसरे को निकल जाने देना आदर्श नागरिक के चरित्र का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

—श्रीनिवास शास्त्री

I 'अधिकार' शब्द का अभिप्राय और उसके भेद

आप देख चुके हैं कि समाज का चरम उद्देश्य व्यक्ति का समुचित विकास है। इस विकास के लिये कुछ परिस्थितियों का होना आवश्यक है। राजनीतिक भाषा में इन्हीं को अधिकार का नाम दिया गया है। डा० बेनीप्रसाद के शब्दों में 'अधिकार असल में वे परिस्थितियाँ है जो व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक और अनुकूल है ❀।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकार के नाम पर मनचाही परिस्थितियों का दावा (Claim) नहीं किया जा सकता।

❀ देखिये उनकी नागरिक शास्त्र (१९३७ ई०) पृष्ठ ४०,

व्यक्ति के केवल वही दावे 'अधिकार' (right) में परिणित हो सकते हैं जो आम लोगों के विकास के लिये 'आवश्यक और अनुकूल' समझे जाते हैं। अधिकार शब्द के अँगरेजी रूपान्तर (Right) से भी यह बात भली भांति स्पष्ट हो जाती है कि अधिकार (right) बनने के लिये दावे को उचित (right) होना चाहिये। अर्थात् व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित न होकर उन्हें सामुहिक हित की भावना लिये हुए होना चाहिये जिससे वे किसी भी व्यक्ति की भलाई के विरुद्ध न हो और सर्वमान्य हो सकें। यह स्पष्ट है कि कोई एक व्यक्ति दूसरों के दावों को मानने को तब तक तत्पर न होगा जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि इस स्वीकृति से उसकी कोई हानि नहीं होती और अन्य व्यक्ति भी उसके बदले में समान मांग पूरी करने को प्रस्तुत हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि अधिकार वे दावे हैं जो सभी के लिये और सभी व्यक्तियों के हित का ध्यान रख कर किये जाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह दावे कहाँ और किससे किये जाते हैं ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे समाज में और समाज या राज्य से किये जा सकते हैं। संगठित समाज के बाहर तो इनका प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वहाँ तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती है। वहाँ शक्ति (Power) ही सब कुछ होती है अतएव अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। अधिकार सामाजिक होते हैं और सभ्य समाज के शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित वातावरण में ही सम्भव हो सकते हैं। सभ्य समाज में ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है उसके बाहर नहीं।

जब इन दावों को समाज से किया जाता है और समाज यानी लोकमत इन्हें स्वीकार कर लेता है तो ये नैतिक अधिकारों (Moral rights) का रूप प्राप्त कर लेते हैं। इन्हें नैतिक अधिकार इसलिये

कहा जाता है कि समाज की नैतिक चेतना व्यक्ति के विकास के लिये इनका होना आवश्यक समझती है। डा० रिची (Ritchie) इनकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि नैतिक अधिकार 'व्यक्ति के दूसरों से ऐसे दावे हैं जिन्हें समाज ने मान लिया है फिर चाहे राज्य उन्हें माने या न माने ❀।

जब व्यक्ति के दावों को राज्य स्वीकार कर लेता है और उन्हें लागू करता है तो वे कानूनी अधिकार (Legal rights) कहलाते हैं। राज्य उनकी रक्षा करने का आश्वासन देता है और उनके उल्लंघन किये जाने पर अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। श्री निवास शास्त्री के अनुसार कानूनी अधिकार उस व्यवस्था, नियम अथवा प्रथा का नाम है जिसे राजकीय कानून मानते हैं और जो नागरिक के चरम नैतिक हित का साधन करते हैं +। डा० हॉलैण्ड के मतानुसार यह 'एक व्यक्ति में निहित वह योग्यता है जिससे वह राज्य की मान्यता और सहायता से दूसरों के कार्यों को नियंत्रित कर सकता है ×।

❀ The claim of an individual upon other recognised by society irrespective of its recognition by the state'.

+ Srinivasa Sastri: Right is an arrangement, rule or practice, sometimes sanctioned by the law of the commuinty and conducive to what we have already desined as the highest moral good of the citizen.'

× Dr. Holland, 'a capacity residing in one man of controlling, with the assant and assistance of the state, the actions of others.'

कानूनी और नैतिक अधिकारों में अन्तर यह है कि पहले को राज्य स्वीकार करता है और उनके साथ हस्तक्षेप किये जाने पर कानूनी सहायता देता है जिससे अपराधियों को रोका जा सके। दूसरों को समाज मानता है। पर समाज के पास राज्य के समान अपनी बात मनवाने के कोई शक्तिशाली साधन नहीं होते। उसे केवल लोकमत यानी जनता की नैतिक भावना पर ही भरोसा करना होता है। अतएव कानूनी अधिकारों के समान ही नैतिक अधिकारों की उपेक्षा किये जाने पर अपराधी को दण्ड दिये जाने या रोकथाम करने के लिये भी कोई कारगर उपाय नहीं होता। यह भेद होने पर भी दोनों ही में घनिष्ट सम्बन्ध है और जनतन्त्र के इस युग में लोकमत की अधिक समय तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। आगे या पीछे राज्य को नैतिक कानूनों का स्वीकार करना होता है।

नैसर्गिक अधिकार—कुछ विद्वानों ने एक और प्रकार के भी अधिकार बताये हैं और इन्हें नैसर्गिक अधिकारों (Natural right) का नाम दिया है। इन अधिकारों के विषय में कोई एकमत नहीं पाया जाता। प्राचीन ग्रीक विचारकों से लेकर वर्तमान युग के विद्वानों तक ने इसकी अपनी-अपनी प्रथक व्याख्यायें दी हैं। नैसर्गिक अधिकारों से विचारकों का अभिप्राय कुछ ऐसी परिस्थितियों से हैं जो प्रत्येक मनुष्य को अपना समुचित विकास करने के लिये प्राप्त होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये। एक विद्वान के कथनानुसार वे मनुष्यों के लिये इतने स्वाभाविक हैं जैसे कि शरीर की त्वचा (Skin) का रंग।

वर्तमान युग में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने इसका एक नया ही रूप दे दिया। उनके अनुसार ये वे अधिकार हैं जो राज्यहीन अव्यवस्थित समाज में व्यक्ति को प्राप्त थे। लौक के अनुसार

ये नैसर्गिक या जन्मजात हैं और व्यक्ति सदा से इनका उपभोग करते आ रहे हैं। ये आवश्यक या जन्म सिद्ध हैं और इनके बिना मनुष्य का काम ही नहीं चल सकता। ये सर्वव्यापक हैं और बिना भेदभाव के सभी को समान रूप से प्राप्त थे। इनका आधार मनुष्य का विवेक है। राज्य इनके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही इन्हें और अधिक सुरक्षित करने के लिये हुई है। अन्य विचारकों ने भी इस प्रकार के मत प्रकट किये हैं। प्रोफेसर लार्ड के अनुसार सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में नैसर्गिक अधिकारों का अभिप्राय औसत व्यक्ति के उचित दावों से था और लेखकों में जो विचार-विभिन्नता पाई जाती है उसका कारण यह है कि इन दावों के सम्बन्ध में उनके विचार एक नहीं थे ❀।

जब सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की लोकप्रियता और मान्यता कम होगई तो नैसर्गिक अधिकार विशुद्ध रूप से मनुष्यों के लिये आदर्श अधिकारों (Ideal right) की तरह सामने आये और इनकी चर्चा आदर्शरूप में व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक अधिकारों की तरह की जाने लगी इन्हें मानव अधिकार Right of Man) कहा जाने लगा। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् इसी प्रकार के अधिकारों की एक घोषणा की गई। इन अधिकारों को शासन-विधान में भी स्थान दिया गया और वे बुनियादी अधिकार (Fundamental rights) कहलाने लगे। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इस प्रकार के अधिकारों की घोषणा करने का एक फैशन सा हो गया किंतु इनकी रक्षा करने के उपायों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। स्वर्गीय

❀ देखिये A. R. Lord, The Principle of politics, (1931), p. 245.

वेल्स (H. G. wells) ने बराबर यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सारे संसार के लिये ऐसे बुनियादी अधिकारों की रूप रेखा तैयार की जा सके। जो समान रूप से सबके जन्मसिद्ध अधिकार (Birth right) माने जाँय। इस सिद्धान्त को बाद में संयुक्त राष्ट्रीय संघ (V. N. O.) ने मान लिया और वह इस प्रकार के अधिकारों की रूपरेखा खोचने पर ध्यान दे रहा है।

यद्यपि समाजहीन अवस्था के समय वर्तमान अधिकारों के अर्थ में नैसर्गिक अधिकारों की तीव्र आलोचना की गई है पर मनुष्यों के जन्मसिद्धान्त या बुनियादी अधिकारों के रूप में इस विचार का महत्व सभी स्वीकार करते हैं और आज भी इनकी चर्चा की जाती है।

बुनियादी या आधारभूत अधिकार—'बुनियादी अधिकार' के दो अर्थ हैं। पहले अर्थ में इसका अभिप्राय उन नैसर्गिक या आदर्श अधिकारों से हैं जो मनुष्य की उन्नति के लिये अत्यन्तावश्यक समझे जाते हैं और इसलिये यह माँग की जाती है कि इन्हें राज्य स्वीकार कर ले। दूसरे अर्थ में इसका तात्पर्य उन अधिकारों से जिन्हें शासन विधान (Constitution) में स्थान दिया जाता है और जिन्हे बिना शासन विधान में परिवतन किये नहीं छीना जा सकता। अखिल-भारतीय नेशनल काँग्रेस के चुनाव घोषणा-पत्र में दिये गये बुनियादी अधिकार प्रथम श्रेणी में आते हैं और विधान-परिषद (Cnstitunt Assembly) द्वारा स्वीकृत अधिकार द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। पर दोनों को ही समान रूप से बुनियादी अधिकार कहा गया है।

भारतीय विधान परिषद के निम्न अधिकारों को मान लिया है : समानता का अधिकार, भाषण और प्रकाशन के अधिकार, सभा करने और समुदाय बनाने के अधिकार, आने जाने के अधिकार, राज्य

द्वारा सम्पत्ति लिये जाने पर क्षतिपूर्ति का अधिकार, पेशे का अधिकार, मानवी क्रय-विक्रय से रक्षा का अधिकार, बेगार से रक्षा का अधिकार, धर्म को मानने तथा प्रचार करने का अधिकार, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन से रक्षा का अधिकार, अल्पमतों को धार्मिक और सांस्कृतिक रक्षा का अधिकार, अनियमित कारावास या नजरबन्दी से रक्षा का अधिकार, राज्य के अन्दर बिना रोकटोक व्यापार करने का अधिकार, वयस्क मताधिकार एक ही अपराध के लिये एक बार से अधिक अभियोग चलाने से रक्षा का अधिकार, सरकारी नौकरियों और पदों के लिये समान अधिकार, उपाधियाँ बाँट कर असमानता उत्पन्न करने से रक्षा का अधिकार आदि।

अधिकारों की घोषणा—हिन्दुस्तान के १९३५ ई० के शासन विधान के बनने के समय भारतीय प्रतिनिधियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया था कि इसमें अधिकारों की घोषणा (Declaration of rights) भी सम्मिलित हो। पर उनकी यह माँग ठुकरा दी गई। अब भारतीय विधान परिषद उन्हें स्वतन्त्र भारत के विधान में स्थान दे रही है। भारत में नागरिक अधिकारों का लगातार और इतनी बेशर्मी से अपहरण किया जाता रहा है कि वे चाहते हैं कि भारत में बुनियादी अधिकारों की स्पष्ट घोषणा कर दी जाय। इसका परिणाम यह होगा कि साधारण राजकीय कानूनों से इन्हें नहीं छीना जा सकेगा। जनता और सरकार दोनों ही उनके महत्व को समझेंगी। इस घोषणा में परिवर्तन के लिये सरकार को शासन-विधान को ही संशोधित करना होगा। अतएव जनता को इस बात का अवसर मिल जायगा कि सरकार को ऐसे प्रयत्नों का विरोध कर सकें। इसके अतिरिक्त इसमें अल्पमतों (minorities) के अधिकारों का समावेश कर उन्हें यह विश्वास लाया जा सकता है कि उनके हित सुरक्षित रहेंगे। क्योंकि यह घोषणा दि

शासन विधान का एक महत्वपूर्ण भाग होगी अतएव सरकार को अपनी अधिकार-सत्ता की सीमितता को स्पष्ट स्वीकार करना होगा। इन अधिकारों के अपहरण किये जाने पर व्यक्ति अथवा समुदाय इस बात के लिये स्वतन्त्र होंगे कि सर्वोच्चन्यायालय से अपील कर अपने हितों की रक्षा कर सकें।

II कुछ कानूनी अधिकार

कानूनी अधिकार दो प्रकार के होते हैं : सामाजिक (Civil) और राजनीतिक (Political)। सामाजिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिन्हें राज्य में बसने वाले अन्य सभी व्यक्तियों के साथ नागरिक भी समान रूप से उपभोग करते हैं। इसके विपरीत राजनीतिक अधिकारों का अभिप्राय सरकार और शासन के कार्य में भाग लेने विषयक सुविधाओं से होता है। राजनीतिक अधिकार प्रायः प्रजातन्त्रों में ही पाये जाते हैं और वहां भी केवल पूर्ण नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं। नीचे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का वर्णन किया जायगा जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और प्रायः सभी राज्यों में पाये जाते हैं।

सामाजिक अधिकार—सामाजिक अधिकारों में सर्वप्रथम **जीवन रक्षा का अधिकार** (Right to life) आता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा करने का अधिकार है। आत्मरक्षा के प्रयत्न में नागरिक यदि आक्रमणकारी को मार भी डाले तो कानूनन यह अपराध न होगा। पर इसका दूसरा पहलू यह भी है कि यदि व्यक्ति आत्महत्या, खून या भ्रूणहत्या का प्रयत्न करेगा तो दण्डित किया जायगा। अन्य देशों के समान हमारे यहाँ भी जीवनाधिकार सुरक्षित है। (२) **स्वतन्त्रता का अधिकार**—(Right to

liberty) से हमारा अभिप्राय शारीरिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति को दास नहीं बनाया जा सकता और न उसका अपराध प्रमाणित हुए बिना उसे सरकार बन्दी ही बना सकती है। सरकार उसके कर्मों को रोक भी नहीं सकती। कोई अन्य व्यक्ति भी उसे गैरकानूनी ढंग से कैद नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त न हों तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। दुर्भाग्य से हमारे देश में सरकारी कर्मचारियों को इतने विशेषाधिकार मिले हुए हैं कि वे जिसे चाहे हवालात में बन्द कर देते हैं। उससे जमानत और मुचलके माँग लेते हैं, बिना मुकद्दमा चलाये कारागृह में बन्द कर देते हैं, नजरबन्द कर देते हैं और निर्वासित तक कर सकते हैं। मुख्यतया राष्ट्रीय चेतना को दबाने के लिये इन हथकण्डों से उपयोग किया जाता रहा है। (३) सम्पत्ति का अधिकार—जीवन और स्वतंत्रता के अधिकारों के साथ ही सम्पत्ति (Property) का अधिकार भी अत्यन्तावश्यक है। यदि नागरिकों को यह आश्वासन प्राप्त न होगा कि अपने परिश्रम से वह जो कमायेगा वह, चोर, उचक्के, बदमाश और लुटेरे उससे छीन न लेंगे और ऐसा प्रयत्न करने वाले अपराधियों को दण्ड दिया जायगा तो सारा सामाजिक जीवन ही गड़बड़ा जायगा और नागरिक भी अपनी उन्नति न कर सकेगा। अतएव यह आवश्यक है कि नागरिक को शान्ति और निर्विघ्नता से साथ अपनी सम्पत्ति का उपभोग करने का अधिकार हो। पर इसका अभिप्राय नहीं है कि समाज का सम्पत्ति पर कुछ नियंत्रण ही न रहे। इस प्रकार का नियन्त्रण सभी युगों और देशों में रहा है सम्पत्ति का उत्पादन और वितरण का सामाजिक हित के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि राज्य इस विषय ने तटस्थ नहीं रह सकता। इस नियन्त्रण की कोई सीमा या रूप नहीं स्थिर किया जा सकता। यह देश काल और परिस्थिति पर

निर्भर रहता है। इस सम्बन्ध में मुख्य सिद्धान्त यह है कि सामाजिक नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से होना चाहिये। उसे ऐसा न होना चाहिये कि किसी खास दल को और सब को अपेक्षा अधिक हानि न पहुंचे ❀। (४) पेशे का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नागरिक को इस बात का अधिकार हो कि वह अपनी इच्छा के अनुसार जीवनोपार्जन के लिये काम (Occupation) कर सके। जाति, धर्म, लिंग, वर्ग आदि के कारण किसी भी व्यवसाय को करने की मनाही नहीं होनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य का मनमाने व्यवसाय या कार्य करने की छूट दे देनी चाहिये। उदाहरण के लिये जुआ-घर खोलने, दास-व्यवसाय चलाने, बच्चों और युवतियों के अपहरण और क्रय आदि असामाजिक व्यवसायों को चलाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। हमारे देश की जाति पाँत प्रथा इस अधिकार के उपभोग के मार्ग में एक बड़ी बाधा है। पर विधान परिषद ने छुआछूत को अमान्य कर इस अधिकार को स्वीकार कर लिया है। (५) न्यूनतम आय का अधिकार—इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ऐसे नागरिक को जो काम करने को तत्पर है। काम दिया जाना चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नागरिक जो चाहे वही काम उसे दिया जाय। यदि ऐसा हो तो बहुत अच्छा। पर नागरिक को सभी कार्यों को समान रूप से आदरणीय समझ कर उन्हें करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। पर्याप्त भोजन और वस्त्र और स्वास्थ्यप्रद और सुविधाजनक घर मिलना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपना बौद्धिक विकास करने के लिये और सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिये उसे अवकाश मिलना चाहिये। वही नहीं उसे शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, मनो-

---

❀ डा० बेनीप्रसाद, 'नागरिक शास्त्र' (१९३७) पृष्ठ ५५,

रंजन आदि के साधन भी प्राप्त होना चाहिये। नागरिकों की न्यूनतम आय इतनी होनी चाहिये कि वे उपरोक्त सुविधाओं का उपभोग कर सकें। वृद्धों, रोगियों और असमर्थों को राज्य से सहायता मिलनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जो लोग काम करना चाहते हैं फिर भी बेकार हैं उन्हें राज्य की ओर से खर्च मिलना चाहिये। इसे 'आवश्यक आर्थिक सुविधा' (Economic Minimum) कहा गया है। हमारे देश में अभी इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। (६) न्याय पाने का अधिकार—व्यक्तिगत विकास और सामाजिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि न्याय पक्षपात रहित हो। कानून के आगे सब को बराबर समझा जाना चाहिये। न किसी को कोई विशेष सुविधा मिलनी चाहिये और न किसी को अयोग्यताओं (disabilities) से बाँध रखना चाहिये। न्याय निष्पक्ष ही नहीं वरन् सस्ता, सरल और शीघ्र होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो निर्धन व्यक्ति न्याय न पा सकेंगे। हमारे देश में अभी इसमें काफी दिक्कतें हैं। (७) परिवार के अधिकार—इसके अन्तर्गत इच्छानुसार विवाह करने, तलाक देने, बच्चों के उचित पालन-पोषण आदि के अधिकार आ जाते हैं। पर किसी व्यक्ति को दूसरों के घरों में अधिकार-प्रवेश या पारिवारिक विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। ये अधिकार भी राजकीय नियंत्रण की सीमा से परे नहीं है। (८) मान-मर्यादा का अधिकार—नागरिक को यह अधिकार है कि कोई उसकी प्रतिष्ठा को झूठी-उल्टी बातें गढ़ कर, या सार्वजनिक रूप में अनादर करके हानि न पहुंचाये। ऐसा करने वालों को दण्ड दिया जा सकता है। (९) विचारों के प्रकाशन का अधिकार—नागरिकों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे समुदायों में, सभाओं में, अखबारों में, पत्रिकाओं में या पुस्तकों अपने विचारों को उपस्थित करें। मस्तिष्क और भावों के समुचित

विकास के लिये विचार स्वतन्त्रता आवश्यक है। यों तो विचारों को बलपूर्वक दबाया ही नहीं जा सकता किंतु बिना भाषण और प्रकाशन की स्वतन्त्रता के विचार-स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती। प्रजातन्त्र के युग में तो इनकी और भी अधिक आवश्यकता है। यदि सरकार अपनी आलोचना को बलपूर्वक दबाने का प्रयत्न करती है तो उसमें और अधिनायकशाही Dictatorship) में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। जोन स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) ने इसका जोरदार समर्थन किया है। उसका कहना यह है कि नये विचारों को दबा देने से प्रगति रुक जायगी और सुधार सम्भव ही न हो सकेंगे। ऐसा करना प्रत्येक दृष्टि से बुरा है। मान लिया कि वह बात गलत है तो सत्य के सामने वह स्वयं ही नहीं ठहर सकेगी। पर वह ठीक है तो उसे दबाने से सही बात दब जायगी और यदि वह आंशिक रूप में सत्य है तो सत्य का यह अंश एक लम्बे समय के लिये खो जायगा। 'स्वतन्त्रता वाद-विवाद से वास्तविक विचारों की सचाई समझ में आजाती है। वह सत्य को स्पष्ट कर देता है और उसके प्रचार को बढ़ाता है। उससे गलती और झुठाई मालूम हो जाती है। वह सत्य की खोज लिये रास्ता साफ कर देता है। स्वतन्त्र वादविवाद दिमाग को उत्तेजित कर देता है और व्यक्तित्व को महान बना देता है।' किंतु राजा किसी व्यक्ति को हिंसा, घृणा, बदनामी आदि को फैलाने की अनुमति नहीं दे सकता। भारतवर्ष में भाषण और मुद्रण सम्बन्धी अनेक ऐसे कानून प्रचिलित हैं जिन्हें नौकरशाही ने अपने हितों की रक्षा के लिए बना रक्खा था। यहां राजद्रोह और शान्तिभंग के कानून इतने व्यापक हैं कि उनकी आड़ में इन अधिकारों को जब चाहे छीना जा सकता है और कठोर सजायें दी जा सकती हैं। (१०) सभा करने का अधिकार—विचारों के प्रकाशन के लिये शान्तिपूर्वक और निशस्त्र दशा में सभा करने,

प्रदर्शन करने आदि का अधिकार नागरिकों को प्राप्त होना चाहिये जिससे वह अपने विचारों को जनता और सरकार के सामने रख सकें। भारतवर्ष में इन अधिकारों का भी दफा १४४ लगाकर छीन लिया जाता है। (११) स्वतन्त्र प्रेस का अधिकार—यदि प्रेस स्वतन्त्र न होगी तो जनता के सन्मुख ठीक तथ्य और विचार न रक्खे जा सकेंगे। पर भारतवर्ष में इस पर भी पाबन्दियाँ लगी हुई हैं। (१२) समुदाय बनाने का अधिकार—समुदायों का महत्व आप देख चुके हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिकों को सार्वजनिक हित का ध्यान रखते हुए साधारणतः यह अधिकार प्राप्त हो। पर हमारे देश में सरकार किसी भी समुदाय को गैरकानूनी घोषित कर सकती है। १३) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वह अपने विश्वास के अनुसार पूजा तथा प्रार्थना कर सके। उसे अपने मत का प्रचार करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राज्य को धार्मिक भेद नीति अथवा असहिष्णुता से काम न लेकर सभी मतों के अनुयायियों के साथ कठोर निष्पक्षता का दृष्टिकोण रखना चाहिये। इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि धर्म के नाम पर अत्याचार, कुरीतियों या दंगों में भाग लेने की खूट दे दी जाय। ऐसा करने से तो सामाजिक प्रगति ही रुक जायगी। (१४) शिक्षा का अधिकार—प्रत्येक बालक-बालिका को शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। सब को शिक्षा प्राप्त करने का अधिक से अधिक सुयोग मिलना चाहिये। बिना शिक्षा के न तो वे सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकते हैं और न समाज के उपयोगी सदस्य ही बन सकते हैं। समाज का शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना चाहिये। अब तो यह राज्य का कर्तव्य माना जाता है कि वह विशुद्ध प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा दे। साथ ही सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपयोग के

लिए भी सुविधायें होनी चाहियें। (१५) सांस्कृतिक अधिकार—प्रत्येक नागरिक और सम्प्रदाय को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह अपनी भाषा, लिपि, साहित्य, रहन-सहन बनाये रक्खे। इन सब बातों के लिये न तो दण्ड दिया जाना चाहिये, और न अत्याचार या पक्ष-पात ही किया जाना चाहिये। पर नागरिकों को भी इस सम्बन्ध में सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। (१६) आने-जाने का अधिकार—राज्य की सीमा में आने-जाने (Movement) की सब नागरिकों को पूर्ण आज़ादी होनी चाहिये। इसके लिये किसी प्रकार की रोकटोक या प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये। इस प्रकार की सुविधा होने से व्यापार और सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में बहुत उन्नति सम्भव हो जाती है।

राजनीतिक अधिकार—सामाजिक अधिकारों के पश्चात् राजनीतिक अधिकार आते हैं। पर इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों ही सामाजिक न्याय और सुयोग की समानता के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। बनीप्रसाद के मतानुसार वे एक दूसरे के सहायक हैं। राजनीतिक अधिकारों के बिना सामाजिक अधिकार अरक्षित हैं और सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों का प्रधान महत्व ही नष्ट हो जाता है। कुछ अधिकार ऐसे ही हैं जिन्हें हम सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही कह सकते हैं। उदाहरण के लिये, समुदाय या समिति स्थापित करने, सार्वजनिक सभा करने तथा भाषण स्वतन्त्रता के अधिकार सामाजिक भी हैं और राजनीतिक भी। नीचे कुछ विशुद्ध राजनीतिक अधिकारों का उल्लेख किया जायगा।

(१) मताधिकार—व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसे राज्यकार्य में भाग लेने का भी अवसर दिया जाय। अतएव स्थानीय बोर्ड, प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनावों

में वोट देने का अधिकार उसके लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह अधिकार प्रत्येक वयस्क नागरिक (adult citizen) को प्राप्त होना चाहिये। पर मतप्रदान में एक बड़ा उत्तरदायित्व भी है। इसके बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग पर राज्य की भलाई निर्भर है। अतएव नाबालिगों, विदेशियों, बेवकूफों, पागलों, दिवालियों, गुरुतम अपराधियों में दण्डित व्यक्तियों आदि को इस अधिकार से वंचित रक्खा जाता है। भारतीय विधान परिषद् ने वयस्क मताधिकार का प्रस्ताव मान लिया है। (२) निर्वाचन का अधिकार—सार्वजनिक सभाओं के लिये चुने जाने का अधिकार मताधिकार का पूरक है। पर यह काम वोट देने से भी अधिक जिम्मेदारी का है। अतएव निर्वाचन के लिये शिक्षा की योग्यता आवश्यक होनी चाहिये। भारतवर्ष में स्थानीय बोर्ड के चुनाव में यह भी एक आवश्यकता है। पर इसका कड़ाई से पालन नहीं किया जा रहा। (३) पदाधिकार—इसका तात्पर्य केवल यह है कि यदि किसी व्यक्ति में आवश्यक योग्यता हो तो उसे पद ग्रहण करने का अधिकार मिलना चाहिये। योग्यता के अतिरिक्त वंश, जाति, धर्म, श्रेणी आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये। विधान परिषद् ने इन दोनों ही अधिकारों को स्वीकार कर लिया है। (४) आवेदन का अधिकार—सरकार को सार्वजनिक बातों के सम्बन्ध में आवेदन-पत्र या शिकायती खत भेजने का अधिकार भी नागरिकों को होना चाहिये। जहाँ यह अधिकार होता है वहाँ नागरिकों के पास एक ऐसा अच्छा साधन रहता है जिसके द्वारा वे सरकारी कर्मचारियों के कार्यों पर नियंत्रण रख सकते हैं। (५) विदेश में होने पर राज्य की सहायता का अधिकार—यह अधिकार राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से देखा जा सकता है। नागरिकता का यह एक प्रमुख लक्षण है। इससे यह प्रकट होता है कि राज्य उसे अपना नागरिक मानता है और उसके हितों की रक्षा करने के लिये सहायता देने को तत्पर है।

III कर्तव्य

अधिकारों पर विचार करते समय आपने देखा कि उनके साथ कुछ ज़िम्मेदारियाँ या उत्तरदायित्व भी लगे हुए हैं। नागरिकों को प्रत्येक अधिकार दो शर्तों पर मिलता है। प्रथम तो यह कि अधिकार व्यक्तिगत विकास और सामाजिक उन्नति के साधन होते हैं। अतएव इन बातों को ध्यान में रक्खा जाय और उसका दुरुपयोग न किया जाय। दूसरी शर्त यह होती है कि जिस प्रकार वे अपने अधिकारों को सुरक्षित देखना चाहते हैं वे दूसरों के समान अधिकारों का भी आदर करें। ये दोनों ही ऐसे बुनियादी सिद्धान्त हैं जिन्हें न मानने से कोई भी अधिकार सुरक्षित नहीं रह सकता।

तो कर्तव्य का तात्पर्य है नागरिक का कुछ काम करने और कुछ कार्यों से विरत रहने के लिये बाधित होना। उदाहरणार्थ कर देना और चोरी न करना नागरिक के कर्तव्य हैं। अधिकारों के समान ये कर्तव्य भी कानूनी, सामाजिक और आदर्श होते हैं। नीचे कुछ प्रमुख कानूनी कर्तव्यों पर प्रकाश डाला जायगा :—

(१) कानूनों और राज्याज्ञाओं को पालन करने का कर्तव्य—यह सबसे प्रमुख कर्तव्य है। इसके बिना राजकीय काम ही नहीं चल सकता। जैसा कि आप देख चुके हैं कुछ कानून इतने बुरे हो सकते हैं कि उ[illegible] उल्लंघन करना ही नागरिक अपना परम कर्तव्य समझते हैं औ[illegible] अवसर हो सकते हैं जब कि वह देशहित या मानवहित की [illegible] आज्ञा मानने से इन्कार कर सकता है। पर ये बातें अपवाद [illegible] हैं प्रजातन्त्रीय सरकार होने पर ऐसे अवसर यदाकदा ही आते हैं। (२) राज्यभक्ति-राज्यभक्ति नागरिकों का परम कर्तव्य है। नागरिकों को राज्यद्रोह नहीं करना चाहिये। जब राज्य संकट में हो तो उसकी रक्षार्थ आत्म बलिदान के लिये भी तत्पर

रहना चाहिये। उन्हें देश के लिये सैनिक सेवा के लिये प्रस्तुत रहना चाहिए और आक्रमण होने पर यथासम्भव सरकार के प्रयत्नों में हाथ बंटाना चाहिये। पर नागरिकों से इसकी तभी आशा की जा सकती है जबकि देश में प्रजातन्त्रीय सरकार हो और सब के साथ समानता का बर्ताव किया जाता हो। हाँ, शान्तिवादी (Pacifists) फिर भी युद्ध में भाग लेने से इन्कार कर सकते हैं किंतु उन्हें अन्य कार्य करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। (३) कर देने का कर्तव्य—यह तीसरा महत्वपूर्ण कर्तव्य है। बिना धन के राज्यकार्य नहीं चल सकता। अतएव राज्य नागरिकों पर कर लगाता है। नागरिक का यह कर्तव्य है कि बिना ढ़ीलढ़ाल लाये इनका भुगतान करे। इनसे बचने का प्रयत्न करना बेईमानी के साथ ही असामाजिक कार्य भी है। (४) शासन-कार्य में सहयोग का कर्तव्य—अच्छा शासन तभी सम्भव हो सकता है जब नागरिक जन-सेवकों के साथ पूरा-पूरा सहयोग करें। इसका अर्थ यह है कि चोर, बदमाश, उचक्कों और गुण्डों को पकड़वाने में उन्हें सहायता देनी चाहिये। उपद्रवों के समय यथाशक्ति अधिकारियों के साथ सहयोग करना चाहिये। साथ ही कर्मचारियों और अधिकारियों के बुरे कामों की आलोचना करने में भी न चूकना चाहिये और क्रियात्मक सुझाव भी देने चाहियें जिससे शासन में सुधार किए जा सकें। (५) मतप्रदान करने का कर्तव्य—पीछे मत देना एक अधिकार बतलाया है किंतु दूसरे अर्थ में मत-प्रदान करना एक कर्तव्य भी है। मत-प्रदान न करना या बुरे आदमियों को मत-प्रदान करना कानूनी अपराध तो नहीं हैं किंतु नैतिक अपराध अवश्य है और इनका कुपरिणाम नागरिकों को स्वयं भोगना होता है। (६) पद ग्रहण करने का कर्तव्य—जनता द्वारा निर्वाचित होने पर उत्तम नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह पद-ग्रहण करे और सुचारु रूप से पद के उत्तरदायित्वों का बोझ उठाये। कठिनाइयों से घबड़ा कर या आलस्य वश

उनसे दूर भागना कायरता और बुरी नागरिकता का परिचायक है।

(७) सामाजिक सुधार का कर्तव्य—नागरिक का यह नैतिक कर्तव्य है कि यथाशक्ति ऐसे कार्य करे कि सामाजिक जीवन सुखमय और सम्पन्न बने। प्रत्येक व्यक्ति को इस कार्य में सहायता देनी चाहिए और बहादुरी के साथ आगे बढ़ना चाहिए। तभी सामाजिक सुधार सम्भव हो सकता है।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध—आप देख चुके हैं कि अधिकार और कर्तव्य में अत्यंत घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोग बिना गम्भीरतापूर्वक विचार किए यह सोचने लगते हैं कि अधिकार से तो कुछ कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलती है और कर्तव्य जिम्मेदारियों का बोझा लाद लेते हैं। अतएव यह दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। पर इस प्रकार का विचार सचाई से बहुत दूर है। यह सोचना कि अधिकार मुनाफे का और कर्तव्य घाटे का सौदा है एक दम गलत है और इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि अधिकार और कर्तव्य के सही अभिप्रायों को नहीं समझा गया।

अधिकार का उपभोग किए जाने के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे लोग भी उस अधिकार को स्वीकार करें और उसका आदर करें। यदि वे ऐसा करने के लिए तत्पर नहीं हों तो अधिकार बेमाने हो जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रख कर श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है कि 'जब तक अधिकार कर्तव्यों में परिणित नहीं होते वे अधिक काम के नहीं हो सकते' यदि अधिकार का उपभोग नहीं किया जा सकता तो उससे क्या लाभ? पर उसकी सुरक्षा और उपभोग तभी सम्भव है जब दूसरे व्यक्ति उस अधिकार को मानें। उदाहरण के लिए जीवन का अधिकार तभी सार्थक हो सकता है जब कि राज्य यह कानून बनादे कि यदि कोई व्यक्ति दूसरों को चोट पहुंचाने का प्रयत्न करेगा तो दण्ड का भागी होगा। इस प्रकार का कर्तव्य निर्धारित करके ही जीवना-

धिकार की रक्षा सम्भव है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक व्यक्ति का जो अधिकार है वही दूसरे के लिए कर्तव्य बन जाता है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अगर कोई उनको अपने निजी दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार हैं। अगर कोई व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण से उन्हें देखता है तो वे कर्तव्य हैं ❀। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य भी लगा होता है। ये एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता।

कभी कभी यह कहा जाता है कि अधिकार बिना कर्तव्यों के भी हो सकते हैं और कर्तव्य भी बिना अधिकार रह सकते हैं। उदाहरण के लिए पूँजीपति मजदूरों का शोषण करके अपनी तिजोरी भरता रहता है पर बदले में वह कुछ भी करने को बाध्य नहीं। मजदूरों को केवल वह इतना वेतन देता है जिससे उनका पेट भरता रहे। उनके दुख सुख, हारी-बीमारी के लिए वह उत्तरदायी नहीं है। इससे भी अधिक स्पष्ट उदाहरण जमींदारों और देशी राजाओं का है जो किसानों और प्रजा का हर तरह खून चूसते रहते हैं पर उनके प्रति किसी कर्तव्य को नहीं मानते। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह मानना होगा कि यदि पूँजीपति, जमींदार या देशी रजवाड़े अपने उत्तरदायित्वों को नहीं मानते तो न्यायतः उनके अधिकार भी उचित नहीं ठहराये जा सकते। आप देख आये हैं कि केवल व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक और अनुकूल परिस्थितियों को न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। अतएव प्रजातन्त्रीय राज्य से उनका अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करना होगा अन्यथा उनका अस्तित्व और भविष्य ही खतरे में पड़ जायगा। लाभ और जिम्मेदारी शक्ति और उत्तरदायित्व दोनों साथ-साथ होने चाहियें। दोनों का अस्तित्व एक सूत्र से बँधा हुआ है। एक की उपेक्षा करने से दूसरा भी नहीं रह सकता।

❀ देखिये डा० बेनीप्रसाद, नागरिक शास्त्र, पृष्ठ ४१,

अधिकार का उपभोग करने के लिये दूसरों के समान अधिकार का आदर करना ही होगा। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों पर ही जोर देगा और कर्तव्य की उपेक्षा करेगा तो थोड़े समय के अन्दर किसी के लिए कोई अधिकार शेष न रह जायगा। अतएव राज्य कानून द्वारा कर्तव्यों को भी लागू करता है और दूसरों के अधिकारों के उपभोग में हस्तक्षेप करने पर अथवा अपने अधिकार का दुरुपयोग किये जाने पर दण्ड देता है। दण्ड का आधार यह है कि अपने कर्तव्यों की उपेक्षा कर व्यक्ति स्वयं अपने अधिकार भी खो देता है। अतएव समाज की संगठित शक्ति उसके असामाजिक कार्यों की रोकथाम के लिये आवश्यक उपाय काम में ला सकती है। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए सुविधा होनी चाहिए, किन्तु इनके दुरुपयोग करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

नागरिक शास्त्र में कर्तव्य पालन पर विशेष बल दिया जाता है। यदि प्रत्येक नागरिग अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहे तो समाज की अनेक बुराइयाँ स्वतः दूर हो जायें।

———

बारहवाँ अध्याय

स्वतन्त्रता और समानता

आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात कोरी गप्प है।

—जी० डी० एच० कोल

I स्वतन्त्रता क्या है ?

ऊपर नागरिकों के कर्तव्यों तथा अधिकारों पर विचार किया जा चुका है। पर ये कर्तव्य और अधिकार तभी अपना पूरा प्रभाव दिखा पाते हैं जब समाज में स्वतन्त्रता का वातावरण हो। नहीं तो अधिकार केवल कागजी घोषणा मात्र रह जाते हैं।

कुछ लोग स्वतंत्रता का अर्थ यह लगाते हैं कि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध (Restraints) न रहे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जो चाहे वह कर सके। हाब्स का स्वतन्त्रता से यही अभिप्राय था। अराजकवादी (Anarchists) भी स्वतन्त्रता का यही अर्थ लगाते हैं। पर इनके अनुसार ऐसी स्वतन्त्रता राज्यहीन अवस्था में होती है। हाब्स तो स्वतन्त्रता को आवश्यक भी नहीं मानता ! पर हम इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते। राबिंसन क्रूसो जैसी रेगिस्तानी द्वीप पर की स्वतन्त्रता न तो संगठित समाज में सम्भव ही हो सकती है और न श्लाघनीय ही है। ऐसी स्वतन्त्रता का एक ही व्यक्ति उपभोग कर सकता है। समाज में इसके अर्थ होंगे परस्पर की स्पर्द्धा और लड़ाई जब तक एक शक्तिशाली व्यक्ति सबों को अपने आधीन न कर ले। अपरिमित और अनियन्त्रित स्वतन्त्रता के अर्थ हैं स्वच्छंदता और स्वच्छंदता सच्ची स्वतन्त्रता की विरोधी है। पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग में

यह विश्वास निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति अच्छाई का अवतार है, इस- ...अनावश्यक है। मानव इतिहास इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। यही नहीं, अनियन्त्रित स्वतन्त्रता के हामी यह मानते प्रतीत होते हैं कि व्यक्तिगत विकास बिना सामाजिक जीवन बिताये यानी परस्पर के सहयोग के बिना भी सम्भव हो सकता है। अनुभव इस मान्यता की भी पुष्टि नहीं करता। सच तो यह है कि न तो व्यक्ति अच्छाई का अवतार ही है और न वह समाज के बिना अपना काम ही चला सकता है। पर सामाजिक जीवन में कुछ प्रतिबन्धों का रहना आवश्यक हो जाता है जिससे कोई व्यक्ति अति पर पहुंचकर दूसरे को हानि न पहुंचाये। इस प्रकार के प्रतिबन्ध इसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं करते वरन ऐसे वातावरण को बनाने में सहायक होते हैं जिसमें सच्ची स्वतंत्रता का उपभोग किया जा सकता है।

नकारात्मक मत—कुछ विद्वानों के अनुसार स्वतन्त्रता के अर्थ ऐसे कार्य करना है जो दूसरों को हानि न पहुंचावे। यह मत व्यक्तिवादियों का है जिनका कहना यह है कि नागरिक को ऐसे सभी कार्यों को करने की छूट होनी चाहिये जो निश्चयात्मक रूप से दूसरों को हानि नहीं पहुंचाते या उनकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं करते *। मिल (J. S. Mill) ने इसी आधार पर व्यक्ति के कार्यों को दो वर्गों में बाँटा है : (१) व्यक्तिगत कार्य और (२) सामाजिक कार्य। उसका कहना था राज्य केवल सामाजिक कार्यों में प्रतिबन्ध लगा सकता है। व्यक्तिगत कार्यों में नागरिक को पूर्ण स्वतन्त्रा होनी चाहिये। ऊपर से देखने से मिल का मत न्यायसंगत प्रतीत होता है। पर सच तो बात यह है कि सिवाय मत

---

* Liberty consists in the power to do anything that does not injures third—French Declaration of the Rights of Man.

(Opinion) के नागरिक का कोई भी कार्य पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं होता। प्रोफेसर लास्की तो यहाँ तक कहते हैं कि मत पर सामाजिक सम्पर्क की छाप रहती है। अतएव यह मत मान्य नहीं हो सकता।

ग्रीन का मत—डा० ग्रीन (T. H. Green) के अनुसार स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि ऐसे कार्य किये जाँय या ऐसी वस्तुओं का उपभोग किया जाय जो किये जाने या उपभोग के योग्य हैं +। इस परिभाषा में ग्रीन ने यह दिखलाया है कि सच्ची स्वतन्त्रता निष्क्रियता में नहीं है और न ऊट पटाँग काम करने में ही है वरन् ऐसे कर्म करने में है जो मनुष्योचित हैं, सामाजिक हैं और व्यक्ति का विकास करते हैं। प्रोफेसर लास्की के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसा वातावरण बनाये रखना है जिसमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करने का अवसर पा सके इस प्रकार स्वतन्त्रता अधिकारों की उपज है। बिना अधिकारों के स्वतन्त्रता नहीं हो सकती क्योंकि अधिकारों के बिना मनुष्य ऐसे कानूनों के आधीन रहते हैं जिनका उनके व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि अधिकारों के रहने पर ही सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव हो सकती है।

राज्यसत्ता और स्वतंत्रता—कुछ लोगों का यह विचार है कि राज्यसत्ता (Sovereignty) और स्वतन्त्रता (Liberty) परस्पर दो विरोधी विचार हैं। राज्यसत्ता के अर्थ हैं राज्य का अपरिमित अधिकार जब कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से होता है। अतएव दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। पर यह विचार ठीक नहीं है। कानूनदाँ तक कह स्वीकार करते हैं कि राज्यसत्ता के अर्थ

+ The positive power of doing and enjoying things worth doing and enjoying'—T. H. Green.

वास्तविक में अपरिमित या अनियन्त्रित सत्ता नहीं है। कानूनी स्थिति ऐसी हो सकती है पर यथार्थ जीवन में राज्य को नागरिकों के समुदायों के अधिकारों और दूसरे नियमों को मानकर चलना होता है। राज्य सत्ता यथार्थ में और नैतिक रूप से सीमित होती है। राज्य के ध्येय में व्यक्तित्व का विकास भी एक प्रमुख स्थान रखता है अतएव राज्य व्यक्ति के अधिकारों और उनकी स्वतन्त्रता की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के अर्थ भी मनमानी करना नहीं है। ऐसी मनमानी तो राज्य और सभ्य समाज के बाहर ही की जा सकती है। पर जैसा कि हम देख चुके हैं सभ्य समाज और राज्य के बाहर सच्ची स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसत्ता और स्वतंत्रता में कोई वास्तविक विरोध नहीं है और दोनों ही साथ-साथ रह सकती हैं। यही नहीं, सामाजिक हित में भी इसका साथ साथ रहना ही उत्तम है। जब ये एक दूसरे से पृथक हो जाती हैं तो इसका परिणाम या तो निरंकुशता होता है या अराजकता। प्रोफेसर गैटिल के अनुसार अकेली राज्यसत्ता निरंकुशता होती है और स्वतंत्रता को नष्ट कर देती है जब कि अकेली स्वतन्त्रता अराजक होती है और राज्यसत्ता को नष्ट कर देती है। अतएव व्यक्तिगत विकास और सामाजिक उन्नति के लिये यह अच्छा है कि ये साथ-साथ रहें।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि राज्य की आज्ञा पालन में सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती। यह ठीक है कि राज्याज्ञा मानने में भी से नहीं मिल जाती। स्वतन्त्रता तो राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों पर निर्भर है। यदि राज्यसत्ता इन अधिकारों का स्वीकार नहीं करती तो स्वतन्त्रता सम्भव ही नहीं है। पर सभी राज्यों में कुछ न कुछ अधिकारों को स्वीकार किया जाता है। फिर बिना सत्ता के स्वतंत्रता को कायम भी तो नहीं रक्खा जा सकता। असमाजिक व्यक्तियों से स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये एक सत्ता का होना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति

स्वयं अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता, एक सामान्य सत्ता ही यह कार्य कुशलतापूर्वक कर सकती है। वह नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करती है और स्वतन्त्रता का अपहरण करने वालों को दण्ड देती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राज्यसत्ता सभी की स्वतन्त्रता को एक अनिवार्य आवश्यकता और अवस्था है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्यसत्ता सदैव स्वतन्त्रता की रक्षा करती हैं। ऐसा होना या न होना राज्य के स्वरूप और उसके संगठन पर निर्भर है। प्रजातन्त्रीय और उत्तरदायी राज्यों में राज्यसत्ता स्वतन्त्रता की पोषक होती है।

कानून और स्वतन्त्रता—आप देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य मनमानी करने से नहीं है। उसका अभिप्राय ऐसे कार्य करना है जो करने योग्य हैं। पर इसका निर्णय व्यक्ति के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। राज्य स्वयं यह निश्चय करता है कि नागरिक को कैसी स्वतन्त्रता दी जाय। राज्य का यह निर्णय कानूनों के रूप में प्रकट होता है। उसके द्वारा राज्य अधिकार और कर्तव्य की व्यवस्था कायम करता है और यह निर्धारित करता है कि नागरिक क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते। इसी बात को ध्यान में रखकर लौक ने कहा है कि 'बिना कानून के स्वतन्त्रता नहीं होती।' ये कानून स्वतन्त्रता की सीमा को स्थिर करते हैं जिससे व्यक्ति यह स्पष्ट समझ ले कि वह कोई कार्य किस प्रकार और किस सीमा तक कर सकता है। उस सीमा में रहने पर कोई उसके साथ हस्तक्षेप न करेगा। इस प्रकार कानून इस बात का भी समुचित प्रबन्ध कर देते हैं कि नागरिक अपनी स्वतन्त्रता को अच्छी तरह उपभोग कर सके। इसके लिये वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि स्वतन्त्रता का दुरुपयोग या दूसरों की स्वतन्त्रता के अपहरण करने पर राज्य दण्ड देगा। साराश यह है कि कानून अधिकार, कर्तव्य और दण्ड की व्यवस्था कायम कर तीन प्रकार से स्वतन्त्रता को सुरक्षित

रखने का प्रयत्न करते हैं : (१) वह यह स्पष्ट कर देते हैं कि व्यक्ति अपने अधिकार-क्षेत्र में इच्छानुसार कार्य कर सकता है। इस सम्बन्ध में बाहरी हस्तक्षेप न होगा। यदि इसके विपरीत कोई प्रयत्न करता है तो राज्य उसे रोकेगा। (२) वे बतलाते हैं कि व्यक्ति को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य नहीं करने चाहियें। न उसे अपने कर्तव्यों की अवहेलना ही करनी चाहिये। इससे दूसरों की समान स्वतन्त्रता पर आँच आती है। (३) कानून यह स्पष्ट कर देते हैं कि अधिकारों के साथ हस्तक्षेप किये जाने पर या उनके अधिकार-सीमा से बाहर काम करने पर राज्य दण्ड देगा। और इस प्रकार स्वतन्त्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करेगा। यदि कानून न हों तो न सिर्फ नागरिक की स्वतन्त्रता ही खतरे में पड़ जाय वरन् जीवन-रक्षा भी एक समस्या बन जाय। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनमानी करे, शक्ति का बोल बाला हो, बराबर झगड़े चलते रहें और चारों ओर अशांति फैल जाय। कानून सामाजिक जीवन को नियमित बना कर शान्ति और व्यवस्था को कायम करते हैं और ऐसा करके वे स्वतन्त्रता को सम्भव बनाते हैं।

एक मामूली उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि उसे राजमार्ग या सार्वजनिक सड़कों पर चलने की स्वतन्त्रता हो। राज्य भी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है। पर यदि आने-जाने के इस सम्बन्ध में कई निश्चित नियम न हों तो क्या होगा? प्रत्येक मनुष्य मनमानी दिशा में चलेगा। कोई दायें जायगा तो कोई बायें। इसका फल यह होगा कि नित्य सैकड़ों दुर्घटनायें होंगी और नागरिकों को व्यर्थ जान से हाथ धोना होगा। एक साधारण सा मार्ग-नियम (Rule of the Road) से बनाकर इन कठिनाइयों से बचा जा सकता है। यह नियम है 'बाईं ओर चलने के।' इस छोटे से नियम को मानने से मार्ग पर चलने की स्वतन्त्रता

सुरक्षित हो जाती है। इसी प्रकार हर एक नागरिक को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह बिना रोक-टोक अपने विचारों को प्रकट करे। किंतु यदि इसके साथ यह कानून न हो कि अशिष्ट भाषण और दूसरों की प्रतिष्ठा को हानि पहुंचाने वाले व्यक्ति को दंड दिया जायगा तो लोग आपस में गालीगलौच और फिर मारपीट करते दिखलाई दें। डाकखानों, रेलवे स्टेशनों और सिनेमा घरों पर टिकट बँटते समय जो दृश्य दिखलाई देता है वह आपको नियमों के अभाव में होने वाली गड़बड़ी का कुछ आभास दे देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सच्ची स्वतन्त्रता सामाजिक अनुशासन को स्वीकार करके चलने में है, मनमानी करने में नहीं है।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कानून सर्वदा स्वतन्त्रता के पोषक और उन्हें बढ़ाने वाले होते हैं। पर हमारा अभिप्राय यह अवश्य है कि बिना कानून और नियमों के सच्ची स्वतन्त्रता नहीं हो सकती, स्वच्छंदता भले ही हो। सच्ची स्वतंत्रता के लिये संगठित समाज और उसके नियमों का होना अनिवार्य है। पर आदर्शवादी (Idealists) कहते हैं कि कानूनों का पालन ही सच्ची स्वतन्त्रता है। यह बात एक आदर्श राज्य में जहाँ आदर्श कानून हों लागू हो सकती है। पर साधारण राज्यों और उनके कानूनों के सम्बन्ध में यह कहना केवल सरकार की निरंकुशता को प्रोत्साहन देना है। जहाँ तक पराधीन देशों का प्रश्न है उनके निवासियों के सामने तो निरन्तर ऐसे कानून आ सकते हैं जिनका विरोध करना और भंग करना ही सच्ची स्वतन्त्रता के लिये हितकर हो। उदाहरण के लिये रौलट एक्ट (Rowlett Act) को ही ले लीजिये। उसे किसी भी दृष्टि से स्वतन्त्रता को बढ़ाने वाला या उसकी रक्षा करने वाला कानून नहीं कहा जा सकता। वह सरकार की दमन नीति का एक अनुपम उदाहरण था और जो कुछ भी

स्वतन्त्रता शेष थी उसका भी अन्त करने के लिये बनाया गया था। ऐसे कानूनों के पालन से कभी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

क्या स्वतन्त्रता आवश्यक है?—तानाशाही में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का कहना है कि नागरिक न तो यह जानते हैं कि उनकी भलाई किसमें है और न उन्हें यह निर्णय करने की योग्यता ही है कि उनकी भलाई के लिये सर्वोत्तम बात क्या है? वह केवल अपने निजी स्वार्थ की बातें ही समझ सकते हैं, समाज के हित या दूरदर्शिता से उनका क्या नाता? अतएव उनका कहना है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिये, नहीं तो समाज को हानि पहुँचेगी। समाज के वास्तविक नेता वो लोग हैं जो दूरदर्शी, और परमार्थी हों। शासन की बागडोर ऐसे ही लोगों के हाथ में होनी चाहिये। इन लोगों को शिक्षा, प्रेस, रेडियो, कानून आदि के द्वारा नागरिकों को यह बतलाना चाहिये कि 'सच्ची भलाई' किसमें है।

इस विचार के पक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। पर समाज के स्वाभाविक नेताओं को खोज निकालना एक कठिन कार्य है। अधिनायकशाही में विश्वास रखने वालों ने इसका एक सरल ढंग खोज निकाला है! यह ढंग है अपने दल के सदस्यों को स्वाभाविक नेता मान लेना। उसके बाहर कोई व्यक्ति चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो उसके नेतृत्व को स्वीकार न करना। पर यह उपाय न्यायसंगत नहीं है और स्वीकार नहीं किया जा सकता। एक पार्टी की तानाशाही में कुशलता होती है पर वह स्वार्थी भी हो सकती है। जहाँ तक व्यक्ति के विकास का प्रश्न है यह उसमें योग देने के स्थान पर रुकावटें डालती है। सच बात यह है कि ऊपर से थोपी गई कोई भी सरकार व्यक्तियों का समुचित विकास नहीं कर सकती। यह तो वहीं सम्भव है जहाँ नागरिकों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत

सरकार के कामों में भाग लेने की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। अतएव स्वतन्त्रता आवश्यक है।

स्वतन्त्रता के भेद—ऊपर हम राजकीय स्वतन्त्रता (Positive Liberty) पर विचार करते आये हैं। इसके अतिरिक्त नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty) भी होती है जिसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपनी आत्मा की पुकार अथवा नैतिकता की भावना के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हो।

नागरिक की स्वतंत्रता को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : सामाजिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty) और राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty) राजनीतिक स्वतन्त्रता का मतलब सरकार के कामों में सक्रिय भाग लेने की छूट से है। इसमें मत देने, निर्वाचित होने, पद ग्रहण करने आदि की स्वतन्त्रता सम्मिलित हैं। सामाजिक स्वतन्त्रता का मतलब बिना हस्तक्षेप के कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty) पारिवारिक स्वतन्त्रता (Domestic Liberty) धार्मिक स्वतन्त्रता (Religious Liberty) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty) आदि आ जाती हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत वे सभी बातें आ जाती हैं जो व्यक्तित्व की उन्नति करती हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हवा में आक्सीजन के समान है जो जीवन-दान देती है। इस जीवनदायी वातावरण के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता रूपी सुन्दरतम फल भी शाखा पर ही लगा सूख जाता है।

आर्थिक स्वतन्त्रता—पर इन्हीं दिनों काफी बल दिया जाने लगा है। कुछ समय पूर्व इसका अर्थ बिल्कुल दूसरा ही था। उसका मतलब था कि आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्य के नियंत्रण का सर्वथा अभाव। इस आर्थिक व्यक्तिवाद का परिणाम यह हुआ कि

हजारों श्रमिक तबाह हो गये और वे बहुत ही नीचे दर्जे का जीवन बिताने को बाध्य हो गये। इसी तबाही ने लोगों की आँख खोल दीं और वे आर्थिक सुरक्षा (economic Security) की आवश्यकता को समझने लगे। प्रोफेसर लास्की के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है अपर्याप्तता (insufficiency) और बेकारी के भय से छुटकारा। तात्पर्य यह है कि सबों का काम मिले और इतना आय हो कि वे सुविधापूर्वक अपनी सभी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

II समानता

स्वतन्त्रता के साथ समानता भी अच्छे जीवन के लिये आवश्यक है। सरल भाषा में समानता (Equality) का अर्थ यह है कि वर्ग, जाति, धर्म, लिंग, पेशा आदि के आधार पर भी सभी व्यक्ति समान होते हैं।

कुछ विचारकों ने इस विचार की कठोर आलोचना की है। अरस्तू का कहना था कि सब व्यक्ति समान नहीं हैं। कुछ योग्य होते हैं और कुछ अयोग्य। कुछ शासन करने के लिये बनाये जाते हैं और कुछ शासित होने के लिये। अरस्तू का कहना था कि नर और नारी कभी समान नहीं हो सकते। इसी विचार को बाद में अनेक विचारकों ने दोहराया। हिन्दू समाज में जाति-प्रथा भी इस असमानता के सिद्धान्त पर आधारित है। जाति (Race) के आधार पर यदि कुछ लोग असमानता का प्रश्न उठाते हैं तो कुछ लोग रंग-भेद पर ही असमानता को प्रमाणित करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि सभी व्यक्ति समान कभी नहीं हो सकते। क्योंकि उनमें समान योग्यता नहीं होती। यदि सबों को बराबर सम्पत्ति बाँट दी जाय तो थोड़े ही समय में कुछ गरीब हो जायेंगे तो कुछ धनवान। अन्य विचारकों का कहना है कि समानता की बात कोरी बकवास है। एक ही पेड़ की कोई दो पत्तियाँ

तक बराबर नहीं होती फिर मनुष्य कैसे समान हो सकता है। मनुष्यों की योग्यता, स्वभाव और रुचि में इतनी विभिन्नतायें पाई जाती हैं कि समानता की बात व्यर्थ ज्ञात होती है।

यह ठीक है कि व्यक्तियों की रुचि और योग्यता एक दूसरे के समान नहीं होती। यदि कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक कर्मठ और सहनशील होते हैं तो कुछ व्यक्ति अधिक सुन्दर या अधिक बुद्धिमान होते हैं। 'प्रकृति और प्रवृत्ति की विभिन्नतायें प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती हैं। पर हमारा यहाँ इनसे अभिप्राय नहीं है। हमारा तात्पर्य यह उन असमानताओं को दूर करने से जो प्राकृतिक नहीं है और सुविधाओं की असमानताओं के कारण उत्पन्न हो गई है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि हमारे समाज में सभी व्यक्तियों को समान रूप से सुविधायें नहीं मिलतीं। इसका परिणाम यह होता है कि जो कम भाग्यशाली होते हैं उनकी योग्यताओं का कभी विकास नहीं हो पाता और वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। प्रत्येक समाज में ऐसे लाखों व्यक्ति होते हैं जिनमें योग्यता तो है पर सुविधायें नहीं मिलतीं। इससे लोगों को आसानी से यह भ्रम हो जाता है कि उनमें मानसिक शक्ति का अभाव है। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार 'वास्तव में किसी समाज के अन्दर मूर्खों और जड़बुद्धि वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है। अधिकांश लोग अपनी योग्यता का अच्छा परिचय देने की क्षमता रखते हैं।' कमी केवल इस बात की है कि उन्हें समानता के सुयोग नहीं मिलते। इसी असमानता को दूर कर हम व्यक्ति को उन्नति का अवसर देना चाहते हैं। प्रोफेसर लास्की ने समानता को तीन मुख्य बातें बतलाई हैं : (१) विशेष सुविधाओं का अभाव, (२) समान सुयोग, और (३) सब की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति समानता के प्रायः निम्नलिखित भेद बताये जाते हैं :—

(क) सामाजिक समानता—इस का तात्पर्य यही है कि समाज में

सभी समान हों। कुलीनता, जाति, लिंग, धर्म आदि के आधार पर न तो किसी को सुविधा दी जाय और न कोई बन्धन लगाया जाय। इसके अर्थ यह हुए कि दास-प्रथा अथवा बेगार का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह सामाजिक असमानता के अवशेष हैं। (ख) कानूनी समानता का तात्पर्य यह है कि कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान समझे जाँय और सभी के साथ एक-सा व्यवहार किया जाय। (ग) राजनैतिक समानता का अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को समान योग्यता होने पर समान रूप से देश के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार यानी सबको समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। (घ) आर्थिक समानता का अभिप्राय धन के समान वितरण अथवा वेतन की समानता से नहीं है। पर इसका तात्पर्य यह अवश्य है कि सर्वप्रथम बिना भेदभाव के सभी नागरिकों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। उसके पश्चात् यदि कुछ बच रहता है तो काम या योग्यता के आधार पर दिया जा सकता है। पर किसी भी व्यक्ति के पास इतना धन नहीं होना चाहिये कि वह उसके बल पर अन्य व्यक्तियों के जीवन को अपनी मुट्ठी में कर सके। प्रोफेसर लास्की के अनुसार उद्योग में भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों को लागू किया जाना चाहिये। तभी पूँजीपतियों के बेज़ा असर से छुटकारा पाया जा सकता है। (ङ) सुयोग की समानता से हमारा तात्पर्य यह है कि जन्म के कारण किसी व्यक्ति के विकास में बाधा नहीं पड़नी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये कि वह अपनी योग्यताओं का विकास कर उन्हें उपयोग में लाने में असमर्थ बन जाय। शिक्षा का समुचित प्रबन्ध होने से किसी की प्रतिभा व्यर्थ नष्ट न होगी।

प्रोफेसर लास्की के मतानुसार प्रजातन्त्र में यदि कोई भेदभाव हो तो उनका ऐसा आधार होना चाहिये जो मान्य हो सके। वे मान्य तभी

हो सकते हैं जब वे सामुहिक हित के लिये हों। सामान्य हित की विरोधी सुविधायें कभी उचित नहीं हो सकतीं।

III स्वतन्त्रता और समानता

पुराने ढग के प्रजातन्त्रवादियों का यह विश्वास था कि स्वतन्त्रता जिसमें उनका जोर था: राजनीतिक स्वतंत्रता से होता था—दे देने से सभी सामाजिक असमानतायें हल हो जायगी। क्योंकि प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त हो जायगा, वे स्वयं अपने हित का ध्यान रख सकेंगे अतएव उनका यह प्रयत्न रहा कि मताधिकार को जहाँ तक सम्भव हो सके विस्तृत कराया जाय जिससे प्रत्येक वयस्क का राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाँय।

उनका आर्थिक समानता में कोई विश्वास न था और आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय वे यह लगाते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इससे सभी नागरिकोंको स्पर्द्धा करके अपनी उन्नति करने समान अवसर मिल जाँयगे। जब तक औद्योगिक क्रान्ति ने बड़े परिमाण पर उत्पादन को प्रारम्भ नहीं किया उन्हें अपनी भूल ज्ञात न हुई। किन्तु इसके पश्चात् निम्न वर्ग की दशा बिगड़ने लगी। आर्थिक विषमतायें दिन पर दिन बढ़ने लगी और जनता में असन्तोष के लक्षण दिखलाई देने लगे। यह स्पष्ट हो गया कि निम्न वर्ग को राजनीतिक समानता पाकर कोई लाभ नहीं होता। अपनी गरीबी- अज्ञानता और बेबसी के कारण वे राजनीतिक कार्यों में या तो कोई रुचि नहीं ले सकते और यदि लेते भी हैं तो पूँजीपतियों के प्रभाव से छुटकारा नहीं मिल पाता। इस दशा ने विचारकों की आँखें खोल दी और उन्होंने समझा कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती।

पर अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो स्वतन्त्रता और समानता को दो विरोधी विचार मानते हैं। इनका कहना है कि स्वतंत्रता तो व्यक्तित्व

के विकास का अवसर देती है और समानता इसके विपरीत सब नागरिकों को एक सतह पर लाना चाहती है। पर समानता से हमारा तात्पर्य उन्हें एक सतह पर लाना नहीं है वरन् यह है कि जन्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय। यह विचार भ्रान्त प्रमाणित हुआ है कि स्वतंत्रता मिलने पर प्रत्येक व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सकता है। आर्थिक क्षेत्र में इस स्वतन्त्रता के अर्थ हैं कि कुछ व्यक्ति तो अतुल धन और ऐश्वर्य का भोग करें और अधिकतर श्रमजीवी पशु सदृश जीवन बितायें। फिर व्यक्तित्व के विकास के लिये इससे अधिक सहायक कोई बात नहीं हो सकती कि सभी व्यक्तियों को समान अवसर मिले। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर जाकर उनकी भव्यता व्यर्थ नष्ट न हो। यदि सभी नागरिकों को आवश्यकताओं की पूर्ति का विश्वास हो तो वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना समय अन्य उपयोगी कार्यों में लगा सकते हैं। और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती।

———

तेरहवाँ अध्याय

शासन-प्रणालियां

यह कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि राज्यों के वर्गीकरण जैसी कोई बात नहीं हो सकती। मूलतः राज्य सब एक हैं और सभी में समान रूप से राज्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं।

—विलोग्बी

पुराने विचारक राज्य और सरकार में कोई भेद न मानते थे। अतएव उन्होंने राज्य के वर्गीकरण की चर्चा की है। आधुनिक विचारक दोनों के अन्तर पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि जब राज्यका वर्गीकरण राज्यसत्ता, जनसंख्या और क्षेत्रफल के आधार पर न किया जाकर केवल सरकार के संगठन के आधार पर किया जाता है तो क्यों न इसे सरकार का वर्गीकरण कहा जाय। बात उनकी ठीक है और उसे आम तौर पर मानलिया गया है।

I अरस्तू का वर्गीकरण

अरस्तू के नाम से जिस वर्गीकरण की हम चर्चा करेंगे वह उसके बहुत पहले से प्रचिलित था। अरस्तू ने उसमें थोड़े से उलट-फेर कर इस रूप में उपस्थित किया और तभी से वह उसी के नाम से चला आ रहा है। अरस्तू अपने वर्गीकरण में सर्वप्रथम राज्य के ध्येय पर विचार करता है। उसके अनुसार यह ध्येय सार्वजनिक हित है। जो सरकारें इस ध्येय को पूरा करती हैं उन्हें वह उचित (Normal) कहता है और जो ऐसा नहीं करतीं उन्हें विकृत (Perverted) कहता है।

उसने राज्य के तीन मौलिक भेद बतलाये हैं : एक व्यक्ति का शासन, कुछ व्यक्तियों का शासन और बहुमत या बहुत से व्यक्तियों का शासन। एक व्यक्ति के उचित शासन को वह राजतन्त्र (Monarchy) कहता है और उसके विकृत रूप को तानाशाही (Tyranny) कहता है। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों के शासन को वह क्रमशः कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और वर्ग-शासन (Oligarcy) नाम देता है। और बहुतों के शासन को प्रजातन्त्र (Democracy) और भीड़-शासन (Mobocracy) कह कर पुकारता है। (उसने 'डैमोक्रेसी' के स्थान पर Polity शब्द और 'मोबोक्रेसी' के स्थान पर (Democracy) शब्द प्रयुक्त किये हैं। पर उनसे ध्वनि यही निकलती है।) इनमें वह राज्यतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ और प्रजातन्त्र को निकृष्ट बतलाता है। विकृत सरकारों में यह भीड़-शासन को प्रथम स्थान देता है और तानाशाही को निकृष्ट बतलाता है। अल्पसत्तात्मक सरकारों को वह दोनों ही दशाओं में मध्यवर्ति स्थान देता है। अरस्तू का वर्गीकरण निम्नलिखित है :—

शासन-प्रणाली	उचित	विकृत
एकसत्तात्मक	राजतन्त्र	तानाशाही
अल्पसत्तात्मक	कुलीनतन्त्र	वर्ग-शासन
बहुसत्तात्मक	प्रजातन्त्र	भीड़-शासन

अरस्तू का विश्वास था कि शासन-प्रणाली कभी एक सी नहीं रहती। एक के बाद दूसरे प्रकार के शासन का एक चक्र सा चलता रहता है। इस चक्र में वह राजतन्त्र को प्रथम स्थान देता है। उसके विकृत हो जाने पर तानाशाही हो जाती है जिसे लोग ऊबकर उखाड़ फेंकते हैं और कुलीनतन्त्र कायम कर देते हैं। पर यह भी समय पाकर स्वार्थी वर्ग शासन में परिवर्तित हो जाता है जिसे पलट कर जनता प्रजातंत्र को जन्म देती है। जब प्रजातंत्र में अव्यवस्था फैल जाती है तो वह झुण्ड या भीड़ शासन में बदल जाता है। अन्त में उससे भी तंग आकर जनता फिर एक योग्य व्यक्ति को चुन लेती है और यह क्रम फिर यों ही चलने लगता है।

इस वर्गीकरण में एक बड़ा गुण यह है कि यह राज्य के ध्येय की ओर ध्यान आकर्षित करता है। पर राजनैतिक दशा अब इतनी बदल चुकी है कि यह वर्गीकरण हमारे काम का नहीं रहा। वह नगर-राज्यों का युग न होकर देश-राज्यों का युग है। अतएव विशुद्ध शासन-प्रणाली अब कोई भी न मिलेगी। सभी सरकारें अब कुछ कम या अधिक प्रतिनिध्यात्मक हैं। इस कारण कुलीनतन्त्र का भेद अब व्यर्थ हो गया है। राजतन्त्र भी अब पुराने जैसे नहीं रहे। इनमें भी अब वास्तविक सत्ता प्रजा के पास रहती है। पुराने ढग की सरकारों का उदाहरण अफगानिस्तान जैसे पिछड़े देशों में ही मिलना सम्भव हो सकता है। इस वर्गीकरण के अनुसार ब्रिटेन एक बार तो अफगानिस्तान की श्रेणी में आ जाता है और दूसरी बार संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की श्रेणी में। किन्तु इस श्रेणी-विभाजन से सरकार के स्वरूप पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। फिर इसमें संघ सरकार और मिश्रित (Mixed) सरकारों को कोई स्थान नहीं दिया गया। इस प्रकार यह आधुनिक समय की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुपयुक्त है। फिर भी इन सरकारों पर विचार कर लेना अच्छा होगा।

राजतन्त्र—राजतंत्र सरकार की वह प्रणाली है जिसमें सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में होती है। यह सत्ता राजा के पास उसकी आयु पर्यन्त रहती है। राजा पैतृक (Hereditary) अथवा निर्वाचित (Elective) दोनों ही प्रकार के होते हैं। राजतन्त्र भी अपरिमित (Absolute) और सीमित (Limited) हो सकता है। अपरिमित अथवा निरंकुश राजतन्त्र में राजा के पास पूरी सत्ता होती है और उस पर कोई नियन्त्रण या रोक नहीं होती। इसके विपरीत सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र में राजा दिखावे भर का सत्ताधारी होता है और असली शक्ति दूसरों के पास होती है। अफगानिस्तान का बादशाह पहली तरह का राजा है जब कि ब्रिटेन का राजा दूसरी प्रकार है। उसमें सत्ता राजा के पास न होकर प्रजा को प्राप्त है।

राजतन्त्र के गुण-दोष पर विचार करते समय केवल पहले प्रकार के राजतन्त्र की चर्चा की जायगी। सीमित राजतन्त्र सच्चे अर्थ में 'राजा द्वारा शासन' नहीं होता। अतएव इसका पृथक वर्णन आवश्यक है। अपरिमित राजतंत्र बहुत पुराने समय से चला आया है। (१) इसकी व्यवस्था बहुत सादा सरल होती है। इसमें राजा सर्वशक्तिमान होता है। वह अपनी प्रजा को एक सूत्र में बाँध देता है। उसके लिये सभी व्यक्ति और वर्ग समान होते हैं। अगर वह प्रजा पालन का ठीक से ध्यान रक्खे तो प्रजा बड़े आदर की दृष्टि से देखती है। और उसकी भक्ति करने लगती है। (२) इस राजभक्ति के कारण आपद् काल में भी संगठित मोर्चा बनाने में राजा को बहुत आसानी हो जाती है। (३) फिर ऐसे राज्य में शासन दृढ़, और स्थिर रह सकता है। इसमें न तो आये दिन सरकार के बदल जाने का झगड़ा होता है और न राज्य की नीति निर्धारित करने वाले अंगों में कोई मतभेद हो। राज्य के सभी कर्मचारी राजा के आधीन और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे परामर्श देते हैं पर अन्तिम निर्णय राजा के हाथों में होता है। इस प्रकार निर्णय

करने और फिर उसे कार्यरूप में परिणित करने में कोई कठिनाई या देर नहीं होती। (४) इस प्रकार की सरकार का खर्च भी कम होता है क्योंकि इसमें राजा के अतिरिक्त केवल गिने-चुने राज्यकर्मचारी और होते हैं। (५) इसमें राजा और प्रजा के हितों में कोई बुनियादी विरोध न होने के कारण अच्छे राजा के शासन में कोई झगड़े नहीं होते और राजा की बहुत प्रतिष्ठा की जाती है।

राजतंत्र के इन गुणों के रहने पर भी कुछ बातें ध्यान में रखने की हैं। (१) एक तो यह है कि अच्छा राजा मिलना बहुत कठिन होता है। अधिकतर तो महा नीच, दुष्ट प्रकृति वाले, अत्याचारी और इन्द्रियलोलुप होते हैं। (२) राजतंत्र ऐसे पिछड़े लोगों में ही ठीक से चल सकता है जहाँ लोगों में नागरिक चेतना न हो। निरंकुश राजा चाहे जितना अच्छा हो वह एक उन्नत समाज की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। (३) इसके अतिरिक्त राजतंत्र का एक सबसे बड़ा दोष है शक्ति का दुरुपयोग। अनुभव यह सिखलाता है कि किसी व्यक्ति-विशेष को पूरी शक्ति देने का अवश्यम्भावी परिणाम निरंकुशता होती है। (४) यदि एक राजा योग्य और लोकप्रिय हुआ भी तो उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती। (५) फिर ऐसे शासन में न तो व्यक्ति को नागरिक चेतना आ पाती है और न उसकी आत्मसम्मान की भावना ही जागृत होती है। इसीलिये यह कहा गया है कि एक अच्छे से अच्छा शासन भी स्वशासन (Self-Government) के बराबर नहीं हो सकता।

कुलीनतंत्र—इस प्रकार के शासन में सत्ता राज्य के थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में रहती है। ग्रीक विचारकों ने इसे सर्वोत्तम व्यक्तियों का शासन कहा है। उन्होंने उत्तमता की कसौटी योग्यता, प्रतिभा, सम्पत्ति और कुल को माना है किन्तु रूप में यह शासनतंत्र अब नहीं

मिलता । हाँ इस प्रणाली के अवशेष जहाँ तहाँ अब भी दिखलाई पड़ जाते हैं । ब्रिटिश लार्ड सभा इसका एक अच्छा उदाहरण है ।

इसके गुणों का वर्णन करते हुए प्रोफेसर गार्नर ने कहा है कि (१) यह योग्यता और चरित्र को महत्व देता है तथा अनुभव और ज्ञान का सम्मान करता है । (२) अनुभवी व्यक्ति प्रायः राष्ट्राय जीवन में परम्परा को पसन्द करने वाले और व्यथ के परिवर्तनों के विरोधी होते हैं । ये लोग सोच-समझ कर काम करने वाले होते हैं । अतएव यह प्रणाली निरंकुश राजतंत्र और उग्र प्रजातन्त्र दोनों के ही दोषों से मुक्त रहती है ।

कुलीनतंत्र की अपनी त्रुटियाँ भी हैं । (१) इसकी प्रथम समस्या यह है कि योग्यता का आधार और उसकी परीक्षा कैसे हो ? कुल अथवा सम्पत्ति के ऊपर आधारित कुलीन वर्ग पर तो अब लोगों को विश्वास रहा नहीं है । (२) प्रारम्भ में योग्यता या उत्तमता का आधार कुछ भी रहे पर कुछ समय पश्चात् कुलीनता वश परम्परागत बन जाती है । परिणाम यह होता है कि कमीनों का एक विशेष वर्ग बन जाता है जो लोकहित के स्थान पर अपने हित को ही प्रधानता देने लगता है । अतः वह प्रतिगामी बन जाता है । (३) यही नहीं इसके अन्तर्गत भी नागरिकों में चेतना अथवा आत्म सम्मान की भावना का उदय नहीं होता ।

प्रजातंत्र—जैसा कि प्रजातंत्र (Democracy) शब्द और इसकी व्युत्पत्ति से पता चलता है कि प्रजातन्त्र का अभिप्राय 'जनता द्वारा शासन' है । लार्ड ब्राइस के अनुसार यह वह सरकार है जिसमें शासनाधिकार जन-समुदाय में निहित होते हैं एक अन्य स्थानपर उन्होंने इसे 'बहुमत का शासन' कहा है । मेजर एटली (Atlee) के अनुसार प्रजातंत्र का अर्थ है बहुमत द्वारा शासन और साथ ही अल्पमत के लिये काफी संरक्षण । एब्राहम लिंकन (Abraham

Lincoln) ने इसे 'जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिये शासन' बतलाया है। इन परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजातन्त्र किसी एक वर्ग, व्यक्ति, की सरकार न होकर लोकप्रिय सरकार होता है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य का प्रधान भी चुना हुआ ही हो। यदि राजा के प्रधान रहने पर भी यदि वास्तविक शासन के अधिकार प्रजा में अथवा उसके प्रतिनिधियों में हैं तो उसे भी प्रजातन्त्र ही कहा जायगा। इस प्रकार वैधानिक राजतंत्र भी प्रजातंत्र के अन्तर्गत आ जाता है।

प्रजातन्त्र को केवल सरकार का एक प्रणाली कहना उचित नहीं है। साथ में यह एक सामाजिक व्यवस्था एक नैतिक आदर्श और एक मनोवृत्ति भी है। : जातन्त्रीय समाज में सबको समान रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और उन्हें समान पद तथा सुविधायें मिलता हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि प्रजातन्त्रीय शासन के रहने पर भी समाज प्रजातन्त्रीय नहीं होता, ब्रिटेन में यही बात है। वहां समाज कुलीना (Lelvs) और साधारणों (Commoners) में बटा हुआ है। यद्यपि शासन प्रणाली प्रजातन्त्रीय है। एक नैतिक आदर्श के नाते प्रजातन्त्र मनुष्य को एक नैतिक प्राणी मानता है और उसकी बुद्धि और योग्यता में विश्वास करता है। साथ ही वह प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण रूप से विकसित होते देखना चाहता है। यहां नहीं प्रजातन्त्र की अपनी एक विशेष मनोवृत्ति होती है। वह किसी भी बात को परम्परागत होने से ही प्रमाणिक नहीं मान लेता। न किसी व्यक्ति-विशेष को ही इतना महत्व देता है कि उसकी बात बिना सोचे-समझे यों ही स्वीकार कर ले। वह प्रत्येक बात को अच्छी तरह सोच-विचार के पश्चात स्वीकार करता है।

यों तो प्रजातंत्रीय शासन बहुत प्राचीन काल से चला आया है, पर प्राचीन प्रजातन्त्र और नवीन प्रजातन्त्र में कुछ मौलिक भेद हैं।

प्राचीन प्रजातन्त्र सीधा या प्रत्यक्ष (direct) था। उसमें जनता स्वयं राज-कार्य में भाग लेती है। इस प्रकार का शासन नगर राज्यों के युग में ही सम्भव हो सकता था। स्विटजरलैण्ड के कुछ प्रांतों में अब भी इसी प्रकार का शासन पाया जाता है। पर राज्यों के क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या अत्यधिक हो जाने से प्रत्यक्ष या शुद्ध प्रजातंत्र अब सम्भव नहीं रहा। अतएव स्वयं शासन करने के स्थान पर अब नागरिक अपने प्रतिनिधियों को चुन कर भेजते हैं। इस प्रकार के प्रतिनिधियों द्वारा शासन को अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक (Indirect or representative प्रजातन्त्र का नाम दिया गया है। इसमें निर्वाचित प्रतिनिधि जनता की इच्छानुसार शासन करते हैं।

यह प्रजातंत्रवाद का युग है। इस युग का विश्वास है कि देश का शासन जनता द्वारा लोकमत के अनुसार होना चाहिये। सम्भवतः ही इसमें जनता के आमहित का ध्यान रक्खा जाता है, किसी व्यक्ति-समूह अथवा वर्ग के स्वार्थ का नहीं। (२) यह साधारण व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करता है और सब व्यक्तियों को समान मानता है। इसका विश्वास है कि सब को सार्वजनिक कार्यों में समान रूप से भाग लेने का अधिकार, तथा योग्यता है। ३) क्योंकि यहां शासन प्रजा के हित के लिये होता है अतएव इसमें जनता की इच्छाओं और आवश्यकताओं का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता है। (४) इसमें जनता पर अत्याचार अथवा निरंकुशता नहीं की जा सकती क्योंकि बिना जनता के सहारे के ऐसा शासन चल ही नहीं सकता। (५) यही नहीं, प्रजातंत्र शासन नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से देकर उनकी दिलचस्पी बढ़ाता है और उनमें नागरिक चेतना उत्पन्न करता है। अतः वह यह समझने लगते हैं कि यथार्थ में देश उन्हीं का है। इससे उनमें कूट कूट कर देश प्रेम की भावना भर जाती है। (६) प्रजातंत्र में व्यक्ति को उत्तरदायित्व का भान होने लगता है और

वह यह अनुभव करने लगता है कि समाज में उसका भी कुछ महत्व है। इससे उसके व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है साथ ही उसमें भाई-चारे और सेवा की वे भावनायें भर जाती हैं जो उत्तम नागरिकता की व्यवहारिक शिक्षा देने वाली होती हैं। (७) इस प्रकार की सरकार में देश की प्रतिभा का समुचित उपयोग होता है। अन्य प्रकार की सरकारों में पदाधिकारियों के चुनाव या नियुक्ति का क्षेत्र संकुचित होने से यह बात नहीं आ पाती। (८) इसका जनता के साथ बहुत निकट का सम्पर्क रहता है। अतएव यह उनकी भावनाओं, कठिनाइयों, इच्छाओं और आशाओं की पूरी जानकारी रखता है उनके अनुकूल कार्य भी है। (३) जनता के द्वारा बनाये जाने से और उसी के प्रति जिम्मेदार होने से इसके अन्तर्गत जनता के हित तथा अधिकार अधिक सुरक्षित रह सकते हैं। (१०) इसमें आवश्यकीय परिवर्तन शांतिपूर्ण उपायों से हो सकते हैं अतएव विद्रोह अथवा क्रान्ति करने का प्रश्न ही नहीं उठता। (११) शासन की उत्तमता की दृष्टि से भी प्रजातंत्र के अन्तर्गत लोकहित के जितने काम हुए हैं और समाज की जितनी उन्नति हुई है पहले कभी नहीं हुई। (१२) क्योंकि यह जनता की ही सरकार है अतएव इसमें नागरिकों को यह आशा तथा विश्वास रहता है कि कठिनाइयाँ या बुराइयाँ अधिक दिनों नहीं रह सकती।

एक ओर प्रजातंत्र के गुण हैं वहाँ उसके दोष भी हैं। (१) आलोचकों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को शासन-कार्य चलाने के लिये समान रूप से योग्य मान लेना ठीक नहीं है। तथ्य इसके विपरीत हैं। बर्क (Burke) ने इसे कोरा वितण्डावाद और रस्किन (Ruskin) ने पागलपन से भरी हुई मूर्खता कहा है। वास्तव में अन्य कार्यों के समान शासन-कार्य भी एक कला है और इसके लिये भी विशेष योग्यता तथा ज्ञान आवश्यक है। किंतु प्रजातंत्र इस सत्य का स्वीकार नहीं करता। (२) जहाँ तक प्रतिनिधि संस्थाओं

का प्रश्न है। अनुभव ने यह स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है कि मतदाता हमेशा योग्य उम्मेदवार को नहीं चुनते। बहुत से नागरिक तो इतने उदासीन होते हैं कि मत ही नहीं देते। कुछ को पता ही नहीं होता कि किसे मत दें। अतएव वे पड़ौसियों, मित्रों या पार्टी के कहे मुताबिक वोट डाल देते हैं। कुछ व्यक्ति तो इससे भी आगे बढ़कर अपनी राय के लिये बाकायदा सौदा पटाते हैं। ऐसी दशा में योग्य प्रतिनिधि चुने ही नहीं जाते, फिर अच्छा शासन कैसे हो सकता है। (३) प्रजातंत्र में राजनीति को भी लोग एक पेशा बनालेते हैं और उनका उद्देश्य जैसेभी सम्भव हो अपने पद को बनाये रखना हो जाता है। ऐसे व्यक्ति जनता को अपनी भाषण-शक्ति से मुग्ध तो कर सकते है पर उनकी उन्नति के लिये क्रियात्मक काम करने की वे कभी नहीं सोचते। वे अपने स्वार्थ-साधन में ही लगे रहते हैं। अतएव उनसे लोकहित की आशा करना व्यर्थ है। (४) प्रजातंत्र के लिये पार्टियाँ आवश्यक हैं। पर यही पार्टियाँ कभी-कभी सार्वजनिक जीवन में बड़ी गन्दगी फैला देती हैं। वे वोट प्राप्त करने और सरकार की मशीनरी पर अधिकार करने के लिये नाना उपायों को काम में लाते हैं और प्रायः सामूहिक हिती ओर ध्यान न देकर केवल एक समूह, वर्ग अथवा व्यक्ति के हित-साधन में प्रवृत रहते हैं। यही नहीं, दलबन्दी के प्रायः सभी दुर्गुण प्रजातंत्र में भी उत्पन्न हो जाते हैं। (५) ट्रोटस्की के अनुसार प्रजातंत्र में धनिकों पर बड़ा अत्याचार होता है। इसमें निर्धनों के लाभ के लिये धनवानों को बुरी तरह चूसा जाता है। (६) इसके विपरीत समाजवादियोंके तथा अन्य निष्पक्ष विद्वानों का कहना है कि प्रजातंत्र में धनिकों के पास अपेक्षाकृत बहुत शक्ति आ जाती है। वे धन की सहायता से सार्वजनिक जीवन को पतित बना देते हैं और अपने हित के लिये कानून बनवाने के प्रयत्न करते हैं। इसका परिणाम जन-साधारण की आर्थिक हालत पर बहुत बुरा पड़ता है। (७) प्रजातंत्र में सरकार का

संगठन बहुत जटिल तथा खर्चीला हो जाता है। सरकारी विभागों और कर्मचारियों की संख्या बेहिसाब बढ़ जाती है। क्योंकि राजनीतिज्ञों का स्वयं तो धन व्यय होता ही नहीं अतएव मितव्ययी बनाने का उन्हें विशेष उत्साह नहीं होता। (८) इसमें दक्षता का सर्वथा अभाव होता है। धारा-सभा के सदस्य, न्यायाधीश, और मंत्री प्रायः सभी अनाड़ी होते हैं। इन्हें अपने कार्य का प्रायः पूर्व ज्ञान कुछ भी नहीं होता। फिर भी वह सरकारी नीति निर्धारित और उसे लागू करने वाले होते है। ऐसे लोगों से कुशलता की आशा व्यर्थ है। (९) इसमें समय तथा शक्ति का भारी अपव्यय होता है। कई दिनों तक लम्बे-चौड़े वाद-विवादों के पश्चात् छोटी मोटी बातों का निर्णय हो पाता है। जो काम एक व्यक्ति कर सकता है उसके लिये अनेक व्यक्ति लगे होते हैं। (१०) आपद्-काल में प्रजातंत्र बेकार प्रमाणित होता है। न तो यह शीघ्रता पूर्वक किसी निर्णय पर पहुंच पाता है और न अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत कर पाता है। (११) इनके अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय सरकारें बहुत अस्थिर तथा अल्पकालीन होती हैं। इसके पूर्व कि वे अपनी नीति को कार्यरूप में परिणित कर सकें कार्य-काल समाप्त हो जाने से या अविश्वास के प्रस्ताव के कारण उस त्यागपत्र देने के लिये बाध्य हो जाना पड़ता है। इसके पश्चात् एक नई सरकार आती है जो पुरानी नीति को एकदम पलट कर एक नई नीति का अनुसरण करने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश की नीति हमेशा बदल रहती है।

इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी प्रजातन्त्र के दोषों पर ध्यान दिलाया है। (१२) समाजवादी कहते हैं कि प्रजातंत्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात तबतक कोरी बकवास है जब तक कि नागरिकों का आर्थिक सुरक्षा तथा समानता प्राप्त नहीं होती। आज के पूँजीवादी युग में समाज के एक बड़े वर्ग को निर्धनता के कारण न तो योग्यता

और न अवकाश ही मिल पाता है कि वह राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकें। इसका सच्चा उपभोग तभी सम्भव है जब नागरिक को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की चिंता से छुटकारा मिल जाय। बिना आर्थिक क्षेत्र में प्रजातंत्र स्थापित किये प्रजातंत्र की बातें बनाना फिजूल है। (१३) लेकी (Lecky) कहता है कि इसमें गुण पर नहीं वरन् संख्या पर जोर दिया जाता है। बहुमत चाहे ठीक हो या न हो उसे मानना ही होता है। इस कारण वह प्रजातंत्र को 'निर्धनों, मूर्खों और अयोग्यों का शासन' बतलाता है। उसके अनुसार समाज में इसी प्रकार के व्यक्तियों का बहुमत होता है। (१४) लेकी के अनुसार यह स्वतन्त्रता का भी विरोधी है क्योंकि इसमें 'अत्यधिक कानून बनाने की प्रवृत्ति' होती है। जनता द्वारा बनाई गई सरकार सभी मामलों में हस्तक्षेप करना अपना अधिकार समझ बैठती है। (१५) सर हेनरी मेन ने इसे बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति का विरोधी कहा है। उसके अनुसार प्रजातन्त्र में आम लोगों की रुचि पर ध्यान देना होता है। उनकी रुचि परिष्कृत तो होती नहीं। इसका प्रभाव साहित्य कला और विज्ञान सभी पर पड़ता है। (१६) लेकी और मेन के अनुसार समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धांत ही त्रुटिपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता योग्यता के अनुरूप ही दी जानी चाहिये। साधारण नागरिकों में देश के बड़े प्रश्नों पर विचार करने की योग्यता का सर्वथा अभाव होता है। उनके मत के अनुसार कार्य करना देश को पतन की ओर ले जाना है। (१७) प्रजातन्त्र में उत्तरदायित्व की भावना का एकदम अभाव होता है। जनता के प्रति जिम्मेदारी के अर्थ होते हैं गैर जिम्मेदारी होना। बेईमानी, रिश्वतखोरी बढ़ जाती है और चारों ओर कमजोरी के चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं।

इन दोषों पर विचार करने से पता लगता है कि इनमें से अनेक ऐसे हैं जो सभी प्रणालियों में होते हैं। शेष जो भी हैं वे अशिक्षा,

अज्ञान, उदासीनता को दूर करने और उत्तम नागरिकता की शिक्षा देने से दूर हो सकते हैं। कुछ दोष ऐसे हैं, जो विकेंद्रीकरण (Decentralisation) से दूर हो सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो प्रजातन्त्र-विरोधी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को आम जनता की योग्यता में विश्वास नहीं है और उनकी आम भलाई की चिंता अतएव हम इनको उपेक्षा कर सकते हैं। प्रजातन्त्र के जो दोष दिखाई देते हैं वे आवश्यक सुधार करने से ठीक हो सकते हैं।

प्रजातन्त्र की सफलता की दशायें— आप देख आये हैं कि प्रजातन्त्र 'प्रजा का शासन' है, अतएव इसमें नागरिकों से बहुत आशा की जाती है। उनकी योग्यता तथा चरित्र पर ही प्रजातन्त्र की सफलता निर्भर होती है। यह आवश्यक है कि नागरिक शिक्षित और समझदार हों। उनमें सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि हो और वे अपने उत्तर-दायित्व को भी समझें। वे समझ-सोच कर अपने विचार बनायें और लोकमत के बनने में योग दें. साथ ही उनमें आपसी आदान-प्रदान और मिलकर चलने की प्रवृत्ति हो। (२) प्रजातन्त्र में सबका सामाजिक, राजनीतिक और कानूनी समानता और स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। असमानतायें प्रजातन्त्र की भावनाओं के विरुद्ध होती हैं। किसी वर्ग या समूह को अधिकारों से वंचित रखना आगे चलकर कठिनाई का कारण बन जाता है। जिन्हें दबाया जाता है वे ही समय पाकर उठ खड़े होते हैं और असमानता का अंत करके ही दम लेते हैं। इसके साथ ही यदि नागरिकों के विचार, भाषण तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता न हो तो प्रजातन्त्र के कोई अर्थ नहीं रह जाते। (३) नागरिकों की विचार-धारा में बुनियादी भेद नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो आपस में मतभेद कठिन हो जायेंगे और शांति भंग का खतरा बना रहेगा। [illegible] विघटन नहीं होनी चाहिए।

सब नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की जानी चाहिए। इतिहास साक्षी है कि धन के विषम वितरण होने पर प्रजातन्त्र भी टिक नहीं पाया (५) शासन के प्रत्येक विभाग में विशेषज्ञों (experts) का सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए जिनसे उनके ज्ञान का समाज-हित के लिए उचित उपयोग किया जा सके। (६) लोक हित के लिए दीर्घकालीन योजनायें बनानी चाहिए जिनका उद्देश्य नागरिकों की चहुंमुखी उन्नति हो। बिना इस प्रकार की योजना बनाये विकास की गति मन्दी पड़ जाती है। (७) पर यह तभी सम्भव है जब राज-नीतिक दल सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम को लेकर चलें। वर्ग-संघर्ष और घृणा तथा द्वेष के प्रचार में अपनी शक्ति का अपव्यय न करें। (८) यही नहीं इन दलों का वैधानिक उपायों में विश्वास हो। सैनिकवाद और प्रजातन्त्र दो विरोधी विचार हैं। एक शाँति और विवेक में विश्वास करता है तो दूसरा शक्ति और हिंसा में। ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। (९) प्रजातन्त्र और साम्राज्यवाद भी दो विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। प्रजातन्त्र व्यक्ति की योग्यता मे विश्वास करता है और सबको समान स्वीकार करता है। साम्राज्यवाद ऊंच नीच की भावना पर आधारित है [illegible] साम्राज्यवाद और सैनिकवाद का चोली दामन जैसा साथ [illegible] दोनों ही प्रजातन्त्र से मेल नहीं खाते। (१०) इसके अतिरिक्त देश [illegible] स्थानीय स्वशासन की संस्थायें भी होनी चाहिये जिसमें नागरिकों को प्रजातन्त्रीय शासन की व्यावहारिक शिक्षा मिल सके यह शिक्षा नागरिकों के जीवन में जब घर कर जाती है तो उनका प्रजातन्त्र मे अटल विश्वास हो जाता है।

यहाँ हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि इनके बिना प्रजातन्त्र चल ही नहीं सकता। सत्य तो यह है कि प्रजातन्त्रीय शासन बनाने की [illegible] प्राप्त करने का एकमात्र उपाय उनका अनुभव और जो दोष दिखलाई दें उनका सुधार है। डा० फाइनर

(Dr. H. Finer) के अनुसार प्रजातन्त्र के दोषों को दूर करने का उपाय प्रजातन्त्र का अधिक से अधिक उपयोग है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कुछ देशों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कुछ नई प्रथाओं को उपयोग में लाया जाने लगा है। इनमें से कुछ तो स्विटज़रलैंड में एक अर्से से चली आ रही है और कुछ एक दम नई हैं। (१) **जन-मत-निर्णय** (Referendum) इसके अनुसार धारा-सभा (legislatur) द्वारा पास किये गये प्रस्तावों या कानूनों को उस समय तक लागू नहीं किया जाता जब कि जनता की उस पर राय न ली जाय। यदि मतदाता अपना निर्णय उसके पक्ष में देते हैं तो वह लागू हो जाता है, नहीं तो रद्द समझा जाता है। इस प्रकार की राय कभी कभी तो अनिवार्य रूप से लेनी होती है और 'अनिवार्य जन-मत-निर्णय' कहलाती है और कभी कभी यह सरकार की इच्छा पर अथवा नागरिकों की माँग पर ली जाती है। इस दशा में इसे ऐच्छिक या 'वैकल्पिक जन-मत-निर्णय' कहा जाता है। इस प्रथा द्वारा जनता की राय किसी विषय पर जानी जा सकती है। इस प्रकार जनता के प्रतिनिधि जनहित के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकते। पर इसके कुछ दोष भी हैं। एक तो मत दाताओं में साधारणतया इतनी समझ नहीं होती कि कानूनों के सम्बन्ध में ठीक राय दे सकें। फिर वे उसे केवल स्वीकार या अस्वीकार ही कर सकते हैं। उसमें अपनी ओर से परिवर्तन नहीं सुझा सकते। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली का प्रचलन धारा-सभा की महत्ता को कम कर देता है और उसके सदस्यों में उत्तरदायित्व हीनता ला सकता है। वे यह सोचकर कि अन्तिम निर्णय जनता के ही हाथों में होगा, विशेष ध्यान नहीं देते।

(२) दूसरी प्रथा **सार्वजनिक पहल** (Initiatiue) कहलाती है। यह पहली की पूरक है। पहले उपाय द्वारा यदि नागरिक धारा-सभा के

बुरे कानूनों को लागू होने से रोक सकते हैं तो 'सार्वजनिक पहल' के द्वारा वे धारा सभा को इच्छा के विरुद्ध भी कानून बना सकते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि जनता जिन कानूनों को चाहती है धारा-सभा उन्हें नहीं बनाती। यदि सार्वजनिक पहल की प्रथा प्रचलित हो तो एक निर्दिष्ट संख्या के नागरिक आवेदन-पत्र भेज कर यह मांग कर सकते हैं कि या तो उनका बताया कानून धारा-सभा बना दे या उसे सार्वजनिक निर्णय के लिए प्रचारित किया जाय। इसके उपयोग में अपेक्षाकृत अधिक राजनैतिक योग्यता तथा प्रौढ़ता की आवश्यकता होती है। (३) तीसरी प्रथा वापसी की मांग (Recall) कहलाती हैं। इसके द्वारा निर्दिष्ट संख्या के नागरिक किसी भी निर्वाचित पदाधिकारी की 'वापसी की मांग' कर सकते हैं। निश्चित समय पर मत-दाताओं की राय ली जाती है और जनता की राय उसके विपक्ष में होने पर वह हटा दिया जाता है। यह प्रथा अमेरिका और सोवियट रूस में है किन्तु रूस में इसका उपयोग कभी नहीं हुआ। इसके बारे में साधारणतया यह भय प्रदर्शित किया जाता है कि इसके प्रचलन से सदस्य स्वार्थी किन्तु शक्तिशाली गिरोहों के हाथों के खिलौने बन जायगे और उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। (४) इनके अतिरिक्त जन-मत-गणना (Plebiscite) का भी प्रचलन इन्हीं दिनों काफी हो गया है। यह आम तौर पर 'जन-मत-निर्णय' की तरह होती है। भेद केवल यह है कि इसमें किसी विशेष सार्वजनिक मामले पर जनता की राय ली जाती है और यह राय भविष्य में सरकारी नीति को निर्धारित करने में सहायक होती। है यद्यपि सरकार इसे मानने को बाध्य नहीं होती। इस प्रकार की प्रथा शांतिपूर्ण वातावरण में ही सम्भव हो सकती है। यदि वातावरण द्वेष और हिंसा से परिपूर्ण हो तो इसका उपयोग व्यर्थ है।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की ये संस्थायें उपयोगी अवश्य हैं किन्तु इनका

उपयोग वे ही नागरिक ठीक-ठीक कर सकते हैं जो राजनीतिक रूप से प्रौढ़ता प्राप्त कर चुके हैं। पिछड़े देशों में इनका उपयोग खतरों से खाली नहीं है।

II कुछ नई सरकारें

जैसा कि आप देख आये हैं प्राचीन वर्गीकरण अब व्यर्थ हो गया है। प्रतिनिधि प्रणाली के विकास ने दशा को एक दम बदल दिया है। अतएव पुरानी तरह एक ही आधार पर सरकारों का वर्गीकरण अब काम का नहीं रहा। उसके स्थान पर अब सरकारों को कई आधारों यानी दृष्टिकोणों से देखना होगा। और प्रत्येक के आधार पर उसे अलग अलग वर्गों में रखना होगा।

(१) धार्मिक और लौकिक सरकार—धार्मिक सरकार में जिसे पुरोहित तंत्र भी कहा जाता है उसमें धर्म तथा राजनीति मिली-जुली रहती है और अन्तिम सत्ता धार्मिक अधिकारियों के हाथ में रहती है इसमें शासन धर्मानुकूल चलाया जाता है। इस समय इस प्रकार की सरकार केवल तिब्बत की कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त अधिकतर सरकारें ऐसी मिलेंगी जहा धर्म का राजनीति से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। ऐसी सरकारों को लौकिक (Seeular) कहा जाता है।

(२) निरंकुश और प्रजातन्त्रीय सरकार-(Despotism) सरकार से हमारा अभिप्राय इस प्रकार के शासन से है जहाँ लोगों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। प्रजातन्त्रीय सरकार का अभिप्राय स्पष्ट ही है। इसके अन्तर्गत सीमित राजतन्त्र और जनतन्त्र दोनों ही आ जाते हैं।

(३) वैधानिक और अवैधानिक सरकार—वैधानिक (Constitutionial) सरकार में शासन निश्चित सिद्धान्तों तथा

नियमों के अनुसार होता है। लोगों की मनमानी नहीं चल सकती; आधुनिक समय की वैधानिक सरकारें प्रायः प्रजातन्त्रीय भी होती है। पर इसके अर्थ यह नहीं हैं कि सभी सरकारें जिनका शासन-विधान हो प्रजातन्त्रीय ही हों। युद्ध के पूर्व की इटली की सरकार वैधानिक तो थी पर निरंकुश थी। अवैधानिक (Unconstitutionial) सरकार से हमारा अर्थ यह है कि उसमें व्यक्ति या व्यक्तियों का राज्य होता है। वहां नियमों या कानूनों की चिन्ता नहीं की जाती। राज्य सत्ताधारी के शब्द ही वहां कानून होते हैं।

(४) कैबीनेट और अध्यक्षात्मक सरकार—कैबीनेट या पार्लियामेण्टरी सरकार में वास्तविक शक्ति कैबीनेट के पास होती है। जो धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त एक दिखावे का प्रधान भी होता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक या प्रैसीडैन्सियल सरकार में असली शक्ति एक निर्वाचित प्रेसीडैण्ट के हाथों में रहती है।

(५) एकात्मक और संघात्मक सरकार—एकात्मक (Unitary) सरकार में समस्त शक्ति एक केन्द्रीय सरकार में निहित होती है। अन्य सरकारें उसके अधीन होती हैं। संघात्मक या संघीय (federal) सरकार में दो प्रकार की सरकारें होती हैं—एक तो इकाइयों (units) की और दूसरी राष्ट्रीय (natioial) इन दोनों में कोई भी किसी के आधीन नहीं होती। दोनों को सत्ता का स्रोत एक ही होती होता है और दोनों की अधिकार-सीमा भी पृथक और निश्चित होती है।

निरंकुश सरकारें—निरंकुश सरकार कई प्रकार की हो सकती है (१) सबसे साधारण उदाहरण तो 'अपरिमित राजतन्त्र' Absolute Monarchy) का है। पर कुछ पिछड़े देशों को छोड़ कर अब यह लुप्त होता जा रहा है। इसके बाद 'डिक्टेटरशाही' (Dictator

ship) का नाम आता है। पर पुरानी और नई डिक्टेटरशाही में एक बुनियादी भेद है। पहले डिक्टेटरशाही में एक व्यक्ति का एकछत्र राज्य होता था जो तलवार के बल पर शासन करता था। नेपोलियन इसी प्रकार का डिक्टेटर था। आधुनिक काल में डिक्टेटरशाही एक व्यक्ति की न होकर दल या वर्ग की होती है। प्रायः इस पार्टी का एक नया दृष्टिकोण अथवा आदर्श होता है और यह देश को फिर एक बार महान और दृढ़ बनाने का वायदा करती है। इटली, जर्मनी, स्पेन और रूस की अधिनायकशाही इसी प्रकार की है। इसकी एक विशेष पहिचान यह है कि प्रभुता प्राप्त दल अन्य किसी भी दल को रहने या बनने नहीं देता। प्रारम्भ में तुर्की में भी इसी तरह का शासन था पर अब वहाँ धीरे धीरे प्रजातन्त्र की स्थापना की जा रही है। इनके अतिरिक्त नौकरशाही (Bureaucracy) की चर्चा भी कर देना ठीक होगा। अंग्रेजी शब्द का शाब्दिक अर्थ है : विभागों द्वारा शासन। इन विभागों के प्रधान तथा निम्न कर्मचारी शासन-कार्य के लिए नियुक्त किए जाते हैं। ऊपर से नीचे तक सभी कार्य इसी प्रकार के व्यक्ति करते हैं, या तो जनता का कोई अधिकार प्राप्त ही नहीं होते और यदि होते भी हैं तो नाम मात्र को। इस प्रकार के कर्मचारी ही कानून बनाते, न्याय करते तथा शासन करते हैं। इन कर्मचारियों को विशेषाधिकार और विशेष सुविधाएं मिली रहती हैं। इसीलिए इस प्रकार के शासन को नौकरशाही कहा गया है। इस प्रकार की सरकार कुछ दिनों पूर्व हिन्दुस्तान में थी। पराधीन देशों में विजयी देश प्रायः इसी प्रकार शासन करते हैं।

इस प्रकार का शासन कम से कम खर्च में शाँति तथा व्यवस्था रखते हुए विजयी देश का लाभ भी करता है। किन्तु यह प्रतिगामी और अनुदार होता है। नौकरशाही पुरानी रफ्तार पसन्द करती है

और कम से कम परिवर्तन चाहती है। यह जनता की आवश्यकता के प्रति उदासीन होती है। इसमें काम के होने में भी बहुत देर लगती है। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारी अपने को जन-सेवक न समझ कर उन्हें अपने आधीन समझने लगते हैं और उनके साथ सौजन्यता पूर्ण व्यवहार तक नहीं करते। इस प्रकार नौकरशाही लोग विजयी देश का हित तो कर सकते है पर वह विजित जनता की उन्नति नहीं कर सकते। भारतवर्ष में भी उन्नति तभी सम्भव हो सकी जब जनता को अधिकार मिल गये।

कैबीनेट या उत्तरदायी सरकार— जैसा हम कह आये हैं इसमें एक तो दिखावे भर का प्रधान होता है—चाहे वह राजा हो या प्रैसीडेण्ड अथवा गवर्नर जनरल और वास्तविक सत्ता एक कैबीनेट के पास रहती है जो धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। कैबीनेट तभी तक देश का शासन करती है जब तक धारा सभा का उसमें विश्वास रहे। कैबीनैट को प्रायः धारा-सभा के बहुमत वाली पार्टी या पार्टियाँ बनाती हैं और उनका नेता ही प्रधान मन्त्री होता है। प्रधान मन्त्री अपने समर्थकों में से अपने अन्य सहयोगी चुन लेता है। ये मन्त्री प्रायः धारा सभा के सदस्य होते हैं और सम्मिलित रूप से शासन कार्य चलाते हैं। मन्त्रि मण्डल सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार की प्रणाली ब्रिटेन, फ्रांस, ब्रिटिश डोमीनियों आदि में पाई जाती है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि कैबीनेट और धारा-सभा में अत्यन्त निकट सम्पर्क रहता है। कैबीनेट का रूप पूर्णतया धारा-सभा की बनावट पर निर्भर रहता है। अतः इन दोनों में विरोध रह ही नहीं सकता। सब ही मन्त्री धारा सभाकी कार्यवाही में भाग लेते हैं और उसकी स्वीकृति लेते हैं (२) मन्त्रिमण्डल धारा-सभा के द्वारा लोक मत के प्रति उत्तरदायी होता है। वह लोकमत

ship) का नाम आता है। पर पुरानी और नई डिक्टेटरशाही में एक बुनियादी भेद है। पहले डिक्टेटरशाही में एक व्यक्ति का एकछत्र राज्य होता था जो तलवार के बल पर शासन करता था। नेपोलियन इसी प्रकार का डिक्टेटर था। आधुनिक काल में डिक्टेटरशाही एक व्यक्ति की न होकर दल या वर्ग की होती है। प्रायः इस पार्टी का एक नया दृष्टिकोण अथवा आदर्श होता है और यह देश को फिर एक बार महान और दृढ़ बनाने का वायदा करती है। इटली, जर्मनी, स्पेन और रूस की अधिनायकशाही इसी प्रकार की है। इसकी एक विशेष पहिचान यह है कि प्रभुता प्राप्त दल अन्य किसी भी दल को रहने या बनने नहीं देता। प्रारम्भ में तुर्की में भी इसी तरह का शासन था पर अब वहाँ धीरे धीरे प्रजातन्त्र की स्थापना की जा रही है। इनके अतिरिक्त नौकरशाही (Bureaucracy) की चर्चा भी कर देना ठीक होगा। अंग्रेजी शब्द का शाब्दिक अर्थ है : विभागों द्वारा शासन। इन विभागों के प्रधान तथा निम्न कर्मचारी शासन-कार्य के लिए नियुक्त किए जाते हैं। ऊपर से नीचे तक सभी कार्य इसी प्रकार के व्यक्ति करते हैं, या तो जनता का कोई अधिकार प्राप्त ही नहीं होते और यदि होते भी हैं तो नाम मात्र का। इस प्रकार के कर्मचारी ही कानून बनाते, न्याय करते तथा शासन करते हैं। इन कर्मचारियों को विशेषाधिकार और विशेष सुविधाएं मिली रहती हैं। इसीलिए इस प्रकार के शासन को नौकरशाही कहा गया है। इस प्रकार की सरकार कुछ दिनों पूर्व हिन्दुस्तान में थी। पराधीन देशों में विजयी देश प्रायः इसी प्रकार शासन करते हैं।

इस प्रकार का शासन कम से कम खर्च में शाँति तथा व्यवस्था रखते हुए विजयी देश का लाभ भी करता है। किन्तु यह प्रतिगामी और अनुदार होता है। नौकरशाही पुरानी रफ्तार पसन्द करती है

और कम से कम परिवर्तन चाहती है। यह जनता की आवश्यकता के प्रति उदासीन होती है। इसमें काम के होने में भी बहुत देर लगती है। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारी अपने को जन-सेवक न समझ कर उन्हें अपने आधीन समझने लगते हैं और उनके साथ सौजन्यता पूर्ण व्यवहार तक नहीं करते। इस प्रकार तोकरशाही लोग विजयी देश का हित तो कर सकते है पर वह विजित जनता की उन्नति नहीं कर सकते। भारतवर्ष में भी उन्नति तभी सम्भव हो सकी जब जनता को अधिकार मिल गये।

कैबीनेट या उत्तरदायी सरकार— जैसा हम कह आये हैं इसमें एक तो दिखावे भर का प्रधान होता है—चाहे वह राजा हो या प्रैसीडेण्ड अथवा गवर्नर जनरल और वास्तविक सत्ता एक कैबीनेट के पास रहती है जो धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। कैबीनेट तभी एक देश का शासन करती है जब तक धारा सभा का उसमें विश्वास रहे। कैबीनेट को प्रायः धारा-सभा के बहुमत वाली पार्टी या पार्टियाँ बनाती हैं और उनका नेता ही प्रधान मन्त्री होता है। प्रधान मन्त्री अपने समर्थकों में से अपने अन्य सहयोगी चुन लेता है। ये मन्त्री प्रायः धारा सभा के सदस्य होते हैं और सम्मिलित रूप से शासन कार्य चलाते हैं। मन्त्रि मण्डल सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार की प्रणाली ब्रिटेन, फ्राँस, ब्रिटिश डोमीनियों आदि में पाई जाती है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि कैबीनेट और धारा-सभा में अत्यन्त निकट सम्पर्क रहता है। कैबीनेट का रूप पूर्णतया धारा-सभा की बनावट पर निर्भर रहता है। अतः इन दोनों में विरोध रह ही नहीं सकता। सब ही मन्त्री धारा सभाकी कार्यवाही में भाग लेते हैं और उसकी स्वीकृति लेते हैं (२) मन्त्रिमण्डल धारा-सभा के द्वारा लोक मत के प्रति उत्तरदायी होता है। वह लोकमत

क. अवहेलना करके अधिक दिनों नहीं चल सकता। (३) यह प्रणाली बड़ी लचीली (flexible) होती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यह आवश्यकतानुसार शीघ्रता से काम कर सकती है और लोक मत का इस पर सीधा प्रभाव पड़ता है। (४) इसमें उत्तरदायित्व एक स्थान पर केंद्रित होता है और अच्छे या बुरे कामों की राजनीतिक जिम्मेदारी स्पष्ट होती है। (५) इसके संगठन में एकता होती है। कैबीनेट धारा सभा का नेतृत्व करती है और प्रधान-मन्त्री मन्त्रि-मण्डल का। इस प्रकार कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। (६) इसमें सभी मन्त्रियों की सम्मिलित जिम्मेदारी होती है। साधारणतया एक मन्त्री के कार्यों के लिए सभी उत्तरदायी ठहराये जाते हैं। यद्यपि विशेष परिस्थितियों में मन्त्री को व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहरा कर उसे पृथक किया जा सकता है। यदि कोई मन्त्री मन्त्रि-मण्डल की नीति से सहमत न हो तो वह भी त्याग-पत्र दे सकता है। (७) इस प्रणाली में एक विरोधी दल भी रहता है जो अपनी आलोचना और रचनात्मक सुझावों से जनता की सेवा करने का प्रयत्न करता है

इस प्रणाली के कुछ दोष भी होते हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार यह शासन प्रणाली दलबन्दी के आधार पर बनी होती है। यही नहीं यह प्रणाली दलबन्दी की भावना को बराबर उत्तेजित करती है। (२) आपद काल में इसके दोष स्पष्ट हो जाते हैं। जब जनता को एक होकर काम करना चाहिए। तब भी इसमें आपसी झगड़े चलते रहते हैं। (३) इसमें सरकारें जल्दी बदलती रहती हैं। अतएव कोई दीर्घकालीन योजना बनाकर उस पर चलना कठिन हो जाता है। [४] यह शक्ति के विभाजन के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इसमें सत्ता केबीनेट के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और धारा सभा का महत्व बहुत कम हो जाता है। (५) विरोधी दलों में चाहे कितने योग्य

व्यक्ति क्यों न हों सरकार में उन्हें कोई स्थान नहीं मिल सकता। इतना होने पर भी इसका प्रचार दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

अध्यक्षात्मक अथवा अनुत्तरदायी शासन—इसमें शासन-सत्ता एक चुने हुये पदाधिकारी या अध्यक्ष के पास रहती है। यह सत्ता एक निश्चित समय के लिए होती है और इस बीच में अध्यक्ष अपने कार्यों के लिए किसी भी प्रकार धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसका अपना एक मन्त्रि-मण्डल हो सकता है। पर उसकी नियुक्ति वह स्वयं करता है और वह पूर्णतया उसी के आधीन होता है। वह जब चाहे पुराने मन्त्री यानी परामर्शदाताओं को हटा कर नई नियुक्तियाँ कर सकता है। ये मन्त्री भी अध्यक्ष के अतिरिक्त किसी के प्रति किसी काम के लिए उत्तरदायी नहीं होते। यह प्रणाली संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में विशेष सफल हुई है।

इस प्रणाली के कई लाभ हैं। (१) इसमें एक निश्चित अवधि के लिए प्रेसीडेण्ट को रोजाना के काम में पूरी स्वतन्त्रता मिल जाती है। इसके लिए उसे धारा-सभा के बहुमत की कृपा पर निर्भर रहना नहीं पड़ता। (२) निश्चित कार्य-काल और अधिकार होने के कारण प्रेसीडेण्ट को इस बात की सुविधा रहती है कि वह अपनी नीति को कार्यरूप में परिणित कर सके। इस पर शासन में दृढ़ता आती है। (३) यह प्रणाली मुख्यतया ऐसे राज्यों के उपयुक्त होती है जहाँ पृथक नस्लें, और संस्कृति वाले सम्प्रदाय होते हैं। वहाँ प्रेसीडेण्ट को राज्य का अध्यक्ष माना जाता है। यद्यपि यह दल के आधार पर चुना जाता है, चुने जाने पर उसे दलों के ऊपर का व्यक्ति माना जाता है और सभी नागरिक आशा भरी दृष्टि से उसके कार्यों को देखते हैं।

जैसा कि डायसी (Diery) ने कहा है इसके गुण दोष उत्तरदायी शासन से ठीक उलटे हैं (१) इसमें धारा-सभा तथा प्रेसीडेण्ट

में मतभेद और गति-अवरोध का सदैव डर बना रहता है। (२) प्रेसीडेण्ट यदि गड़बड़ काम करे तो उसे रोकने का कोई साधन नहीं है। बुरे से बुरा अध्यक्ष भी अपने कार्यकाल में कुछ भी करने को स्वतन्त्र है। इस प्रकार इसमें एक व्यक्ति पर बहुत भरोसा कर लिया जाता है जो ठीक भी निकल सकता है और गलत भी। (३) प्रेसीडेण्ट कानून बनाने के सम्बन्ध में धारा-सभा का नेतृत्व नहीं करता। वह सन्देश भेज सकता है पर धारा सभा उस पर कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होती है। (४) इसमें अच्छे या बुरे कानूनों की जिम्मेदारी किसी पर नहीं डाली जा सकती क्यों कि यह बंटी रहती है। (५) इसमें चुनावों के समय बहुत उत्तेजना रहती है और विद्रोह तथा अशांति का भय भी बना रहता है। उत्तरदायी शासन में यह दोष नहीं होते।

एकात्मक सरकार—इसमें एक सर्वोच्च सरकार होती है। अन्य सरकारें या तो होती नहीं अथवा वे पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के ही आधीन होती हैं। इन आधीन सरकारों की शक्ति केन्द्रीय सरकार जब चाहे तब घटा, बढ़ाकर जब्त कर सकती है। इस प्रकार की एकात्मक [unitary] सरकार बहुत मज़बूत होती है। उसमें सभी महत्वपूर्ण विषयों में देश भर के कानून एक होते हैं। इसमें कार्य-क्षेत्र [Jurisdiction] के बटवारे का कोई झगड़ा नहीं होता। इसका संगठन सीधा-सादा होता है। इसमें खर्च भी कम पड़ता है और कार्य में दक्षता भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में इतना लचीला पन रहता है कि यह आवश्यकतानुसार कार्य करने को तत्पर रहती है।

एकात्मक सरकार के अवगुणों को भी जान लेना चाहिए। इसमें केन्द्रीय सरकार का काम बहुत भारी हो जाता है। क्यों कि सरकार को सभी काम करने होते हैं। इसलिए कुछ भी ठीक नहीं

हो पाता। या तो काम होता ही नहीं या फिर धीरे धीरे होता है। यही नहीं इसमें स्थानीय आवश्यकताओं पर पूरा ध्यान देना सम्भव नहीं हो पाता। इसमें स्थानीय प्रतिभा का भी सदुपयोग नहीं हो पाता और जन-साधारण को मत देने के अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यों में और दिलचस्पी नहीं रहती।

संघीय सरकार—संघीय सरकार में सत्ता केन्द्रित न होकर बंट जाती है। इसमें कुछ अधिकार तो एक केन्द्रीय सरकार को मिल जाते हैं और कुछ अधिकार इकाइयों [units] की सरकारों के पास रहते हैं। इनमें से कोई सरकार किसी के आधीन नहीं होती। दोनों ही अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में सर्वोच्च होते हैं। दोनों को एक लिखित शासन-विधान [Constitletion] से सत्ता मिलती है और उसी के अनुसार दोनों को चलना होता है। इसमें नागरिक को दो नागरिकता प्राप्त होती हैं : एक तो संघ की और दूसरी संघ की इकाई की।

इस प्रकार की सरकार प्रायः सैनिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों से बनाई जाती है। इसमें रक्षा का भार केन्द्रीय सरकार पर आ जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश को सम्मान प्राप्त होता है इसका आर्थिक महत्व भी कुछ कम नहीं है और कभी केवल सांस्कृतिक एकता बनाये रखने के लिए एकात्मक सरकार के स्थान पर संघात्मक सरकार को बनाना होता है। संघ सरकार के बनने के लिए आवश्यक बातें हैं। (१) कई प्रादेशिक सम्प्रदायों की उपस्थिति, (२) उनका मिला हुआ क्षेत्र यानी निकटता। (३) सम्प्रदायों में किसी न किसी अंश तक एक सामान्य भावना का विकास, और (४) उनमें सम्मिलित रहने की इच्छा (एकता की नहीं) इन चारों बातों के रहने पर संघात्मक सरकार का जन्म हो सकता है। संघ प्रायः दो प्रकार से बनते हैं। कई राज्यों के एक

संघ बना लेने से (Integration) अथवा एकात्मक राज्य में विकेन्द्रीकरण करके इकाइयों को खुदमुख्तार बनाने और एक संघ सरकार बनाने से (Disintegration) इसमें पहला ढंग अधिक प्रचलित है पर भारतवर्ष में दूसरा ढंग काम में लाया गया है।

संघीय सरकार में प्रायः यह बातें आवश्यक रूप से पाई जाती हैं। दो प्रकार की सरकारों का साथ-साथ होना। (२) इन दोनों ही प्रकार की सरकारों के बीच अधिकारों का एकनिश्चित विभाजन। प्रायः राष्ट्रीय हित के मामले संघ सरकार के सुपुर्द कर दिये जाते हैं। और स्थानीय विषय संघ की इकाइयों को सौंप दिये जाते हैं। कभी २ एक 'सम्मिलित सूची' (Concurrent List) भी होती है। ऐसे विषयों में संघ के कानूनों को प्रधानता दी जाती है। ऐसे अधिकार जो इस विभाजन से बचे रहते हैं शेषाधिकार(Residuary Pawsrs कहा जाता है। यदि ये शेषाधिकार संघ के पास रहते है तो उसे 'केन्द्र प्रमुख' (Centripatal) संघ सरकार कहते है और इनके इकाइयों के पास रहने पर उसे 'इकाई-प्रमुख' (Centrifugal) संघ सरकार कहा जाता है। ये दोनों ही सरकारें अपने अपने सीमा क्षेत्र में सर्वोपरि (Supreme) होता हैं। (३) भविष्य में संघर्ष तथा मतभेद से बचने के लिए अधिकारों के इस विभाजन को एक लिखित रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार राज्य-व्यवस्था लिखित होती है। प्रायः उसे कठोर (rigid) भी रक्खा जाता है जिससे इस विभाजन में सरलता से परिवर्तन न किये जा सके और दोनों सरकारों के अधिकार सुरक्षित रहें। यह व्यवस्था देश का बुनियादी कानून होता है और इसे सर्वोपरि माना जाता है। (४) इसमें अतिरिक्त एक सर्वोच्च न्यायालय का काम शासन विधान का रक्षा करना और उसकी व्याख्या करना होता है। (५) संघीय सरकार एक संघात्मक सरकार होती है। इसमें केन्द्रीय और इकाइयों की सरकारों के ही नहीं वरन

सरकार के विभिन्न अंगों के कार्यों तथा अधिकारों का भी स्पष्ट उल्लेख होता है। साथ ही नागरिकों के अधिकारों की भी घोषणा प्रायः सभी नये शासन विधानों में रहती है। (६) इनके अतिरिक्त प्रायः निम्न बातों की विशेष व्यवस्था होती है। संघीय धारा सभा में इकाइयों का प्रतिनिधित्व, राजस्व के सम्बन्ध में समझौता, इकाइयों को शासन प्रणाली के सम्बन्ध में निर्देश, विधान को परिवर्तन करने का तरीका और इकाइयों के संघ से पृथक होने या न हो सकने के सम्बन्ध में घोषणा।

संघीय सरकार के अनेक गुण हैं और इसी कारण दिन पर दिन यह अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। (१) इसमें एकता और स्वशासन दोनों के लाभ रहते हैं। पूरे देश की अपनी एक सरकार होती है जो महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में अधिकार रखती हैं और साथ ही इकाईयों को अपना खुदमुख्तार शासन भी होता है। (२) इसमें केन्द्रीकरण की कठिनाइयों से छुटकारा मिल जाता है। केन्द्र को बहुत से कामों से छुट्टी मिल जाती है अतः वह कुशलतापूर्वक अन्य काम कर सकती है। (३) इसमें उचित श्रम-विभाजन रहता है। राष्ट्रीय विषय राष्ट्रीय सरकार के हाथों में और और स्थानीय विषय इकाइयों के पास रहते हैं। (४) इसमें स्थानीय प्रतिभा का ठीक से सदुपयोग हो जाता है। अतएव सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी बढ़ती है और नागरिक चेतना भी [illegible] रहती है। (५) संघीय सरकार ने एक बड़े पैमाने पर प्र[illegible] शासन को सम्भव बना दिया है। दूर दूर रहने वाले नागरिक [illegible] सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकते हैं और स्थानीय विषयों में दिलचस्पी दिखा सकते हैं। (६) यह बड़े २ प्रदेशों के लिए भी जिनमें [illegible] दूरियें एक सी नहीं होतीं, बहुत अच्छा रहता है। इन [illegible] देशों में एकात्मक सरकार ठीक काम नहीं कर सकती। क्योंकि उसको स्थानीय

आवश्यकतायें एक दूसरे से भिन्न होती हैं। संघीय सरकार में इकाइयों के शासन और कानूनों में तरह तरह के प्रयोग कर उनकी उपयोगिता देखी जा सकती है। (७) इसमें इकाईयों की सरकारों को भी अपनी कार्य सीमा में सर्वोपरि अधिकार रहते हैं। अतः एक केन्द्रीय निरंकुश शासन आसानीसे कायम नहीं किया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय भी इस दिशा में कुछ रक्षा करता है। (८) सामूहिक रक्षा, आर्थिक उन्नति, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और सम्मान की दृष्टि से संघीय सरकार बनाने से बहुत लाभ रहता है। पृथक रहने से ये लाभ कभी प्राप्त नहीं किये जा सकते। (९) इस प्रणाली से लोगों में आशा का बहुत सञ्चार हुआ है और विचारक उस दिन का स्वप्न देखने लगे हैं जब सभी राज्य एक विश्व संघ में सम्मिलित हो जायेंगे।

संघीय सरकार के कुछ दोष भी बताये जाते हैं (१) इसमें राष्ट्रीय सरकारों और इकाइयों की सरकारों में प्रायः मतभेद और झगड़े होते रहते हैं। (२) यह गृह और विदेशी मामलों में बहुत निर्बल होती है। कारण यह कि राष्ट्रीय सरकार के अधिकार सीमित रहते हैं। एक ही राज्य में कानूनों में महान अन्तर पड़ जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में तलाक, कानूनों की भिन्नता के कारण कभी कभी ऐसा होता है कि एक इकाई में तलाक दे देने पर दूसरी इकाई इस सम्बन्ध विच्छेद को स्वीकार नहीं करती। (३) इसका संगठन बहुत जटिल होता है और इसकी कार्यविधियों को समझना बहुत कठिन हो जाता है। (४) कठोर और लिखित शासन विधान होने से इसमें सरलता से परिवर्तन सम्भव नहीं होते। इसमें सरकारी मशीनरी दोहरी होती है, अतः व्यय भी बहुत बढ़ जाता है। (५) इसमें यदि एक इकाई बड़ी हो तो वह अन्य इकाइयों पर हानि पहुंचाने का प्रयत्न करती है। विद्रोह होने अथवा पृथक हो जाने से इसके भंग होने का भय बराबर लगा रहता है।

इन तथाकथित दोषों के बावजूद भी संघीय सरकारें दिन पर दिन बढ़ रही हैं और ऐसा लगता है कि मानवता का भला एक विश्व संघ (World Federation) में है। पर इस के कोई आसार अभी दिखलाई नहीं देते।

राज्यों का संघ या कॉनफैडरेशन—कॉनफैडरेशन राज्यों के ढीले-ढाले संघ को कहते हैं। साधारण संघ और राज्यों के संघ में बहुत अन्तर है। (१) इसकी इकाइयाँ पूर्ण राज्य (Sovereign States) होते हैं। संघ बनाने से वे अपना पृथक अस्तित्व नहीं खो देते। (२) कॉनफैडरेशन एक स्थायी संघ नहीं होता। इसके सदस्य राज्य जब भी चाहें इस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं। (३) राज्यों का संघ न तो स्वयं एक राज्य होता है और न इसकी अपनी कोई ऐसी सरकार होती है जो सीधे राज्यों पर शासन कर सके। (४) संघों के समान कॉनफैडरेशन में राज्यों के नागरिकों को कॉनफैडरेशन की कोई समान नागरिकता नहीं होती और न उनके साथ कॉनफैडरेशन का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है। (५) कॉनफैडरेशन के प्रस्ताव स्वयं उसके सदस्य-राज्यों पर लागू नहीं हो जाते यदि सदस्य-राज्य चाहें तो उन्हें अपनी इच्छा से अपने प्रदेश में लागू कर सकते हैं। (६) कॉनफैडरेशन नागरिकों पर सीधे कर नहीं लगा सकती। राज्यों की सहायता से इसका खर्च चलता है। (७) उसके सदस्यों में यदि युद्ध हो जाये तो वह गृह-युद्ध न होकर आन्तर्राष्ट्रीय युद्ध कहलाता है। (८) कॉनफैडरेशन प्रायः फैडरेशन की प्रथम सीढ़ी होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और स्विटज़रलैण्ड में ऐसा ही हुआ था। पर ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। पुराना राष्ट्र-संघ (League of Nations) और नया संयुक्त राष्ट्रीय संघ (U. N. O.) इसी प्रकार के 'राज्यों के संघ' हैं।

अच्छी सरकार की कसौटी—आपने ऊपर भिन्न-भिन्न शासन

प्रणालियों के गुणों और दोषों को देखा। आपने देखा कि धार्मिक (Theocratic) और अवैधानिक (unconstitutional) सरकारों का समय अब नहीं रहा। निरंकुश (Despotic) शासनों को भी अब बुरी दृष्टि से देखा जाता है यद्यपि कुछ विद्वान पिछड़े देशों के लिये इन्हें उपयुक्त समझते हैं। समय अब प्रजातन्त्रीय और वैधानिक सरकारों का है फिर चाहें वे एकात्मक हों या संघात्मक, उत्तरदायी हों या अध्यक्षात्मक, सीमित राजतन्त्र हों या जनतन्त्र। यह तो केवल परम्परा, उपयोगिता और सुविधा के प्रश्न हैं कि इनमें कौन देश किन्हें पसन्द करता है। अतएव सब देशों के लिये किसी समान आदर्श को नहीं बतलाया जा सकता। मुख्य बात यह है कि शासन-प्रणाली ऐसी हो जो राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति करने में समर्थ हो सके और व्यक्ति, समाज तथा मानवता की प्रगति में सहायक हो।

——००——

तेरहवाँ अध्याय

शासन-विधान

शासन-विधान विकसित होते हैं, वे बनाये नहीं जाते····· और किसी भी शासन-विधान को अन्तिम या अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता।

— गैटिल

प्रायः सभी आधुनिक राज्यों में अब एक निश्चित राज्य-व्यवस्था होती है। कुछ अत्यन्त पिछड़े देशों को छोड़ कर शेष में शासन अब मनमाने ढंग पर न किया जाकर कुछ नियमों तथा सिद्धान्तों के आधार पर होता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं : (१) अब व्यक्तिगत शासन का समय लद चुका। यह युग प्रजातन्त्रवाद का है। अतएव लोगों की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि उनके अधिकारों, कर्तव्यों तथा राज्य के संगठन के सम्बन्ध में एक स्पष्ट विधान रहे। (२) राज्य का संगठन भी अब बहुत जटिल हो गया है। अतएव उसके विभिन्न अंगों के निर्माण तथा कार्यों का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है जिससे बाद में कोई भ्रम या मतभेद उत्पन्न न हो। इन कारणों के फलस्वरूप अब सभी देशों का अपना निश्चित शासन-विधान (Constitution) होता है। जैलीनिक के अनुसार इसके बिना एक आधुनिक राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

पर इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये कि जहाँ शासन-विधान हो वहां राज्य का रहना भी अनिवार्य है। भारतवर्ष में एक लम्बे अर्से से शासन-विधान रहा है। पर वह राज्य न था। इसके अर्थ यह भी नहीं हैं कि जहां शासन-विधान हो वहां प्रजातन्त्रीय सरकार

भी होगा। विलगबी के अनुसार हिटलर और मुसोलिनी की सरकारें वैधानिक तो थी पर वे प्रजातन्त्रीय न थी+। भारतवर्ष की सरकारें भी वैधानिक होते हुए भी प्रजातन्त्रीय नहीं रहीं। अतः वैधानिक सरकार और प्रजातन्त्रीय सरकार एक बात नहीं हैं।

शासन-विधान का अर्थ—विद्वानों ने शासन विधान की अपनी अपनी परिभाषायें दी है। यहां हम उनकी व्याख्यायें न देकर केवल यह कहेंगे कि शासन विधान उन लिखित अथवा अलिखित नियमों या कानूनों के समूह को कहते हैं जो सरकार के संगठन, सरकार के विभिन्न अंगों में अधिकारों के वितरण और उन व्यापक सिद्धान्तों को निर्धारित करता है जिनके अनुसार ये अधिकार प्रयोग में लाये जाते हैं। प्रो० गिलक्राइस्ट की इस परिभाषा में नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों और सरकार और नागरिकों के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। डा० स्ट्रोंग (Strong) ने कहा है कि यह उन सिद्धान्तों का समूह है जिनके अनुसार सरकार के अधिकारों, नागरिकों के अधिकारों और दोनों के सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। प्रोफेसर गार्नर ने शासन विधान की तीन प्रमुख बातें बतलाई हैं और उन्हें क्रमशः राज्य का, सरकार और राज्यसत्ता के शासन विधान कहा है। पहले भाग में नागरिकों के बुनियादी सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों का उल्लेख और उनके कर्तव्यों का वर्णन रहता है। साथ ही सरकारी सत्ता को इस प्रकार सीमित कर दिया जाता है कि नागरिक अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें। दूसरे में, सरकार के संगठन उसके विभिन्न अंगों के अधिकार, शासन के सम्बन्ध में नियम और सिद्धांत और साथ ही मतदाताओं का उल्लेख होता है। तीसरे में यह बतलाया जाता है कि शासनविधान में किस प्रकार परिवर्तन किये जा सकते हैं।

+देखिये W. F. Willougwoy, The Government of Modern States, p-90.

शासन-विधानों का उदय—आधुनिक लिखित शासन-विधानों की शुरूआत उन समझौतों से होती हैं जो उपनिवेशों में बसने वाले व्यक्तियों ने आपस में किये। इसके पश्चात उन चार्टरों का नाम आता है जो साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों को दिये। किन्तु सर्व प्रथम लिखित शासन-विधान सन १७७६ ई० का अमेरिका के कानफैडरेशन का ही था। उसके पश्चात यह सिलसिला चलता ही रहा और अब ब्रिटेन को छोड़ शेष सभी आधुनिक राज्यों के लिखित विधान हैं।

नये शासन-विधान कई प्रकार से बने हैं। कुछ तो साम्राज्यवादी देश ने अपनी इच्छा से दिया। ऐसा अधिकतर उपनिवेशों में हुआ। कुछ देशों में जनता के आन्दोलन ने राजा को शासन-विधान देने के लिए विवश कर दिया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रूस में यही हुआ। कुछ में वे क्रान्ति के पश्चात या किसी भी प्रकार स्वतन्त्र हो जाने पर विधान-परिषदों (Constituent Assembly) द्वारा बनाये गये। कुछ में साधारण असेम्बलियों अथवा विशेष कन्वेशनों ने उनका निर्माण किया।

शासन-विधानों का वर्गीकरण—इनके वर्गीकरण का कोई एक आधार न होकर कई आधार हैं। इनमें यह मुख्य हैं : (१) विकसित और निर्मित, (२) लिखित और अलिखित, (३) कठोर और लचीला तथा (४) एकात्मक और संघात्मक। इसमें पिछले पर आप शासन-प्रणालियों को देखते समय विचार कर चुके हैं।

विकसित और निर्मित—विकसित (Evolved) शासन-विधान से हमारा अभिप्राय उनसे है जो धीरे-धीरे जन्मते और विकसित होते रहते हैं। वे क्रमिक विकास के फल होते हैं। वे कभी एक समय बैठ कर नहीं बनाये गये होते। अतएव प्रथाओं को इनमें विशेष स्थान और महत्व प्राप्त होता है। ब्रिटेन का शासन-विधान

इसी प्रकार का है। इसका एक बड़ा लाभ यह है कि यह अत्यन्त लचीला होता है और आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। इसके विपरीत निर्मित (Enacted) शासन-विधान एक समय-विशेष पर सोच-समझ कर बनाये गये होते हैं। स्वाभावतः निर्मित विधान लिखित भी होते हैं।

कोई विधान पूर्णतया निर्मित अथवा विकसित नहीं होता। प्रत्येक निर्मित विधान में धीरे-धीरे विकास होते रहते हैं और विकसित विधानों में भी कुछ न कुछ निर्मित अंश भी रहता है। फिर यह वर्गीकरण विधान के रूप पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालता।

लिखित और अलिखित—लिखित (Written) विधान वह है जिसकी लगभग सभी बातें लिखी हुई हों। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, फ्रांस वगैरः के विधान ऐसे ही हैं। लिखित विधान प्रायः एक समय बनाया गया होता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं। फ्रान्स के तृतीय प्रजातन्त्र का विधान अलग-अलग तीन कानूनों के रूप में था। लिखित विधानों का विशेष रूप से आदर की दृष्टि से देखा जाता है और उसे सर्वोपरि कानूनी पद प्राप्त होता है। वह अन्य कानूनों से पृथक होता है। उसका स्त्रोत्र प्रायः भिन्न होता है और परिवर्तन करने का ढँग भी विशेष प्रकार का होता है। लिखे होने के कारण यह निश्चित और स्पष्ट होता है। अतः यह नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा का समर्थक रहता है। यही नहीं इसमें स्थायित्व भी अधिक रहता है। पर लिखित होने से बहुत शीघ्र यह अनुदार हो जाता है और यदि लिखित होने के साथ ही विधान कठोर भी हो तो परिवर्तन सरलता से सम्भव नहीं हो पाते। इसका परिणाम यह होता है कि उनका आमूल चूल परिवर्तन करना पड़ता है।

अलिखित (Unwritten) शासन-विधान उसे कहते हैं जिसका अधिकांश भाग लिखा हुआ नहीं होता इस प्रकार का विधान प्रायः

विकसित भी होता है । ब्रिटेन का शासन-विधान इसका अनुपम उदाहरण है । यह बहुत लचीला होता है और इसे आवश्यकतानुसार चाहे जैसे मोड़ा जा सकता है । अतएव यह आपद-काल में बहुत सहायक होता है । किन्तु जनता को ऐसे विधानों से डर ही बना रहता है क्योंकि इसे जब जैसी इच्छा हो बनाया जा सकता है। अतः केवल राजनीतिक रूप से प्रौढ़ता-प्राप्त जनता ही इसे सफलता पूर्वक चला सकती है ।

गार्नर, स्ट्रोंग, लीकौक, गैटिल आदि विचारकों ने इस वर्गीकरण को गलत और अवैज्ञानिक कहा है । उनके अनुसार न तो कोई शासन-विधान पूर्णतया लिखित होता है और न अलिखित ही । अलिखित और विकसित विधान में भी समय पाकर अनेक लिखित बातें सम्मिलित हो जाती हैं । ब्रिटेन में भी इस प्रकार का काफी लिखित अंश वर्तमान है । जो बातें कभी प्रथा, या उदाहरण पर आश्रित थीं उन्हें धीरे धीरे लिखित रूप दिया जा रहा है । यह सत्य है कि अब भी यह अंश अलिखित भाग से कम है पर महत्व में वह उससे किसी प्रकार भी कम नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत लिखित शासन विधान में भी आप यह पायेंगे कि सभी बातें लिखी हुई नहीं होती । यदि प्रारम्भ में उसे विशद बनाने का प्रयत्न किया भी जाय तो भी समय पाकर नई बातें और नई आवश्यकतायें पैदा हो जाती हैं । इनको पूरा करने के लिये या तो कानूनी परिवर्तनों का आश्रय लिया जा सकता है या केवल एक नई प्रथायें बना कर काम चलाया जा सकता है । लार्ड ब्राइस के अनुसार लिखित विधान थोड़े समय बाद व्याख्याओं, निर्णयों और प्रथाओं से इतने लद जाते हैं कि प्रारम्भिक विधान सरकार की पूरी जानकारी देने में सर्वथा असमर्थ हो होता है । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विधान के साथ यही हुआ भी है । अतएव इनमें किस्म का भेद न होकर केवल मात्रा का अन्तर है । अतः इस आधार पर वर्गीकरण का प्रयास व्यर्थ है ।

लचीला और कठोर—इस वर्गीकरण का आधार यह है कि शासन विधान में परिवर्तन और संशोधन मामूली कानूनों के समान

किये जा सकते हैं या नहीं ? यदि कानूनों और विधान के परिवर्तन का ढंग एक है तो उसे लचीला (flexible) शासन विधान कहा जाता है और यदि यह ढग भिन्न हो तो उसे कठोर (rigid) कहा जाता है। पर इस कठोरता की मात्रा कम या अधिक हो सकती है। कहीं-कहीं पर संशोधन का ढंग इतना कठोर और पेचीदा होता है कि परिवर्तन करना ही कठिन हो जाता है। पर अधिकतर विधानों में परिवर्तन का ढग भिन्न होने पर भी इतना कठिन नहीं होता। फिर भी कहलाते वे भी कठोर हैं। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वास्तव में परिवर्तन कठोर विधानों में कम और लचीले विधान में अधिक होते हैं। परिवर्तनो का कम या अधिक होना तो जनता की राजनीतिक मनोवृत्ति, विधान की व्यापकता और विधान की व्याख्या करने वाली सत्ता पर निर्भर है। ब्रिटेन का विधान अत्यन्त लचीला है फिर भी उसमें कम परिवर्तन होते हैं और संयुक्त राष्ट्र के विधान के अत्यन्त कठोर होने पर भी विधान की व्यापकता के कारण और व्याख्याकारों की नीति के कारण बिना कानूनी संशोधन किये ही उसकी भावना और ध्वनि ही बदल गई है।

लचीले विधान के अनेक लाभ हैं। (१) इसे आवश्यकतानुसार मोड़ा जा सकता है। समय निकल जाने पर फिर यह ज्यों का त्यों हो जाता है। (२) इसमें समय की गति के साथ परिवतन होते रहते हैं और यह सदैव उदार बना रहता है। इसके विपरीत कठोर विधान थोड़े दिन बाद अनुदार हो जाते हैं। (३) धीरे-धीरे बदलते रहने के कारण ये अपने समय के अनुभव से लाभ उठाकर उसे लोकमत और आवश्यकताओं के अनुकूल कर लेते हैं। कठोर विधानों में यह बात बहुत कठिन है। (४) क्योंकि ये सरलता से परिवर्तित हो जाते हैं अतएव इसमें बराबर सुधार होते रहते हैं। इन्हें उलट कर क्रान्ति करने की आवश्यकता ही नहीं होती। कठोर विधानों में बिना क्रांति के बड़े

परिवर्तन असम्भव हो जाते हैं। (५) इनकी व्याख्या कराने के लिये व्यर्थ समय और शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना होगा। धारा-सभा का मत सर्वोपरि होता है। पर कठोर विधानों की व्याख्या में सर्वोच्च न्यायालय को बहुत समय देना होता है और यह ढंग भी काफी खर्चीला है। इस प्रकार जो लचीले विधानों के गुण हैं वही कठोर विधानों के दोष हैं।

कठोर विधानों के गुण और लचीले विधानों के दोष भी एक से हैं। १) कठोर विधानों का सरलता से नहीं बदला जा सकता। अतएव उनका आदर भी अधिक होता है और स्थायित्व भी। लचीले विधानों का-सा इसमें यह डर नहीं है कि कोई महत्वाकांक्षी व्यक्ति विधान के विरुद्ध अपना निरंकुश शासन कायम न कर ले। (२) इसमें लचीले विधानों के समान अस्पष्टता नहीं होती। प्रत्येक बात साफ और निश्चित होती है। साधारण व्यक्ति भी इसे समझ सकता है। (३) लचीला विधान केवल राजनैतिक रूप से परिपक्व व्यक्ति ही चला सकते हैं। जब कि इसे समान रूप से सभी चला सकते हैं। (४) इसमें नागरिकों के अधिकारों की घोषणा का स्थान देकर स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है। लचीले विधान में यदि अधिकारों की घोषणा हो भी तो सरकार उसे कभी भी वापस ले सकता है। (५) इसी प्रकार अल्पसंख्यकों के हितों को भी सुरक्षित रक्खा जा सकता है। (६) यही बात संघीय सरकारों में संघ की इकाइयों के अधिकारों के लिये कही जा सकती है।

उत्तम शासन विधान—आपने ऊपर कई प्रकार के शासन-विधानों और उनके गुणों तथा दोषों पर विचार किया। हम उनमें से किसी को भी उत्तम अथवा बुरा नहीं कह सकते। वास्तव में न तो कोई शासन-विधान अपने में अच्छा है और न बुरा। यह तो इस बात पर निर्भर है कि वह अपने देश की आवश्यकतायें पूरी करता है या नहीं। फिर भी उत्तम विधान के कुछ लक्षण बतलाये जा सकते हैं: (१) उत्तम शासन-विधान संक्षिप्त होना चाहिये। उसमें अनावश्यक विस्तार या

तफ़सील की बातें नहीं दी जानी चाहिये। 'केवल सरकार के संगठन, नागरिकों के अधिकार और उन मोटे सिद्धान्तों का वर्णन होना चाहिये जिनके अनुसार सरकार को काम करना है। (२) संक्षिप्त होने के साथ ही साथ विधान निश्चित और स्पष्ट होना चाहिये। उनमें अनिश्चितता या अस्पष्टता होने से व्यर्थ में झगड़े पैदा होते रहते हैं। (३) उसे व्यापक भी होना चाहिये। व्यापकता का अभिप्राय विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं है। व्यापक का अर्थ यह है कि कोई भी बात छूटे नहीं, इसका तात्पर्य यह भी है कि विधान की भाषा ऐसी हो कि ज़रा-ज़रा बातों के लिये कानूनी सशोधनों की आवश्यकता न पड़े। (४) इनके अतिरिक्त विधानों को लचीला होना चाहिये। गैटिल के अनुसार कोई भी विधान पूर्ण नहीं हो सकता अतएव परिवर्तन आवश्यक हैं। 'शासन-विधान इतना लचीला होना चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तित हो सके; पर उनका सशोधन इतना सरल भी न होना चाहिये कि उसका स्थायित्व ही न रहे।' (५) उसमें नागरिकों के अधिकारों की स्पष्ट घोषणा होनी चाहिये और उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये समुचित प्रबन्ध भी होना चाहिये। (६) उसे इतना प्रगतिशील होना चाहिये कि यह बदलती आवश्यकताओं को पूरा कर सके। यदि उसमें प्रतिगामी बातों का समावेश होगा तो विधान शीघ्र बदनाम और बेकार हो जायगा।

विधान में संशोधन—शासन-विधान में सशोधन का एक मात्र उपाय कानूनी परिवर्तन ही नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य रीतियों द्वारा विधान निरन्तर बदलते रहते हैं। इनमें प्रमुख हैं : (१) न्यायाधीशों की व्याख्यायें और (२) रिवाज या प्रथायें। कुछ विधान ऐसे भी होते हैं जिनमें कानूनी परिवर्तन की रीति का उल्लेख ही नहीं होता। ऐसे विधान साधारण कानूनों के समान ही बदले जा सकते हैं।

—००—

चौदहवाँ अध्याय

सरकार का संगठन

जहां भी कानून बनाने और उसे लागू करने का अधिकार एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में रहेगा वहां सार्वजनिक स्वतंत्रता नहीं हो सकती ।

— ब्लैकस्टन

1 सरकार के अंग और उनके सम्बन्ध

हम कह आये हैं कि राज्य का काम सरकार के द्वारा होता है। राज्य के काम तीन प्रकार के होते हैं (१) राज्य की इच्छा स्थिर कर उसे बतलाना, (२) राज्य की इच्छा या नीति को लागू करना और राज्य की इच्छा की व्याख्या करना और उनके अनुसार झगड़ों का फैसला करना। इन्हीं के अनुरूप सरकार के तीन अंग (Organs) बतलाये गये हैं और इन्हें क्रमशः व्यवस्थापक विभाग (Legislatiure) प्रबन्धक विभाग (Executive) और न्याय विभाग (Judiciary) कहा गया है ।

कुछ विद्वानों ने राज्य की इच्छा को ढालने तथा प्रकाशित करने वालों में व्यवस्थापक विभाग के अतिरिक्त राजनीतिक दलों (Parties) और मतदाताओं (Electorate) का भी नाम लिया है। उन्होंने प्रबन्धक विभाग को भी राजनीतिक अधिकारी (Political Executive) और स्थायी कर्मचारी मण्डल (Permanent Civil Service) में बांटा है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रजातन्त्र में दलों और मतदाताओं का स्थान उपेक्षणीय नहीं है और स्थायी कर्मचारियों

के महत्व तथा पद को भी स्वीकार करना तथ्यों के अनुकूल है। तथापि इन्हें सरकार के पृथक अंग नहीं माना गया है। अतएव यहाँ हम ऊपर बतलाये गये विभागों का ही वर्णन करेंगे।

सरकार के अङ्गों का सम्बन्ध—हमने सरकार के तीन अंगों को बतलाया। किन्तु इसका अभिप्रायः यह नहीं है कि वे एक दूसरे से पृथक हैं। हमने तो यहाँ केवल सरकार के तीन पहलुओं का वर्णन भर किया है। इन अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध समझने के लिये हम नीचे एक उदाहरण लेंगे। उदाहरण है मद्य-निषेध (Prohibition) का कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में मद्य-निषेध की नीति का स्पष्ट उल्लेख किया था। चुने जाने पर मन्त्रिमण्डल इस सम्बन्ध में एक कानून बनाना चाहता है। इस कानून को धारा-सभा अच्छी तरह सोच विचार के पश्चात् पास कर देती है। धारा-सभा में पास होने के पश्चात् वह बिल गवर्नर के पास स्वीकृति के लिये जाता है। इसके पश्चात् मन्त्रि-मण्डल इसे कुछ जिलों में लागू करने का निश्चय करते हैं। वे सरकारी कर्मचारियों और पुलिस को आज्ञा देते हैं कि उन जिलों में पूरी शराब बन्दी हो। यदि कानून भंग करता हुआ कोई व्यक्ति पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है तो उसे न्यायाधीश के सन्मुख पेश किया जाता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करता है और उसके अनुसार उस व्यक्ति को दण्ड देता है। फिर उसे जेल भेज दिया जाता है और वहाँ सजा के भुगत लेने के बाद वह छोड़ दिया जाता है।

इस उदाहरण से यह पता चलता है कि अच्छे शासन के लिये सरकार के विभिन्न अंगों का मिलकर चलना आवश्यक है। यदि इनमें से कोई भी कर्तव्य की उपेक्षा करेगा अथवा अपना सहयोग न देगा तो उसका परिणाम देश के लिये घातक होगा।

शक्ति के विभाजन का सिद्धान्त—हम कह आये हैं कि सरकार के ये विभाग पुराने समय से चले आये हैं। अरस्तू ने भी इनकी चर्चा

की है। पर इनके विभाजन या पृथक करण (Separation) का प्रश्न एक कदम आधुनिक है। शायद बोदाँ (Bodin) ने सर्व प्रथम न्याय और शासन विभाग के पृथक करण की बात चलाई। उसके बाद लौक (Locke) ने भी शक्ति के विभाजन का प्रश्न उठाया पर मौन्टेनस्क्यू (Montesquieu) ही वह सबसे पहला व्यक्ति था जिसने अपनी पुस्तक स्प्रिट ऑफ द लाज़ १७४८ ई० में पृथक् करण के इस सिद्धान्त को स्वतंत्रता के लिये आवश्यक बतलाया। संक्षेप में उसका मत यह था कि 'प्रत्येक सरकार की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं...मनुष्य की स्वतंत्रता के हेतु यह आवश्यक है कि सरकार का निर्माण इस प्रकार से हो कि एक व्यक्ति दूसरे से न डरे।... ऐसा तभी हो सकता है जब शक्ति का दुरुपयोग न हो। इस दुरुपयोग को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि एक शक्ति दूसरी शक्ति की रोकथाम करे . . . . . यदि व्यवस्थापिका और प्रबन्धक शक्तियाँ एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह में रहेगीं तो स्वतंत्रता नहीं रह सकती। कारण यह कि व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह पहले अत्याचारी कानून बनावेगें और फिर उन्हें निरंकुशता पूर्वक लागू करेंगे। इसी प्रकार यदि न्याय शक्ति व्यवस्थापिका और प्रबन्धक शक्तियों से पृथक नहीं की जाती तो भी स्वतंत्रता न रहेगी। . . . .' उसके पश्चात् ब्लैकस्टन (Blackstone) मैडिसन (Madison) आदि ने भी इस विचार का समर्थन किया।

उपरोक्त सिद्धान्त का विश्लेषण करने से यह पता चलता है कि शासन विभाग तीन हैं। इन तीनों विभागों को पृथक व्यक्तियों के हाथों में रखना चाहिये क्योंकि शक्ति के एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने से नागरिकों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है। अतएव शक्तियों में इस प्रकार का संतुलन (balance) बनाये रखना चाहिये कि उनमें से कोई भी निरंकुश न हो सके। इस प्रकार देखने से यह सिद्धान्त बहुत

ठीक है। किंतु कुछ विद्वान इस सिद्धांत के अर्थ यह लगाते हैं कि सरकार के विभागों को पूर्णतया एक-दूसरे से स्वतंत्र रखना चाहिये। विभागों की स्वतंत्रता का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। (१) सरकार एक है। उसके विभागों को एक-दूसरे से एक दम पृथक कर देने से कुशलता को क्षति पहुँचेगी। प्रत्येक विभाग अपनी मन मानी करने लगेगा। इसका परिणाम होगा सरकारी कामों और मामलों में गति-अवरोध। (२) पूर्ण स्वतंत्रता असम्भव है क्योंकि उसके लिये न्यायाधीशों को भी चुनना होगा और नियुक्ति की यह रीति ठीक नहीं है। (३) पूर्ण स्वतंत्रता आवश्यक भी नहीं है। ब्रिटेन में इस प्रकार की पृथकता नहीं है पर वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता अच्छी तरह सुरक्षित है। (४) यह सिद्धाँत सभी विभागों को एक-बराबर बतलाता है। वास्तव में व्यवस्थापिका विभाग प्रजातन्त्र में सबसे अधिक सबल और न्याय-विभाग अपेक्षाकृत दुर्बल होता है। दोनों का समान पद देना सम्भव नहीं है। (५) वास्तव में पूर्ण स्वतन्त्रता की बात करना ही ग़लत है। जैसा कि प्रोफेसर लास्की ने कहा है कि यदि इन विभागों में सम्पर्क स्थापित करने वाली वैधानिक कड़ियां न होंगी तो किसी न किसी प्रकार विधान के बाहर सम्बन्ध कर लिया जायगा। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में हुआ भी यही। वहां राजनीतिक दलों ने इन कड़ियों की कमी को पूरा कर दिया है।

स्वतन्त्र न्याय विभाग की आवश्यकता—उपरोक्त सिद्धान्त के बारे में दो मत हो सकते हैं पर इस सम्बन्ध में तो सभी एकमत हैं कि नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिये एक स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है। इस कथन से हमारा अभिप्राय यह है: (१) न्याय करने वाले पृथक होने चाहिये। उनको साथ में शासन का काम नहीं दिया जाना चाहिये। आपने अपने देश में ही देखा होगा कि किस प्रकार सरकारी कर्मचारी स्वयं ही अभियोग लगाने वाले

और न्यायाधीश बन बैठते हैं। यह बात स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति अपने ही मामले में स्वयं अच्छा न्यायाधीश नहीं हो सकता। फिर शासन-विभाग में रहने वालों का उच्च अफसरों से भी सम्पर्क रहता है। उनकी तरक्की वगैरा उन्हीं पर निर्भर है। ऐसी हालत में उसका निष्पक्ष होना असम्भव हो जाता है और वह अपने को दबाव से बरी नहीं कर पाता। (२) एक शासन विभाग के कर्मचारी और न्यायाधीश के लिये आवश्यक योग्यतायें भिन्न ही नहीं वरन् विरोधी होती हैं। शासक को तो दृढ़ और फुर्तीला होना चाहिये। पर न्यायाधीश के लिये शांत स्वभाव, निष्पक्ष भाव और बुद्धि का उपयोग अपेक्षित है। अतएव एक शासक अच्छा न्यायाधीश नहीं हो सकता और न न्यायाधीश अच्छा शासक ही हो सकता है। (३) न्यायाधीश को व्यवस्थापिका सभा का सदस्य भी नहीं होना चाहिये। सदस्य होने से प्रत्येक कानून के सम्बन्ध में उसका अपना पक्ष और दृष्टिकोण हो सकता है जो न्यायाधीश की हैसियत से काम करते समय उस पर प्रभाव डाल सकता है। (४) उसको सक्रिय राजनीति में दिलचस्पी होना भी ठीक नहीं है। ऐसा होने से वह एक उत्तम न्यायाधीश नहीं हो सकता और उससे अपने राजनीतिक विरोधियों के साथ न्याय करने की आशा नहीं की जा सकती। (५) इसी कारण से उसे निर्वाचित रखना भी भारी भूल होगी क्यों कि उसे अपने समर्थकों और निर्वाचन-क्षेत्र का ध्यान रखना होगा। निर्वाचन होने से उसकी कुशलता में भी कमी आ जायगी। अतः उसकी नियुक्ति का ढंग ऐसा होना चाहिये कि वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके और दलबन्दी के दलदल से भी बचा रहे। (६) यही नहीं नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि जो बुनियादी अधिकार विधान स्वीकार करे उनकी रक्षा का भार भी न्यायाधीशों पर डाल दिया जाय। सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे कानूनों और आज्ञाओं को अवैध घोषित करने का अधिकार हो जो नागरिकों

की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्धक विभाग की नीति तथा कार्यों पर पूरी निगरानी रक्खी जाय। यह तभी सम्भव हो सकता जब कि न्याय विभाग स्वतन्त्र हो और धारा-सभा के सदस्य जागरूक रहें।

II न्याय विभाग का संगठन तथा कार्य

न्यायाधीशों के गुण—सिज़विक (Sidgwick) के अनुसार किसी देश के न्याय का मापदण्ड उसकी सभ्यता की एक अच्छी कसौटी है। इससे यह भली भांति प्रगट हो जाता है कि न्यायाधीशों को शासन में क्या महत्व प्राप्त है। अतएव यह आवश्यक है कि (१) न्यायाधीश पूर्णतया निष्पक्ष और स्वतन्त्र हों। वे अपने विवेक के अनुसार कार्य करें और किसी दबाव को न मानें। (२) उन्हें कानून और कानूनी कार्यवाही का समुचित ज्ञान हो। (३) व ईमानदार हों और किसी प्रकार के प्रलोभन मे न आवें। (४) वे शान्त प्रकृति वाले हों और न्याय नैतिकता तथा विवेक के आधार पर अपने निर्णय दें। इन गुणों के बिना कोई व्यक्ति अच्छा न्यायाधीश नहीं बन सकता।

न्यायाधीशों की नियुक्ति—उनकी नियुक्ति मोटे रूप में दो प्रकार से होती है : चुनाव से या सीधी नियुक्ति। चुनाव या तो धारा-सभा करती है या जनता। परन्तु दोनों ही ढंग बुरे हैं। इससे न्याय विभाग में दलबन्दी का प्रवेश हो जाता है, योग्य व्यक्ति नहीं मिलते और उम्मेदवारों को समय के प्रवाह के अनुकूल कार्य करना होता है। चुनाव द्वारा नियुक्ति यदि अल्पकालीन हो तो वह बुराइयाँ और भी बढ़ जाती हैं। सीधी नियुक्ति यदि वह मनमाने ढंग पर हो तो उसमें कई दोष हैं। अतएव नियुक्ति के लिये प्रतियोगिता-परीक्षायें होनी चाहिये और जहाँ नियुक्ति वकीलों में से हो वे न्यायाधीशों के परामर्श पर की जानी चाहिये क्यों कि वे वकीलों के बारे में जितनी जानकारी रखते हैं अन्य कोई भी नहीं

रख सकता। इसी प्रकार योग्य और निष्पक्ष न्यायाधीशों की सेवाओं को प्राप्त किया जा सकता है।

अवधि और वेतन—नियुक्ति के ढंग से भी आवश्यक बात यह है कि न्यायाधीश अपने को स्वतन्त्र समझ सकें। इसके लिये उनके कार्य-काल को स्थायी रखना ठीक होगा। अवकाश ग्रहण करने की आयु के पहले उन्हें केवल शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता और गम्भीर अपराधों के लिये ही हटाये जांय। और वह भी तब जब कि इस सम्बन्ध में एक निष्पक्ष कमेटी जांच करले और धारा-सभा इसी प्रस्ताव से सहमत हो।

उनमें अपने पद की स्थायित्व के बारे में विश्वास दिलाने के लिये यह भी आवश्यक है कि एक बार उनका वेतन नियत हो जाने पर फिर उसे किसी भी दशा में कम न किया जाय। कम से कम व्यक्तिगत कमी को कानूनन मनाही हो। उसकी अन्य सुविधाओं में भी कमी न की जाय। इस प्रकार वह बाहरी राजनीतिक दबाव से मुक्त रह सकते हैं। उनका वेतन इतना होना चाहिये कि योग्य व्यक्ति इस ओर आकर्षित हों।

न्यायाधीशों के कार्य—आप देख चुके हैं कि न्याय विभाग का काम कानूनों की व्याख्या करना और उनके अनुसार मामलों में अपना निर्णय देना होता है। उनका काम कानूनों की अच्छाई या बुराई पर विचार करना नहीं है वरन् जो भी कानून हो उन्हीं के अनुसार न्याय करना होता है। संक्षेप में उनके काम ये हैं: (१) कानूनों की व्याख्या करना और उनके सामने जो मामले पेश हों उन पर उन्हें लागू करना। जहाँ कानून स्पष्ट नहीं होता उन्हें अपनी समझ से काम लेना होता है। (२) यदि कानून की कोई भी धारा ठीक-ठीक उनके सामने पेश मुकद्दमें पर लागू नहीं होती तो उन्हें न्याय, नैतिकता और विवेक के आधार पर अपना निर्णय देना होता है। इस प्रकार के निर्णय आगे

चलकर उदाहरण (Precedents) के रूप में पेश किये जाते हैं। (३) निषेधात्मक न्यायालज्ञायें देना भी न्यायाधीशों का एक महत्वपूर्ण कार्य है। यदि कोई ऐसा गैरकानूनी कार्य किया जा रहा है जिसे तत्काल न रोकने से काफी हानि होने का भय हो तो न्यायाधीशों से उसे रोकने के लिये आज्ञा (ingunction) निकलवाई जा सकती है। इसी के अन्तर्गत बन्दीगृह से मुक्त करने (writ of Habeas Corpus) आदि की आज्ञायें भी आ जाती है। (४) कभी कभी उन्हें कानूनों तथा शासन विभाग के कार्यों की वैधानिकता के सम्बन्ध में निर्णय करने का भी अधिकार मिला होता है। (५) कहीं-कहीं पूछे जाने पर ये परामर्श के लिये अपना मत भी प्रकट करते हैं। ऐसे मत (Opinions) सरकार प्रायः कानून बनाने अथवा नये कार्य करने के पूर्व ले लेती है। (६) कुछ राज्यों में इन्हें विधान की व्याख्या करने का काम भी करना होता है और उस सबध में मतभेद होने पर अपना निर्णय देना होता है। (७) ये दीवानी (civil) फाजदारी (Criminal) और माल (revenue) के मुकद्दमों में निर्णय देते हैं। अपराधियों को दण्ड दिया जाता है और हानि उठाने वाले पक्ष को हर्जाना दिलवाया जाता है। (८) इनके अतिरिक्त वे ऐसे भी कुछ काम करते हैं जो पूरी तरह न्याय से ही सम्बन्धित नहीं हैं जैसे नाबालिगों के अभिवाहक नियुक्त करना, ट्रस्टी नियुक्त करना, मृत व्यक्तियों की जायदाद का प्रबन्ध करना, दिवालियों और लिक्यूडेशन में जाने वाली कम्पनियों के लिये रिसीवर और लिक्यूडेटर नियुक्त करना, आफिस के लिये क्लर्कों की नियुक्ति आदि।

न्याय विभाग का संगठन—यह संगठन सभी देशों में एक-सा नहीं होता। पर सभी स्थानों में एक के ऊपर दूसरे अनेक न्यायालय होते हैं। प्रायः छोटे न्यायालयों से ऊपर अपील हो सकती हैं। देश

का एक सर्वोच्च न्यायालय भी होता है। (२) न्यायालय प्रायः कई विभागों में बंटे रहते हैं। दीवानी (Civil) फौजदारी (Criminal) और माली (revenue)। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं शासन-संबंधी न्यायालय (Aonumistrat ve Cowts) भी होते हैं जिनमें नागरिकों तथा राज्य अथवा सरकारी कमचारियों के बीच में होने वालों मामलों पर विचार होता है। इनके अतिरिक्त फौजी अदालतें (Military Courts) एडमिरेल्टी कोर्ट्स (Admiralty Courts), डाइवोर्स कोर्ट्स (Divorce Courts) आदि भी होते हैं। एडमिरेल्टी कोर्ट्स में युद्ध के समय तटस्थता भंग करने वाले जहाजों को पकड़ कर उनके सम्बन्ध में निर्णय किया जाता है और डाइवर्स कोर्ट्स में तलाक के मामलों का। (३) संघीय राज्यों में संघीय (federal) और इकाइयों के भी न्यायालय पृथक होते हैं। (४) प्रत्येक न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या और उनकी कार्य-सीमा निश्चित होती है। (५) कहीं कहीं फौजदारी मामलों में जूरी (Jury) या असेसरों (Assessors) का सहयोग भी लिया जाता है। इनका काम केवल यह निर्णय होता है कि अपराध किया गया है या नहीं। दण्ड निर्धारित करना न्यायाधीश का काम है।

III प्रबन्धक विभाग

जैसा कि आप देख आये हैं प्रबन्धक विभाग (Executive) को राजनीतिक अधिकारी मण्डल और स्थायी कर्मचारी मण्डल में बाँटा जा सकता है। राजनीतिक शासक कई प्रकार के हो सकते हैं: (१) वास्तविक और नाम मात्र को राज्य सत्ताधारियों पर विचार करते समय इनके भेद को आप समझ चुके हैं। यह भेद केवल कैबीनेट प्रणाली में पाया जाता है। इसमें नाम मात्र (Titular) के शासक

के पास सत्ता केवल उतने समय के लिये आती है जितने में एक मंत्रिमण्डल के त्याग पत्र दे देने पर दूसरा मन्त्रिमण्डल पदारूढ़ होता है। (२) पैतृक (Hereditary) और निर्वाचित (Elective) पैतृक राजनीतिक शासक केवल राज्यतन्त्रों में होते हैं। (३) वे निरंकुश (Despotic) भी हो सकते हैं और वैधानिक (Constitutional) निरंकुश शासक अपरिमित राज्य तन्त्र या डिक्टेटरशाही में ही हो सकते हैं। (४) राजनीतिकशासक एक (Single) या अनेक (Plural) हो सकते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली में शासक एक होता है और कैबीनट प्रणाली में अनेक। यदि इन शासकों में सभी का पद समान हो तो उसे कॉलिजियेट (Collegiate) मण्डल कहते हैं।

उत्तम शासकों के गुण—देश के राजनीतिक अधिकारी मण्डल पर ही उसका हित और अहित निर्भर है। अतएव यह आवश्यक है कि (१) उनका अपना एक निश्चित कार्यक्रम हो। जो व्यक्ति अपने लक्ष्य को समझते हैं वही उसके लिये प्रयत्न करके उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। (२) वे ढिलमिल नीति से काम न लेकर जो कुछ भी निर्णय करें उसके अनुसार शीघ्रता और दृढ़ता से काम करें। (३) जनता की आवश्यकताओं और लोकमत को समझने के लिये उन्हें जनता से निकट सम्पक में रहना चाहिये। (४) वे सेवा-भाव से प्रेरित हों और निर्भीकता से काम करें। बाहरी दबाव से वे डरें नहीं, नहीं तो वे कुछ भी न कर सकेंगे। (५ वे ईमानदार हों और प्रलोभन में पड़ कर जनता के साथ विश्वासघात न करें।

नियुक्ति के ढंग—राजनीतिक शासक या तो पैतृक होते हैं या निर्वाचित अथवा नामजद (Nominated)। उनका निर्वाचन या तो प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा हो सकता है अथवा वे धारा-सभा द्वारा

या विशेष निर्वाचक-मंडलों द्वारा चुने जा सकते हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचक पक्ष की दलीलें हैं; जनता से उनका सीधा सम्पर्क और इस से मिलने वाली जनता को राजनीतिक शिक्षा। इसके विपक्ष की युक्तियाँ यह हैं कि जनता ठीक निर्णय करने में असमर्थ होती है और इसके कारण राजनीतिक वातावरण बड़ा कलुषित और हिंसापूर्ण हो जाता है। सिद्धांततः अप्रत्यक्ष चुनाव दोष रहित होते हैं पर वे या तो व्यर्थ होते हैं जैसाकि सयुक्त राष्ट्र अमेरीका में है अथवा वे कर्मों के स्वाथ साधक बन जाते हैं। वैसे भी जहाँ प्रधान शासक को वास्तविक सत्ता प्राप्त होती है अप्रत्यक्ष चुनाव को पसन्द नहीं किया जाता। इस प्रकार का अप्रत्यक्ष चुनाव स्विटज़रलैंड में होता है। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में कहने को तो प्रेसीडेन्ट की चुनाव-पद्धति अप्रत्यक्ष है पर यथार्थ में वह प्रत्यक्ष होने के बराबर ही है क्योंकि निर्वाचक-मंडल पहले से ही यह घोषणा कर देता है कि वह किसे मत देगा। जहाँ तक नामज़दगी का प्रश्न है प्रजातंत्रीय सरकार में मनमानी करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तरदायी शासन-प्रणालो में यह प्रचलित है। उस में नाम मात्र का शासक धारा सभा के बहुसंख्यक दल के नेता को प्रधान मत्री बनने और मत्रीमंडल बनाने का निमंत्रण देता है। उसे नामज़दगी में कुछ स्वतंत्रता केवल तभी मिलती है जब पालियामेंट में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न हो।

राजनीतिक अधिकारी मंडल की अवधि—यह प्रश्न केवल निर्वाचित अथवा नामज़द शाप्तकों के सम्बन्ध में उठता है। इस सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य बात नहीं कही जा सकती। हाँ इतना अवश्य है कि कार्य-काल न तो इतना छोटा होना चाहिए कि शासक को अपनी नीति

तथा कार्यक्रम को कार्यरूप में परिणित करने का अवसर ही न मिल पाये और न वह इतना अधिक होना चाहिये कि वह जनहित के प्रति लापरवाह और उत्तरदायित्वहीन हो जाय। साधारणतया लोगों का कहना है कि ४ या ५ वर्ष की अवधि न तो कम है और न अधिक। जहाँ तक दोबारा पदग्रहण का प्रश्न है कोई ऐसा कारण समझ में नहीं आता जिससे इसे बुरा समझा जाय। निरंकुशता से बचने के उपाय तो दूसरे भी हो सकते हैं। फिर अनुभवी और योग्य व्यक्तियों की सेवा से वंचित क्यों रहा जाय ?

शासन-विभाग के कार्य—प्रो० गैटिल ने इन कार्यों को पाँच श्रेणियों में बाँटा है (१) कूटनीति कार्य जिनके अन्तर्गत राजदूतों की नियुक्ति, विदेशी राजदूतों से भेंट, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, व्यापारिक समझौते, युद्ध, शाँति, सन्धि आदि आती हैं। (२) व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों में धारा-सभा का अधिवेशन बुलाना, उसे स्थगित तथा भंग करना, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मसविदे पेश करना, कानूनों को जारी करना, आर्डीनेन्श और राज्याज्ञाओं का निकालना आदि आते हैं। (३) सैन्य सम्बन्धी कार्यों में सैन्य अफसरों की नियुक्ति, अलहदगी, युद्ध जैसी हालतें पैदा करने या साधधानी के विशेष से सैनिक हलचलों की आज्ञा देना, मार्शल लॉ (Martial Law) लागू करना आदि हैं। कभी कभी प्रधान राजनीतिक अधिकारी कमान्डर-इन चीफ भी होता है। (४) शासन-सम्बन्धी कार्यों में सरकारी विभागों की देखभाल, शांति और व्यवस्था का स्थापन, अफसरों की नियुक्ति और अलहदगी, कानूनों को लागू करवाना, उपाधियां और सम्मान-चिन्ह देना आदि हैं। (५) न्याय-सम्बन्धी कार्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति, आम रिहाई और व्यक्तिगत क्षमा-प्रदान आदि हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रकार के और भी कार्य हैं। जिन्हें गैटिल ने छोड़

(६) राजस्व-सम्बन्धी कार्य। शासक-विभाग को ही प्रायः आय-व्यय का लेखा, कर लगाने आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक निर्णय करने होते हैं।

स्थायी कर्मचारी मण्डल—राजनीतिक अधिकारियों को तो नीति को निर्धारित करना होता है। उस नीति पर अमल करना और कानूनों को लागू करना कर्मचारियों का काम है। प्रत्येक देश में इस प्रकार के हजारों स्थायी कर्मचारी रहते हैं। शासकों के बदलते रहने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इनका रहना प्रत्येक देश के लिये अत्यतावश्यक है।

कुछ समय पूर्व प्रजातन्त्रीय राज्यों में योग्यता का बिना ख्याल रक्खे मुख्य शासन अपने संबन्धियों, मित्रों या दल के लोगों को सरकारी कर्मचारी बना लेते थे। अमेरिका तो एक समय यह बात (Spoils system) इतनी बढ़ गई कि नया प्रैसीडन्ट पुराने सभी कर्मचारियों को निकाल कर नई भर्ती करने लगा। इसका प्रभाव शासन प्रबन्ध पर बहुत बुरा पड़ा। इस बुराई से बचने का उपाय लगभग १०० वर्ष पूर्व लार्ड मैकाले ने सुझाया था। उसके सुझाव के अनुसार कर्मचारियों की नियुक्ति प्रतियोगिता परीक्षाओं (Competitive Examinations) के आधार पर होने लगीं। थोड़े ही वर्षों में इस प्रथा की सफलता ने इसका प्रचार बहुत अधिक बढ़ा दिया। इसके साथ ही नियुक्तियां स्थायी कर दी गईं और तरक्की, पेन्शन आदि की भी व्यवस्था कर दी गई। यही नहीं परीक्षायें लेने का काम भी एक गैर-राजनीतिक कमीशन (Public Service Commission) को सौंप दिया गया। इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों को राजनीति के पचड़े से अलग रखने का प्रयत्न किया गया जिससे वे निष्पक्षता पूर्वक जो भी अधिकारी हों उन्हें सहयोग दें और उनके बनाये गये कानूनों और नीतियों पर अमल करें। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन

कर्मचारियों की प्रतिष्ठा अधिकारियों की दृष्टि में काफी बढ़ गई है और वे इनकी सलाह पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। इस तरह इन दक्ष प्रबन्धकों की सहायता से राजनीतिक अधिकारी शासन चलाते और लोकहित के कार्य करने का प्रयत्न करते हैं।

IV व्यवस्थापिका विभाग

अन्त में हम सरकार के व्यवस्थापक विभाग पर आते हैं जो प्रजातंत्र में सब से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका मुख्य काम कानून बनाना होता है यद्यपि इसके अतिरिक्त यह अन्य कार्य भी करता है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के समय में यह काम राज्य के सम्पूर्ण नागरिक समुदाय को करना होता था। अब यह काम उनके निर्वाचित प्रतिनिधि-गण करते हैं। प्रतिनिधियों की सभा को व्यवस्थापिका या धारा-सभा कहा जाता है। वर्तमान धारा-सभायें या तो एक भवन वाली (Unicameral) होती हैं अथवा दो भवन वाली (Bicameral) हो। भवन वाली धारा सभाओं का जन्म इंगलैण्ड में संयोग वश हुआ। इसके पूर्व वहां तीन भवन वाली धारा-सभा थी। कुछ स्थानों में तो भवनों (Chambers or House) की संख्या तीन से भी अधिक थी। पर बाद में दो भवनों वाली प्रथा इतनी अच्छी और सफल प्रमाणित हुई कि उसका प्रचार संसार भर में हो गया।

जहाँ धारा-सभा दो भवनों की होती हैं वहाँ एक भवन को प्रथम (First) या निचला (Lower) कहा जाता है। और दूसरे भवन को द्वितीय (Second) या ऊपरी (Upper) कहा जाता है। इनमें प्रथम भवन प्रायः बहुसंख्यक और जनता के द्वारा सीधा निर्वाचित होता है जब कि द्वितीय भवन अपेक्षा कृत अल्पसंख्यक और उसके

निर्माण की रीति भी भिन्न होती है। प्रथम भवन को निचला भवन कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि पद या अधिकार में यह कम होता है। इसके विपरीत ऊपरी भवन से इसके अधिकार प्रायः कहीं अधिक होते हैं। यह नाम तो केवल इसलिये पड़ गये कि प्रारम्भ में निचले भवन में साधारण व्यक्ति और ऊपरी भवन में धनी या कुलीन वर्ग के लोग होते थे।

व्यवस्थापक विभाग के कार्य—(१) इसका प्रमुख कार्य राजकीय कानूनों को बनाना होता है। इसे ऐसे कानून बनाने होते हैं कि देश में शांति तथा व्यवस्था भी रहे और बराबर उन्नति भी होती रहे। (२) इसे शासन-विधान में परिवर्तन और संशोधन भी करने होते हैं जिससे कि आवश्यकतानुसार कार्य किये जा सकें. कभी-कभी यह काम किसी अन्य मशीनरी के हाथों में भी दे दिया जाता है। (३) इसे राजस्व (Finance) पर भी नियंत्रण रखना होता है। यह आय-व्यय के अनुमानित लेखे पर विचार कर अपनी स्वीकृति देता है। इसकी अनुमति के बिना प्रजातंत्रीय सरकारों में न तो नये कर लगाये जा सकते हैं और न खर्च ही किये जा सकते हैं। (४) इसका काम शासन-प्रबन्ध पर नियंत्रण रखना भी है। उत्तरदायी शासन-प्रणाली में यह नियंत्रण पूर्ण होता है और यदि धारा-सभा कैबीनेट के कार्मों से संतुष्ट न हों तो वह उसे त्याग-पत्र देने के लिये बाध्य कर सकती है। अध्यात्मक सरकार में यह नियंत्रण इतना अधिक नहीं होता। फिर भी प्रेसीडेन्ट को धन के लिये धारा-सभा पर ही निर्भर रहना पड़ता है और जो भी कानून धारा-सभा बनाये उन्हें यदि वह अपने विशेषाधिकार का उपयोग कर रद्द नहीं कर देता तो लागू भी करना होता है। यही नहीं धारा-सभा शासन-प्रबन्ध के निरीक्षण के लिये जांच कमेटियां नियुक्त कर सकती हैं। (५) धारा-सभा में प्रतिनिधि जनता के दुख-दर्द को बतलाते हैं,

शासन-प्रबन्ध की खराबियां बतलाते हैं और यह मांग करते हैं कि इनका सुधार किया जाय। (६) वह सरकारी नीति तथा कार्यक्रम को स्वीकार कर उसे चलाने की अनुमति देते हैं। (७) कभी-कभी वे प्रधान राजनीतिक अधिकारी द्वारा की नियुक्तियों पर भी नियंत्रण रखते हैं और कहीं-कहीं उन्हें स्वयं भी नियुक्तियां करने के अधिकार होते हैं। (८) कुछ देशों में इन्हें उच्च पदाधिकारियों राजद्रोह आदि के गम्भीर अपराधों में सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) लगाने के अधिकार प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं इन अभियोगों की सुनवाई और निर्णय भी धारा-सभा का ही एक भवन करता है। ब्रिटेन में ऊपरी भवन देश के लिये अपील का सर्वोच्च न्यायालय भी है। (९) ये अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी नियंत्रण रखते हैं। शांति, युद्ध, सन्धि और समझौतों के लिये इनकी स्वीकृति भी कहीं-कहीं लेनी होती है।

एक समय था जब कि काम इतना कम था कि धारा-सभायें उस पर भी अच्छी तरह विचार विनिमय के पश्चात् अपना निर्णय देती थीं और अधिकारियों को पूरी तरह अपने आधीन रखती थीं। पर अब काम इतने बढ़ कर जटिल हो गये हैं कि ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतएव धारा-सभा को अब कानूनों, नीतियों आदि के मोटे सिद्धान्तों पर विचार करने भर का समय मिल पाता है। विद्वानों की राय भी यही है कि धारा-सभा को अब विस्तार में न जाकर केवल अपना जनरल नियंत्रण रखना चाहिये और शासन-प्रबन्ध पर आलोचनात्मक दृष्टि रखनी चाहिये। स्वयं शासन न तो वह कर सकती है और न उसे ऐसा प्रयत्न ही करना चाहिये।

द्वितीय भवन की उपयोगिता—प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि द्वितीय भवन की आवश्यकता क्या है? कौन सी ऐसी बातें हैं जो उसके बिना अधूरी रह जायंगी? यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है और

इस पर अच्छी तरह विचार किया जाना चाहिये। नीचे हम इन युक्तियों को देखेंगे।

(१) निचला भवन में प्रतिनिधि सीधे जनता द्वारा चुने जाते हैं और वे बहुत गर्म विचार वाले, अनुभव हीन और लापरवाह होते हैं। भावुकता के प्रवाह में बह कर वे हानि-लाभ को भूल जाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि इस प्रकार की हानि से बचने के लिये एक ऊपरी भवन हो जो निचले भवन के कानूनों पर विचार करे और उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया करे। ऊपरी भवन के सदस्य अपेक्षाकृत अनुभवी, योग्य और नरम विचार वाले होते हैं। साथ ही वहां का वातावरण भी शांत होता है। अतएव दुहराने का यह काम द्वितीय भवन अच्छी तरह कर सकते हैं। (२) द्वितीय भवन में विचार होने में कुछ न कुछ देरी लग ही जाती है। इस बीच में उग्र लोगों का जोश ठण्डा पड़ जाता है और जनता भी गम्भीरतापूर्वक उन कानूनों के प्रभाव पर विचार कर सकता है। इस प्रकार एक विचार पूर्ण लोकमत के बनने का समय मिल जाता है जो उन कानूनों पर अपना प्रभाव डाल सकता है। (३) दो भवन होने से निरंकुशता से बचाव होता है। यदि भवन एक ही तो इस बात की सम्भावना रहती है कि कहीं वह अपने को सर्वेसर्वा समझ कर निरंकुश न हो जाय। दो भवनों के रहने से यह डर नहीं रहता। (४) दो भवन रहने से लोकमत को अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक भवन रहने से उसके सदस्य लोकमत से दूर पड़ सकते हैं। विशेषतया ऐसा तब होता है जब सभी सदस्य एक ही समय चुने गये हों। भिन्न समयों पर भिन्न अवधियों के लिये चुने गये दो भवन होने पर यह डर नहीं रहता। साथ ही गरम और नरम विचार वालों के मेल से एक ठीक नीति बनाई जा सकती है। (५) द्वितीय भवन में ऐसे बहुत से हितों या व्यक्तियों को

स्थान दिया जा सकता है जो या तो राजनीति के पचड़े में पड़ कर चुनाव लड़ना पसन्द नहीं करते अथवा जिन्हें साधारण रीति से प्रतिनिधित्व मिलना कठिन है। इस प्रकार से स्वतंत्र विचार वाले विशेषज्ञों, अल्पसख्यकों, स्त्रियों, मजदूरों आदि को स्थान दिये जा सकते हैं। (६) द्वितीय भवन के निर्वाचकों की योग्यता को ऊंचा कर और उनकी आयु को बढ़ा कर उसमें अनुभवी व्यक्तियों को स्थान दिया जा सकता है। (७) सघीय सरकारों मे ऊपरी भवन आवश्यक होता है। उसमें सघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व दे दिया जाता है जिससे किसी इकाई के अधिकारों का कम न किया जा सके। यह सुरक्षा न रहने पर इकाइयों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। (८ अब धारा सभा का काम इतना बढ़ गया है कि एक भवन इसे ठीक से नहीं कर पाता। द्वितीय भवनों को ऐसे कानूनों पर जो विवाद ग्रस्त न हों प्रथम विचार का अवसर देकर समय को बचाया जा सकता है। (९) दो भवन रहने मे अधिकारियों को भी कुछ स्वतत्रता प्राप्त हो जाती है और यह सार्वजनिक दृष्टि से अच्छा है। प्रबन्धक विभाग के कार्यों की तफ़सील में हस्तक्षेप शासन-प्रबन्ध में सदैव गड़बड़ी पैदा करने वाला होता है। (१०) यदि दोनों भवन किसी विषय में एकमत हों तो इससे अपने निर्णय की अच्छाई पर विश्वास बढ़ता है। यदि वे एकमत न हों तो उस पर दोबारा विचार करने का समय मिल जाता है।

द्वितीय भवन के दोष—इन्हीं दिनों दो भवनों वाली धारा-सभा के विरुद्ध बहुत कुछ कहा और लिखा गया है। (१) यह कहा जाता है कि राज्य की इच्छा एक हो सकती है दो नहीं। अतएव दो भवनों का होना जिनमें मतभेद की सम्भावना हो राज्य की एकता के लिये बुरा है। (२) द्वितीय भवन व्यर्थ है। यदि उच्च का प्रथम भवन से मतभेद

हो तो वह गड़बड़ है और यदि उसकी राय प्रथम भवन से मिलती हो तो उसे रखना बेकार है। (३) दो भवनों में मतभेद और झगड़ों का होना स्वाभाविक है। इससे शासन-प्रबन्धों में लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है। बहुत सा समय इसमें व्यर्थ बीत जाता है। फल यह होता है कि अनेक आवश्यक कार्य रुके पड़े रहते हैं। (४) अनुभव यह बतलाता है कि ऊपरी भवन न तो कानूनों को सुधारने में कोई सहायता पहुंचाते हैं और न उनके कारण संघ की इकाइयों के अधिकार ही अधिक सुरक्षित रहते हैं। इसके विपरीत दो भवनों के रहने से दोनों ही उत्तरदायित्व हीन हो जाते हैं। (५) डा० फाइनर के अनुसार ऊपरी भवन प्रगति में बाधक होते हैं। उन्हें रक्खा ही इसलिये जाता है कि विधान निर्माता जनता से किसी वस्तु की रक्षा करना आवश्यक समझते हैं। वैसे भी ऊपरी भवन अनुदार और सुधार के विरोधी रहे हैं। (६) इसकी वजह से व्यर्थ में खर्च बहुत अधिक बढ़ जाता है। (८) द्वितीय भवन का निर्माण यदि पहले के ही समान किया जाय तो यह व्यर्थ है और यदि किसी दूसरे ढंग पर किया जाय तो यह बात अप्रजातन्त्रीय होगी। (९) प्रोलस्की के अनुसार द्वितीय भवन द्वारा जल्दबाजी के कामों पर रोक की बात कहना व्यर्थ है। यह रुकावट तो जनता की उदासीनता और सरकार की सतर्कता में रहती है। इनके अतिरिक्त अन्य बाहरी प्रतिबन्ध सिवाय सरक्षित हितों को लाभ पहुंचाने के वास्तविक उन्नति में कतई सहायक नहीं हो सकते। (१०) द्वितीय भवनों के कारण उत्पन्न गति-अवरोधों के कारण न तो सुधार की दीर्घकालीन योजनायें ही बन पाती हैं और न उन्हें कार्य रूप में परिणित ही किया जा पाता है। अतएव ऊपरी भवन व्यर्थ हैं।

इतने पर भी अधिकतर राज्यों में आज दो भवन पाये जाते हैं और राजनीतिज्ञ अपनी पुरानी प्रथा को नहीं त्यागना चाहते। लेकिन

इस आलोचना के फलस्वरूप प्रायः ऊपरी भवन की सत्ता कम कर दी गई है। राजस्व सम्बन्धी बातें अब निचले भवन के आधीन कर दी गई हैं। अन्य विषयों में भी ऊपरी भवनों को अब वीटो (Veto) का अधिकार नहीं रहा। वह कानूनों के पास होने में देर तो लगा सकता है पर उन्हें रोक नहीं सकता। अधिकतर तो यह बात प्रथाओं पर आश्रित है पर ब्रिटेन में सन् १९११ ई० के कानून द्वारा इसे वैधानिक रूप दे दिया गया।

द्वितीय भवन का निर्माण—यदि द्वितीय भवन होना ही है तो उसको कैसे निर्मित किया जाय। (१) यह तो स्पष्ट ही है कि उसके अधिकार निचले भवन से कम होने चाहिये जिससे गति-अवरोध उत्पन्न न हों। (२) उसकी सदस्य संख्या भी निचले भवन से कम होनी चाहिये। (३) उसका कार्यकाल भी निचले भवन से कुछ अधिक रक्खा जा सकता है। पर ऐसी दशा में उसके कुछ अंशों का चुनाव बीच बीच में होते रहना चाहिये जिससे उसके सदस्य लोकमत से सम्पर्क न खो बैठें। (४) ऊपरी भवन के सदस्यों की आयु भी कुछ अधिक रक्खी जा सकती है। (५) उसमें सदस्यों को पैतृक अधिकार नहीं दिये जाने चाहिये। यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र की भावना के प्रतिकूल हैं और साथ ही असफल भी प्रमाणित हो चुका है।

सहायता के पैतृक सिद्धान्त को अस्वीकृत कर देने से हमारे सम्मुख केवल नियुक्ति के तीन उपाय रह जाते हैं। (१) नामजदगी (२) प्रत्यक्ष चुनाव किन्तु भिन्न निर्वाचक क्षेत्रों से, और (३) अप्रत्यक्ष चुनाव। जहां तक नामजदगी का प्रश्न है या तो वह जीवन भर के लिये की जा सकती है अथवा एक विशेष अवधि के लिये। संघीय सरकारों में तो भिन्न निर्वाचक-क्षेत्र बनाने की समस्या कुछ सीमा तक हल हो जाती है पर एकात्मक सरकारों में यह व्यवस्था कठिन हो जाती है। जहां तक

अप्रत्यक्ष चुनाव का प्रश्न है यह कई प्रकार के हो सकते हैं। भारतवर्ष के १६३५ ई० के एक्ट के अनुसार बङ्गाल और बिहार के ऊपरी भवन के सदस्यों की बड़ी संख्या निचले भवन चुनते थे। नार्वे में ऊपरी भवन पूरा का पूरा निचला भवन ही चुनता है। फ्राँस में सीनेट के चुनाव के लिये एक पृथक निर्वाचक-मंडल है जिसमें प्रत्येक डिपार्टमेण्ट के निचले भवन के सदस्य और स्थानीय प्रतिनिधि सभाओं के सदस्य भाग लेते हैं। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार ऊपरी भवन में यथासम्भव विशेषज्ञों, आर्थिक हितों तथा स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधि रहने चाहिये। इनमें अन्तिम दो का तो चुनाव होना चाहिये और प्रथम के लिये या तो विशेष संस्थाओं में चुनने का अधिकार दिया जा सकता है और या सरकार स्वयं नामजदगी कर सकती है।

—•—

पन्द्रहवाँ अध्याय

मताधिकार और प्रतिनिधित्व

यदि भारतवर्ष को एक राष्ट्र रहना है तो उसे साम्प्रदायिक निर्वाचन के राजनीतिक रोग से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये।

ऐनीबीसेंट

आप देख आये हैं कि आजकल प्रजातंत्र में नागरिक देश के शासन में सीधे भाग न लेकर अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन करते हैं। नागरिकों के अपने प्रतिनिधि का चुनने को चुनाव या निर्वाचन कहते हैं, उनके चुनने के कार्य को मत-प्रदान या वोट देना कहा जाता है। जो नागरिक चुनने का कार्य करते हैं उन्हें मत-दाता या वोटर कहा जाता है और उनकी राय को मत या वोट कहा जाता है। मत देने के अधिकार को मताधिकार (Franchise) कहा जाता है और मतदाताओं को सामूहिक रूप से निर्वाचक-मंडल (Electorate) कहा जाता है। उस क्षेत्र को जिससे एक प्रतिनिधि या कई प्रतिनिधि सामूहिक रूप से चुने जाते हैं निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहा जाता है। जिस कागज पर मत दिया जाता है उसे मत-पत्र या बेलट (Ballot) कहा जाता है। किसी प्रतिनिधि की मृत्यु, त्याग-पत्र आदि देने से जो कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व चुनाव करने होते हैं उन्हें उप-चुनाव (By-election) कहा जाता है। जिस स्थान पर वोट पड़ते हैं उन्हें चुनाव-स्थान (Polling Station) कहा जाता है।

मताधिकार (Franchise)

मताधिकार के स्वरूप के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। एक तो यह है कि जनता ही समस्त शक्ति का स्रोत है। अतएव प्रत्येक नागरिक को अपना प्रतिनिधि चुनने का जन्मसिद्ध अधिकार है। दूसरा मत यह है कि मताधिकार सामाजिक हित के लिये दिया जाता है। नागरिकों का एक अधिकार और कर्तव्य दोनों हैं और जनहित के लिये ही उसका उपयोग होना चाहिये। वास्तव में मताधिकार केवल जनहित के लिए नहीं है वरन् नागरिक के अपने विकास का भी एक आवश्यक साधन है। पर यह निर्वाचन का कार्य इतनी जिम्मेदारी का है कि बच्चों, मूर्खों, पागलों, दिवालियों, अपराधियों आदि को जो इस योग्य नहीं है यह नहीं दिया जा सकता।

यदि मताधिकार राष्ट्र के सभी नागरिकों को वयस्क होने पर बिना भेदभाव के दिया जाता है तो इसे वयस्क मताधिकार (Adult oruniversal suffrage) कहते हैं। यदि यह केवल वयस्क पुरुषों को ही प्राप्त हो तो इसे पुरुषमताधिकार (Manhood Suffrage) कहते हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के मत देने के अधिकार को नारीमताधिकार (Woman suffrage) कहा जाता है। आज कल विद्वानों की सम्मति है कि मताधिकार सभी वयस्क नर-नारियों को समान रूप से दिया जाना चाहिये।

वयस्क मताधिकार क्यों ?—(१) प्रजातन्त्र का मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समान है और जनता ही शक्ति का स्रोत है। यदि यह बात ठीक है तो नागरिकों को अन्य बातें ठीक रहने पर समान राजनीतिक अधिकार भी दिये जाने चाहिये। (२) मताधिकार प्राप्त हो जाने से व्यक्ति की आत्म-सम्मान की भावना बढ़ती है और उन्हें समाज में अपने महत्व का भान होने लगता है। यही बात उनके

व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त सहायता होती है । (३) राजनीतिक अधिकारों के बिना अन्य नागरिक अधिकारों की भी रक्षा नहीं की सकती है, अतएव ये आवश्यक हैं। (४) राज्य की नीति उसके निर्णय और कानून जब नागरिक के जीवन पर प्रभाव डालते हैं तो नागरिकों को भी इनके बनाने में कुछ प्रभाव डालने का अधिकार होना चाहिये । कम से कम अपने प्रतिनिधिओं को चुनने का अवसर तो उसे मिलना ही चाहिये । (५) यदि एक वयस्क नागरिक को मताधिकार नहीं मिलता तो राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में उसमें और एक विदेशी में कुछ भी भेद नहीं रह जाता यद्यपि उसके कर्तव्य विदेशी से कहीं अधिक होते हैं । (६) मताधिकार मिलने से नागरिकों में राजनीतिक जाग्रति पैदा होती है और सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि बढ़ती है। (७) इससे नागरिकों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है और उनमें नागरिक चेतना आती है । नागरिक समझने हैं कि वे एक हैं । सरकार को भी जनता की राय का पता चल जाता है और इससे उसमें दृढ़ता आती है । वह जानती है कि वह जनता की इच्छानुसार कार्य कर रही है और जनता उसके पीछे है।

वयस्क मताधिकार के विरुद्ध भी अनेक बातें कही जाती हैं। (१) लेकी और मेव कहते हैं कि यह अधिकार देना ना समझी है और खतरे से परिपूर्ण है । बलटश्ली के अनुसार राज्य के अधिकारियों को चुनने का अधिकार अयोग्य और नासमझ वर्गों को सौंपना अपने हाथों राज्य का नाश करना है। जो लोग इतने नासमझ हैं कि ठीक से अपनी राय भी नहीं बता सकते उनको इतना बड़ा उत्तरदायित्व देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता । (२) औसतन व्यक्ति अशिक्षित और गरीब होता है । न तो उसमें इतनी समझ या योग्यता होती है और न अवकाश ही कि वे सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी ले सकें या राजनीतिक विषयों को समझ सकें । उनका मस्तिष्क और दृष्टिकोण भी

इतना विकसित नहीं होता कि वे सामाजिक हित की बात सोच सकें। (३) राजनीतिक मामले अब दिन पर दिन इतने जटिल होते जा रहे हैं कि जन साधारण को उन्हें समझना या उन पर कोई राय बना सकना सम्भव नहीं है। (४) मताधिकार एक सामाजिक उत्तरदायित्व है और उसे बहुत सावधानी और सोच-विचार पूर्वक प्रयोग में लाया जाना चाहिए। अतएव इसे ऐसे व्यक्तियों को देना जो इसके योग्य नहीं है ठीक नहीं है।

शिक्षा का आधार—व्यस्क मताधिकार के विरुद्ध बताई गई युक्तियां गम्भीर तो हैं पर यही युक्तियाँ प्रजातन्त्र के विरुद्ध भी दी जा सकती हैं। तो क्या प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली को ही त्याग दिया जाय? अच्छा ही यदि नागरिक शिक्षित हों जिससे वह कोरी भावनाओं से प्रवाहित न हों और सार्वजनिक मामलों को समझ सकें। किन्तु पढ़े-लिखा होना हो तो सार्वजनिक कार्यों में रुचि पैदा नहीं कर देता। फिर क्या इस आधार पर भारतवर्ष के ८८% व्यक्तियों से मताधिकार ले लिया जाए? यह ठीक है कि किसान मज़दूर अशिक्षित होते हैं पर वे अपने हित और सार्वजनिक बातों को जितनी अच्छी तरह समझ लेते हैं उससे बता लगता है कि शिक्षा इसके लिये अनिवार्य नहीं है। फिर इनसे यदि राजनीतिक अधिकार ले लिए गये तो इनके सामाजिक अधिकारों की कौन रक्षा करेगा? अतएव अशिक्षा के आधार पर जन-समुदाय को मताधिकार से वंचित रखना एक भारी भूल है। फिर जब तक उन्हें ये अधिकार न मिलेंगे कौन उनके हितों और उनकी शिक्षा पर ध्यान देगा? अतएव बिना शिक्षा का प्रतिबन्ध लगाये मताधिकार देना ही ठीक होगा।

सम्पत्ति का आधार—कुछ लोग मताधिकार के लिये सम्पत्ति-सम्बन्धी योग्यता लगाना चाहते हैं। उनका कहना है कि वोट देने का

अवसर केवल उन्हें ही मिलना चाहिए जिनके हितों पर राज्य के कार्यों का प्रत्यक्ष असर पड़े। यह दलील थोथी है। सम्पत्ति रखने वालों को निर्धनों की तुलना में वैसे ही अनेक लाभ होते हैं। अपने धन द्वारा वह अपने लिये अनेक सुविधायें प्राप्त कर लेते हैं। फिर सम्पत्ति की योग्यता लगाना गरीबों के साथ दोहरा अन्याय है। एक तो गरीब मताधिकार से वंचित हो जायगें और दूसरे सम्पत्ति शालियों को आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व मिल जायगा। अतएव यह बात वांछनीय नहीं है।

नारी मताधिकार—कुछ समय पूर्व तक नारियों को पुरुषों के बराबर राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। इंगलैंड में उन्हें समानाधिकार कहीं सन १९२९ ई० में जाकर मिले। (१) कहा जाता है कि स्त्रियाँ शारीरिक रूप से दुर्बल होती हैं। वे राज्य की रक्षा के हेतु शस्त्र ग्रहण नहीं कर सकतीं। फिर उन्हें मताधिकार कैसे दिया जाय? यह ठीक है कि वे कमजोर हैं और इसी लिए अपनी रक्षा के लिए उन्हें यह अधिकार और भी मिलना चाहिए। फिर नारियाँ शस्त्र भले ही न उठावें पर अन्य क्षेत्रों में उनके कार्य किसी भी भांति पुरुषों से कम नहीं होते। (२) शारीरिक रूप से दुर्बल रहने पर भी बुद्धि में वे किसी से कम नहीं होतीं। जहाँ-जहाँ उन्हें समान सुविधायें तथा अवसर मिले हैं वे किसी से पीछे नहीं रहीं। (३) यदि प्रजातन्त्र व्यक्ति की समानता के सिद्धान्त को मानता है तो फिर लिंग के आधार पर भेदभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। (४) अपने व्यक्तित्व के विकास, नागरिक चेतना और राजनीतिक जागृति के लिये वे अधिकार नारियो के लिये भी उतना ही आवश्यक है जितना पुरुषों के लिये। अपने सामाजिक हितों की रक्षा के लिये भी उनके प्रतिनिधित्व की बहुत आवश्यकता है। (५) यह कहना कि राजनीतिक या सार्वजनिक जीवन में भाग लेने से

उनकी स्त्रियोचित गुणों का ह्रास हो जायगा ठीक नहीं है। इसके विपरीत स्त्रियों के सार्वजनिक क्षेत्र में आने से सार्वजनिक जीवन की बुराइयां और गन्दगी बहुत सीमा तक निकल जायगी। (६) यह कहना कि इसके कारण नारियाँ घरेलू कार्यों पर ध्यान देना बन्द कर देंगी भी गलत है। ठीक इसके विपरीत आज उनकी क्षुद्र मनोवृत्ति के कारण जो आपसी झगड़े होते हैं वह भी दूर हो जायगें। उनके दृष्टिकोण विकसित हो जायंगे और वे छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देने के स्थान पर देश की बड़ी बातों पर ध्यान देने लगेंगी। (७) यह कहना भी ठीक नहीं है कि राजनीतिक मतभेदों के कारण घर-घर में कलह फैल जायगा। इसके विपरीत पारिवारिक जीवन में एक नया सौंदर्य आजायगा और स्त्री-पुरुष सभी देश-हित की बातों पर ध्यान दे सकेंगे। गृह-कलह तभी हो सकती है जब पुरुष असहिष्णु हों पर असहिष्णुता कोई अच्छी बात नहीं है। उसका परित्याग कर देना ही अच्छा है। (८) कभी-कभी यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ न तो मताधिकार की माँग करती हैं और न उनको इसका कुछ ख्याल है। यह बात ठीक नहीं है। नारियां अब जाग्रत हो गई हैं। वे आज समान राजनीतिक अधिकारों की माँग कर रही है। उन्हें इससे वंचित करना अन्याय है। (९) यह कहा जाता है कि वे अपने राजनीतिक विचारों के लिये पुरुषों पर ही आश्रित हैं फिर उन्हें मताधिकार देने से क्या लाभ ? यदि ऐसा हो भी तो कोई हानि नहीं होगी। किन्तु यदि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने अधिकार का उपयोग करती हैं तो उसका बहुतों लाभ होगा। (१०) स्त्रियों को मताधिकार मिलने से धर्माधिकारियों का राजनीति में प्रभाव बढ़ जायगा। यदि वास्तव में यह एक बुराई है तो अच्छा है कि इसे दूर करने की ओर हम शीघ्र ध्यान दें। ऐसा तभी होगा जब हमें इसकी हानियाँ दिखलाई देने लगेंगी। (११)

फिर स्त्रियां अब राज्य कर सकती हैं, पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम कर सकती हैं तो फिर राजनीतिक क्षेत्र में भी वह क्यों न होना चाहिये ?

जहाँ तक हिन्दुस्तान का प्रश्न है राष्ट्रीय नेताओं की बराबर यह माँग रही है कि देश में सबको बिना किसी भेदभाव के मताधिकार मिले। हिन्दुस्तान की विधान परिषद् ने इस अधिकार का स्वीकार भी कर लिया है।

II चुनाव (Election)

चुनाव के लिए सर्व प्रथम मतदाताओं की सूची तैयार की जाती है। फिर उसे प्रकाशित किया जाता है ताकि जिन्हें कोई एतराज़ हो वह ऐसा कर सकें या जिनका नाम रह गया हो वे उसे लिखा लें। उसके पश्चात नामज़दगी के पर्चे (Nomination-papers] दाखिल करने की तारीख़ नियत कर दी जाती है। इसके साथ ज़मानत का रुपया भी जमा करना होता है। यदि उम्मेदवार के एक नियत संख्या से कम मत आते हैं तो यह जमानत ज़ब्त हो जाती है। नामज़दगी को वापस लेने के लिये भी कुछ समय दिया जाता है। इस समय के बीत जाने पर इन पर्चों की जाँच की जाती है और यह देखा जाता है कि इन में से कौन सी नामज़दगियाँ नियमित हैं। नियमित नामों की सूची छाप दी जाती है। चुनाव के दिन प्रत्येक मतदाता को एक मत-पत्र दिया जाता है। वह जिसको मत देना चाहता है उसके नाम के आगे एक चिन्ह [×] लगा देता है। उसमें अपने हस्ताक्षर नहीं करने चाहिये। वे पढ़े व्यक्तियों के मत-पत्रों पर चुनाव अफ़सर यह चिन्ह लगा देते हैं। यह मत-पत्र एक सील किये हुए बक्स में डाल दिये जाते हैं। चुनाव समाप्त होने पर उम्मेदवारों के एजेन्टों के सामने इन बक्सों को खोला जाता है और गिनती करके परिणाम की

घोषणा कर दी जाती है।

जहाँ मतदाता स्वयं मत पत्रों को भर कर अलग डाल देते हैं इसे गुप्त मत-प्रदान (Secret Voting) कहते हैं और जहाँ खुले आम व्यक्ति अपना मत देता है उसे खुला मत-प्रदान कहते हैं। गुप्त मत-प्रदान के लिए यह आवश्यक है कि सील किये हुए बक्स कमरे में या पर्दे में इस प्रकार रक्खे जायँ कि बाहरी व्यक्ति उसे न देख सकें। हिन्दुस्तान में जन-समुदाय के अशिक्षित होने के कारण पर्चे पर बिना चिन्ह लगाये बक्सों में डालने को कह दिया जाता है। इन बक्सों के रंग अलग अलग रहते हैं और मतदाताओं को यह पहले से ही पता रहता है कि किस रंग का बक्स किस उम्मेदवार का है। पर अनेक व्यक्तियों के बक्स के पास रहने से मत के संबन्ध में कोई गोपनीयता नहीं रहती।

अनिवार्य मतदान [Compulsory Voting]—कहीं कहीं यह नियम है कि यदि मतदाता बिना यथेष्ट कारण के यदि मत न दे तो उसे जुर्माना देना होता है। यह ढंग अनिवार्य मतदान कहलाता है। पर जो व्यक्ति स्वयं सार्वजनिक कार्यों में रुचि नहीं लेते उनके साथ इस जबरदस्ती से क्या लाभ हो सकता है? अतः इस प्रथा को अधिक प्रचलन नहीं है।

अधिक मत-प्रदान [Plural Voting] प्रायः ऐसा होता है कि एक व्यक्ति कई निर्वाचक-क्षेत्रों से वोट देने का अधिकारी होता है। विशेष निर्वाचक-क्षेत्र रहने पर तो यह बात प्रायः देखने में आती है। इस संबन्ध में राज्य यह नियम बनाता है कि किस अवस्था में एक से अधिक वोट दी जा सकती है। अधिकतम वोटों की संख्या भी नियत करदी जाती है। मिल का मत था कि पढ़े लिखे व्यक्तियों

को अनपढ़ों से अधिक मत मिलने चाहिये किंतु इस प्रकार की बातों को अब ठीक नहीं समझा जाता।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चुनाव—प्रत्यक्ष चुनाव में मतदाता सीधे अपने प्रतिनिधि को चुनते हैं। इससे प्रतिनिधि अपने को जनता के प्रति उत्तरदायी समझता है और मतदाताओं में भी राजनीतिक चेतना बढ़ती है। दूसरा ढंग अप्रत्यक्ष चुनाव [Indirect Election] का है। इस में मतदाता एक निर्वाचक-मंडल [Electoral College] को चुनता है और यह निर्वाचक-मंडल चुनाव करता है। इस रीति से प्रजातंत्र के दोष कुछ कम हो जाते हैं। वातावरण भी शांत रहता है और निरंकुशशासक बनने के प्रयत्न होने का भी भय नहीं रहता। पर इससे जनता में अविश्वास प्रगट होता है, पदाधिकारी को जनता से सम्पर्क और उसके प्रति उत्तरदायित्व परोक्ष हो जाता है और इस में गड़ बड़-घुटाले के अवसर रहते हैं।

III प्रतिनिधित्व, Representation

प्रश्न यह उठता है कि प्रतिनिधि का अपने निर्वाचकों के साथ क्या सबन्ध होना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर दे सकना सरल नहीं है। फिर भी इस संबन्ध में दो मत प्रचिलित हैं। एक तो यह है कि एक बार चुने जाने के बाद प्रतिनिधि को पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिये कि वह अपने विवेक के अनुसार काम ले। यदि उसे लोकमत और अपने राजनीतिक भविष्य का ख्याल है तो वह स्वयं ऐसा कोई कार्य न करेगा जो निर्वाचकों की इच्छा के विरुद्ध है। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि प्रतिनिधि केवल अपना ही प्रतिनिधित्व तो करता नहीं वह एक पूरे निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है। अतएव उसे अपने निर्वाचकों के मत और दृष्ट कोण के अनुसार कार्य करना

चाहिये। पर यह विचार मान्य नहीं हो सकता। एक तो किसी प्रश्न पर निर्वाचकों की स्पष्ट राय जानना कठिन है। दूसरे इस कार्य में देरी लगती है। तीसरे इस बन्धन को कोई भी सम्माननीय व्यक्ति स्वीकार न करेगा। चौथे इससे प्रतिनिधियों का महत्व बहुत कम हो जाता है। पाँचवें, ऐसा होने से प्रतिनिधि को स्थानीय बातों पर बहुत बल देना होगा और इससे देश को क्षति पहुंचने की आशंका रहेगी। अतएव यही उचित प्रतीत होता है कि एक बार चुनने के बाद प्रतिनिधि को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। उसके सामने बातें तो रक्खी जांय पर उसे उनको मानने के लिये कानून बाध्य न किया जाय। यदि वह ठीक न रहे तो अगले चुनाव में उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति चुन लिया जाय।

यह प्रश्न एक दूसरे रूप में भी सामने आता है। यदि प्रतिनिधि एक कार्यक्रम के आधार पर चुना गया है और बाद में वह उस दल तथा कार्यक्रम को त्याग देता है तो क्या हो? कानूनी तौर पर इस समस्या का हल होना कठिन है। हाँ यह एक नैतिकता का प्रश्न बनाया जा सकता है कि विचार-परिवर्तन के पश्चात् सदस्य को सदस्यता से त्याग पत्र देकर पुनर्निर्वाचन के लिये खड़ा होना चाहिये।

भौमिक और व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—प्रतिनिधित्व प्रायः भौमिक (Territorial) होता है। एक निश्चित जनसंख्या अथवा मत दाताओं के पीछे कुछ प्रतिनिधि चुने जाते हैं। यही प्रथा आम तौर पर प्रचलित है। पर कुछ दिनों से इसकी आलोचना की जा रही है। कहा जाता है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का प्रतिनिधित्व जीवन के समस्त क्षेत्रों में नहीं कर सकता, केवल एक क्षेत्र में कर सकता है। यह आशा करना कि राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में एक व्यक्ति अपने निर्वाचकों के ठीक

प्रतिनिधित्व करे व्यर्थ है। इस आधार पर यह माँग की जाती है कि प्रतिनिधित्व व्यवसाय के आधार (Functional) पर होना चाहिये। पर यह सुझाव भी दोष पूर्ण है। (१) इससे केवल आर्थिक पक्ष का ठीक प्रतिनिधित्व यदि हो भी गया तो अन्य क्षेत्रों में वही बात रहेगी। (२) इस रीति में प्रत्येक प्रतिनिधि अपने स्वार्थ पर ध्यान देगा देश के हित की बात कोई न सोचेगा। (३) यह स्थिर करना बहुत कठिन है कि किस व्यवसाय को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाय, क्या यह जनसंख्या के आधार पर दिया जाय? या महत्व के आधार पर? फिर इस महत्व की जाँच कौन करेगा? इसका क्या मापदण्ड होगा आदि। इस रीति में वास्तव में इतनी कठिनाइयाँ हैं कि इसके प्रचारकों तक ने इसका समर्थन करना छोड़ दिया है।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व—भारत वर्ष में सन् १९३५ के विधान के अंतर्गत प्रतिनिधित्व न तो पूर्णतया भौगिक ही है और न व्यावसायिक। कुछ व्यवसायों को विशेष प्रतिनिधित्व किया गया है। प्रतिनिधित्व का आधार किसी अंश तक भौगिक भी है। पर प्रतिनिधियों को पृथक सम्प्रदायों में बांट दिया गया है। ये धार्मिक सम्प्रदाय पृथक निर्वाचक क्षेत्रों से अपने साम्प्रदायिक प्रतिनिधि चुनते हैं। इस प्रकार से साम्प्रदायिक भावना को उत्तेजित करने के सभी सामान तैयार कर दिये गये हैं। साम्प्रदायिक चुनावों को ब्रिटिश सरकार ने सर्वप्रथम सन् १९०६ ई० में मुसलमानों के लिये स्वीकार किया था। उसके बाद साम्प्रदायिक निर्वाचन बराबर बढ़ते रहे। सन् १९३५ ई० के शासन विधान में भारतवर्ष के सभी धार्मिक सम्प्रदायों को ये दे दिये गये। यही नहीं स्त्रियों, व्यापार, ज़मींदार आदि सीटों का भी साम्प्रदायिक आधार पर बंटवारा कर दिया गया यही नहीं इन अल्पसंख्यात्मक समुदायों को अपने अनुपात से अधिक सीटें

दी गईं। धीरे धीरे साम्प्रदायिकता का यह विष इतना फैला कि धारा सभा, स्थानीय बोर्ड, सरकारी नौकरियों आदि सभी क्षेत्रों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग की जाने लगी। इससे आपस में कटुता बढ़ने लगी और अंत में आकर मुस्लिम लीग ने यह मांग पेश कर दी कि मुस्लिम एक पृथक राष्ट्र है और उनका एक पृथक राज्य पाकिस्तान के नाम से होना चाहिये। इस साम्प्रदायिक नीति का फल आज पाकिस्तान के रूप में हमारे सामने है।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विरोध में जो भी कहा जाय थोड़ा है। (१) यह धार्मिक कटुता पैदा करता है। जब प्रतिनिधि धार्मिक आधार पर चुने जायंगे तो उसका यही अवश्यम्भवी परिणाम होगा। (२) इसके कारण एक सामान्य भावना का विकास नहीं हो पाता कारण यह कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधि अपने क्षुद्र स्वार्थों की बात पहले सोचते हैं। (३) इसके कारण आपस में मिल जुल कर रहने या समझौता करने की भावना का लोप हो जाता है। साम्प्रदायिक उत्तेजना बढ़ती है और उसके साथ ही अल्पसंख्यक समुदायों की माँगे भी बढ़ती जाती हैं। (४) यह अराष्ट्रीय और अप्रजातंत्रीय है क्योंकि इसमें समानता को स्वीकार करने के स्थान पर कृत्रिम मेदों पर बल दिया जाता है। (५) इससे अल्पसंख्यकों का कोई लाभ नहीं हो सकता चाहें उन्हें अनुपात से अधिक कितना ही प्रतिनिधित्व क्यों न मिल जाय पर वे कभी बहुमत में नहीं आ सकते। यदि बहुसंख्यक समुदाय के प्रतिनिधियों को चुनने में उनका हाथ हो तो वे उनसे कुछ आशा भी कर सकते हैं। नहीं तो कुछ भी आशा करना व्यर्थ है। (६) इसे सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन बहुत गदला हो जाता है। प्रजातंत्र के लिये यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल बल या धर्म के आधार पर न बनें वरन् आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम पर बनाये

जांय। ऐसा होने पर ही यह सम्भव है कि आज का अल्पमत कल का बहुमत बन जाय। पर राजनीतिक अल्पमतों का स्थान यदि धार्मिक अल्पसंख्यक लेलेंगे तो इसका परिणाम भंयकर होना स्वाभाविक ही है। ये अल्पसंख्यक कभी पदारूढ़ तो हो नहीं सकते अतएव उनकी राजनीति क्रियात्मक न होकर ध्वंशात्मक बन जायगी। यही हिन्दुस्तान में हुआ भी है। अपने ब्रिटिश प्रभुओं के लगाये गये विष-वृक्ष का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। जो होना था वह तो हुआ ही पर नवीन हिन्दुस्तान में हम यदि इस अनुभव से लाभ नहीं उठावगें तो हमारी कठिनाइयों का अंत न होगा। हमें अब यह निश्चय कर लेना चाहिये कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की नीति विषैली है और आगे उसे नहीं चलने देना है। अल्पसंख्यकों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देना भी अप्रजातंत्रीय है और इस को भी अंत कर दिया जाना चाहिये। अल्पसंख्यकों को जो अधिक से अधिक रियायत दी जा सकती है वह है उनकी आबादी के अनुपात से प्रतिनिधित्व हो। पर यह सयुंक्त निर्वाचन [Joint Electorate] के आधार पर होना चाहिये। जिससे आपस में फूट न फैले।

IV अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधित्व
(Minority Representation)

अल्प-संख्यको से यहाँ हमारा अभिप्राय साम्प्रदायिक अल्प संख्यको से नहीं है वरन राजनीतिक अल्प-संख्यको से है। एक अच्छी चुनाव की परिपाटी के लिये यह आवश्यक है कि बहुमत वालो को सीटें मिलें पर साथ ही अल्पसंख्यको को भी उनके अनुपात अनुसार प्रतिनिधित्व मिले जिससे धारा सभा देश का सच्चा प्रतिनिधित्व करे। यह ठीक है कि प्रजातंत्र बहुमत का शासन है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अल्पमत को प्रतिनिधित्व ही न मिले या उसकी सुनवाई ही न हो। न्याय का

तकाजा यह है कि सब को उनकी संख्या तथा महत्व के अनुसार अवसर मिले।

सब से पहले निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) का प्रश्न आता है। निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्य वाले (Single member) या अनेक सदस्य वाले (Multi member) हो सकते हैं। देश को प्रायः अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है, और प्रत्येक से एक सदस्य चुना जाता है। इसके विपरीत अनेक सदस्य वाले निर्वाचनक्षेत्रों में एक से अधिक सदस्य चुने जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पूरे देश को ही एक निर्वाचन क्षेत्र बना दिया जाता है और सब सदस्यों को एक साथ चुना जाता है। इस प्रणाली को 'जनरल टिकट सिस्टम' कहा जाता है।

एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र के लाभ ये हैं कि इनमें चुनाव का ढंग बहुत सरल तथा सुविधाजनक होता है। जो भी व्यक्ति सबसे अधिक मत पाता है वही सफल घोषित कर दिया जाता है। इसमें सदस्यों का भी मतदाताओं से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसमें मत दाताओं को प्रतिनिधि की व्यक्तिगत जानकारी रहती है और प्रतिनिधियों को भी अपने उत्तरदायित्व का भान रहता है। पर इस प्रणाली के अनेक दोष हैं। (१) इसमें निर्वाचन क्षेत्र बहुत छोटे होते हैं। अतएव उसमें योग्य व्यक्ति भी अधिक नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ कि मत दाताओं के चुनाव का दायरा बहुत सीमित रहता है। (२) इसमें स्थानीय बातों को देश के हित के सामने अधिक महत्व दिया जाता है। (३) इसमें बहुत से व्यक्तियों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इसमें पूरा प्रतिनिधित्व बहुसंख्यकों को मिल जाता है चाहे यह बहुमत बहुत ही थोड़ा हो और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं। (४) इस प्रणाली में देश का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। कभी-कभी ऐसा

भी होता है कि तीन उम्मेदवारों में जो सफल होता है उसे कुल मतों का बहुमत प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार यह सम्भव है कि एक अल्प संख्यक दल की धारा सभा में बहुमत मिल जाय। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि अल्पसंख्यकों को उचित अनुपात से भी स्थान न मिलें। ये दोनों ही बातें खराब हैं। (५) इस प्रणाली में 'गैरीमैन्डरिंग' [Gerrymandering] को प्रोत्साहन मिलता है। इस अर्थ निर्वाचन-क्षेत्रों को इस प्रकार बाँटना है कि विरोधी तो कुछ निर्वाचन-क्षेत्रों में एक बड़े बहुमत में सीमित हो जाय और अपना बहुमत अधिक से अधिक निर्वाचन-क्षेत्रों में फैल जाय जिससे अपने दल को अधिकतम स्थान मिल जांय। इन खराबियों को अनेक सदस्य वाले निर्वाचन-क्षेत्र बनाकर कुछ सीमा तक दूर किया जा सकता है। किन्तु उसकी बुराई यह है इसमें मतदाताओं और उनके प्रतिनिधि में निकट सम्पर्क नहीं रहता। इसमें खर्च भी अधिक पड़ता है और चुनाव में भी कठिनाई उपस्थित होती है।

दूसरे बैल्ट की प्रणाली—एक सदस्य वाले निर्वाचन-क्षेत्र की खराबियों को दूर करने के लिये यह प्रथा निकाली गई है। इस के अनुसार यदि चुनाव में तीन या अधिक उम्मेदवार होते हैं और उन में से किसी को चुनाव में पूर्ण बहुमत [Absolute majority] यानी पूरे वोटों में बहुमत प्राप्त नहीं होता तो प्रथम दो उम्मेदवारों को छोड़ कर शेष का नाम काट दिया जाता है और मतदाताओं से उन दो उम्मेदवारों में से एक को चुनने को कहा जाता है। इसमें उम्मेदवार बहुसंख्यक मतदाताओं का तो चुन जाता है पर अल्पसंख्यकों को फिर भी कोई स्थान नहीं मिलता।

वैकल्पिक वोट की प्रणाली—इस में निर्वाचन-क्षेत्र एक ही सदस्य वाला रहता है। पर चुनाव के लिये पूर्ण बहुमत आवश्यक

होता है। यद्यपि वोटर अपना वोट एक ही दे सकता है पर वह यह कह सकता है कि यदि उसका उम्मेदवार न चुना जाय तो उसके स्थान पर वह किसे चाहेगा। इस प्रकार वह अपनी पहली दूसरी तीसरी राय [Preferency] दे सकता है। यदि प्रथम पसन्द की वोट गिने जाने पर किसी को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो सब से कम वोट पाने वाले उम्मेदवार की वोट दूसरी पसन्द वालों में बाँट दी जाती हैं ऐसा तब तक होता है जब तक कि एक सदस्य पूर्ण बहुमत प्राप्त न करले। इसे वैकल्पिक वोट प्रणाली (Preferential or Alternate Vote System) कहते हैं। इसके गुण दोष वही हैं जो दूसरे बैल्ट की प्रणाली के हैं। इसमें दूसरे चुनाव की आवश्यकता नहीं रहती।

सीमित वोट की प्रणाली—इस में अनेक सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक क्षेत्र से प्रायः तीन या अधिक सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्येक वोटर को एक से अधिक वोट पर प्रतिनिधि संख्या से कम वोट प्राप्त होते हैं। यदि स्थान पाँच हों तो मतदाताओं को तीन या चार वोट देने का अधिकार दिया जाता है। पर किसी भी सदस्य को एक से अधिक वोट नहीं दी जा सकती। इससे लाभ यह रहता है कि अल्पसंख्यकों को कुछ स्थान प्राप्त हो जाते हैं। पर यह प्रतिनिधित्व अनुपात के अनुसार नहीं होता। इसे सीमित वोट प्रणाली (Limited Vote System) कहते हैं।

एकत्रित वोट की प्रणाली—इस में भी निर्वाचक-क्षेत्र अनेक सदस्यों वाले होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतनी ही वोटें मिलती हैं जितने कि सदस्य चुनने होते हैं। पर यदि मतदाता चाहे तो अपने वोटों को एक या अधिक सदस्यों को भी दे सकता है। इस प्रकार अल्पसंख्यक कुछ स्थानों पर अधिकार कर सकते हैं। इसे एकत्रित वोट

की प्रणाली (Cumuletive Vote System) कहते हैं। इस में भी ठीक अनुपात से प्रतिनिधित्व नहीं मिलता।

एक वोट की प्रणाली—इस में निर्वाचन-क्षेत्र बहुसंख्यक होते हैं। किन्तु मतदाताओं को केवल एक मत देने का अधिकार होता है। इस से अल्पसंख्यकों को कुछ स्थान तो मिल जाते हैं पर वह उनके अनुपात के अनुसार नहीं होता। इसे एक वोट की प्रणाली (Sngle Vote System) कहते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व—आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के दो मुख्य तरीके हैं। (१) हस्तांतरित वोट की प्रणाली (Single Transferable Vote System या हेयर प्रणाली (Hare System) और लिस्ट प्रणाली (List System) यहां हम पहले लिस्ट प्रणाली पर विचार करेंगे।

लिस्ट प्रणाली—इस में निर्वाचन-क्षेत्र अनेक सदस्यों वाला होता है। कभी-कभी पूरा देश ही एक निर्वाचन-क्षेत्र मान लिया जाता है। इस में राजनीतिक दल अपने उम्मेदवारों की सूची (List) तैयार करते हैं और उन में क्रम से सदस्यों के नामों को लिख देते हैं। इस में मतदाता वोट एक दल की पूरी सूची को देता है व्यक्तिगत उम्मेदवारों को नहीं। बाद में वोटों को गिन कर उन्हीं के अनुपात से विभिन्न दलों की सदस्य संख्या निर्धारित कर दी जाती है। जिस दल के जितने सदस्य होते हैं उतने ही सदस्य उस दल की सूची के ऊपर सफल घोषित कर दिये जाते हैं। यह प्रणाली अक्टूबर १९४६ से फ्रांस में प्रचलित है।

हस्तांतरित वोट की प्रणाली—इस में भी निर्वाचन-क्षेत्र अनेक सदस्यों वाले होते हैं। पर प्रत्येक मतदाता को केवल एक मत देने का

अधिकार रहता है। इसमें सब उम्मेदवारों की एक सम्मिलित सूची बना ली जाती है और मतदाता को उसमें अपनी पसन्द बतलाने को कहा जाता है। वैकल्पिक वोट की प्रणाली के समान इस में भी वह अपनी पसन्द एक के पश्चात् दूसरी बतला सकता है। यह पसन्द वह नामों के आगे संख्या (१, २, ३, ४.....) लिखकर प्रगट करता है। चुने जाने के लिये इसमें सदस्यों की चुनाव की संख्या (Electorate Quota) के बराबर वोट मिलने चाहिये। पहले यह संख्या मतदाताओं की संख्या में स्थानों का भाग देकर निकाला जाता था। पर इससे कहीं अच्छा ढंग बाद में ड्रूप (Droop) ने सन् १८८१ ई० में खोज निकाला और यही अब अधिकता से प्रचलित है। इसके अनुसार मतदाताओं की संख्या को रिक्त स्थानों की संख्या में एक जोड़ कर भाग दिया जाता है और जो विभाजक निकलता है उसमें भी एक संख्या और जोड़ दी जाती है। इस ढंग को यूँ प्रगट किया जा सकता है। चुनाव संख्या मतदाताओं की संख्या व सीटों की संख्या + १ उदाहरण के लिये यदि कुल मतदाताओं की संख्या ५००० है और रिक्त स्थान ४ है तो चुनाव संख्या १००१ होगी। पहली गणना में यह देखा जाता है कि किसी सदस्य ने चुनाव संख्या के बराबर या उस से अधिक चुनाव-संख्या प्राप्त की है या नहीं। यदि ऐसा हुआ है तो वह सदस्य चुना मान लिया जायगा। यदि उसके वोट अधिक हैं तो यह अतिरिक्त मत (Surplus Votes) मतदाताओं की दूसरी पसन्द वाले सदस्यों में बाँट दिये जायेंगे। यदि इस बार कोई व्यक्ति चुनाव-संख्या तक पहुंच जाता है तो ठीक नहीं, तो सब से कम मत वाले उम्मेदवार को सूची से हटा कर उसके मतों को दूसरी पसन्द वाले सदस्यों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार ही आगे यह कार्यवाही तब तक होती रहती है जब तक सभी रिक्त स्थानों की पूर्ति न हो जाय। नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है :—

कुल मतों की संख्या = ५०००				स्थान ४						चुनाव संख्या = १००१
उम्मेदवारों के नाम	१ ली ग०	२ री गणना		३ री गणना		४ थी गणना		५ वीं गणना		अंतिम
		घटा बढ़ी	परिणाम	घटा बढ़ी	परिणाम	घटा बढ़ी	परिणाम	घटा बढ़ी	परिणाम	परिणाम
क	१४००	-३९९	१००१		१००१		१००१		१००१	निर्वाचित
ख	४५०	+९९	५४९		५४९	+५०	५९९		५९९	
ग	२५०		२५०	-२५०	—		—		—	
घ	७००	+२००	९००		९००	+१०१	१००१		१००१	निर्वाचित
ङ	३००		३००		३००	-३००	—		—	
च	७५०	+१००	८५०	+१५१	१००१		१००१		१००१	निर्वाचित
छ	३५०		३५०		३५०		३५०	-३५०	—	
ज	८००		८००	+८१	८८१	+१००	९८१	+२०	१००१	निर्वाचित
बेकार या खराब वोट				+१८	१८	+४९	६७	+३३०	३९७	
योग	५०००	...	५०००	...	५०००	...	५०००	...	५०००	

उपरोक्त उदाहरण से इस प्रणाली की गणना का ढंग स्पष्ट हो जायगा। हिन्दुस्तान की विधान परिषद् को प्रान्तीय धारा सभाओं द्वारा इसी आधार पर चुना गया है। अन्तर यह था कि चुनाव के लिये सिख, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम तीन निर्वाचक-मंडल पृथक कर दिये गये थे। यह ढंग आनुपातिक प्रतिनिधित्व तो दिला देता है पर इस में मतदाताओं और गणना करने वालों को झमेला बहुत करना पड़ता है। यही नहीं निरक्षर वोटरों के लिये तो इस प्रणाली को चलाना ही सम्भव नहीं है। फिर इस में छोटे छोटे दलो को बहुत प्रोत्साहन मिलता है यद्यपि ये दल राजनीतिक जीवन में विशेष महत्व नहीं रखते। बड़े निर्वाचन क्षेत्र होने से सदस्यों का निर्वाचकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क भी नहीं रहता और उप चुनावों के समय बड़ी दिक्कत होती है। या तो सीधा चुनाव करना होता है या पहले से ही यह नियम बनाना होता है कि जिस दल का वह व्यक्ति हो उसी का सदस्य ले लिया जाय। यह प्रणाली सरकारी कार्यक्रम के बारे में एक निश्चयात्मक उत्तर देने में बाधक होती है। साथ ही इस में संयुक्त सरकारें बनानी होती हैं जो कोई सक्रिय नीति को चलाने में असमर्थ रहती हैं। यही नहीं इससे पार्टियों का संगठन और भी ढद हो जाता है। विद्वानों का मत है कि आधुनिक सरकार की सब से बड़ी समस्या एक ऐसी नीति बनाना और उसे पूरा करना है जो जनहित के लिये हो। आनुपातिक प्रतिनिधित्व में यह बात बहुत कठिन हो जाती है।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली—किसी प्रणाली को आदर्श कह सकना तो कठिन है पर एक अच्छी निर्वाचन-प्रणाली में निम्न बातों का होना आवश्यक समझा जाता है। (१) विचारकों का मत है प्रजातंत्र में वयस्क मताधिकार होना चाहिये। (२) चुनाव प्रत्यक्ष होने चाहियें और मत-प्रदान गुप्त होना चाहिये। (३) सदस्यता की अवधि

न तो १–२ वर्ष होनी चाहिये और न ७–८ वर्ष। अमेरिका के निचले भवन की तरह दो वर्ष की अवधि ठीक नहीं समझी जाती। आम तौर पर ४, ५ वर्ष की सदस्यता को ठीक समझा जाता है। (४) नागरिकों को किसी प्रकार के विशेषाधिकार नहीं दिये जाने चाहिये। मताधिकार सब के लिये समान होना चाहिये। सब को एक मत दिया जाना चाहिये। (५) अल्पसंख्यकों का उचित प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिये। पर उसकी रीति पृथकता की भावना को उत्पन्न करने वाली न होनी चाहिये। साथ ही उन्हें अनुपात से अधिक स्थान देना भी अनुचित होगा। (६) प्रतिनिधियों को डैलीगेट न समझना चाहिये। उसे अपने विवेक से काम लेने की स्वतंत्रता रहनी चाहिये। (७) चुनाव संबन्धी गड़बड़ी की पूरी रोक थाम होनी चाहिये। चुनाव शाँति पूर्ण वातावरण में होने चाहिये (८) सदस्यों को वेतन मिलना चाहिये जिस से निर्धन व्यक्तियों को भी सेवा करने के समान अवसर मिल सकें।

—: ० :—

सोलहवाँ अध्याय

राजनीतिक दल

दो राजनीतिक दलों के रहने पर प्रतिनिधात्मक सरकार सब से अधिक संतोषजनक ढंग पर काम करती है। इस में एक संघठित रूप से शासन का पक्ष करता हो और दूसरा दृढ़ विरोध करता हो।

—डबलू. बी. मुनरो

हम कह आये हैं कि राजनीतिक दल प्रजातंत्र को चलाने के लिये आवश्यक हैं। उनके बिना एक बड़े पैमाने पर प्रजातंत्र का चल सकना असम्भव हो जायगा। लार्ड ब्राइस हमें बतलाते हैं कि यथार्थ में राजनीतिक दल प्रजातंत्रों से भी पहले के हैं। रोमन युग में भी इस प्रकार के दल थे। उसके पूर्व भी इस प्रकार के दलों के अस्तित्व का पता लगता है। पर ये पुराने दल वर्तमान राजनीतिक दलों से कुछ भिन्न हैं। आज कल के दलों की तुलना में इन्हें राजनीतिक गिरोह (Faction) कहा जायगा।

राजनीतिक दल नागरिकों के एक ऐसे समुदाय को कहते हैं जो अपने सम्मिलित प्रयत्नों स राष्ट्रीय हित में और वैधानिक उपायों द्वारा सरकार पर अधिकार कर अपनी नीति, सिद्धान्तों और कार्यक्रम को कार्य रूप में परिणित करना चाहते हैं। मोटे रूप में एक राजनीतिक दल के विचार एक जैसे होते हैं। तफ़सील की बातों पर उनमें मत भेद भले ही हो पर बुनियादी बातों में उनके विचार मिलते हैं। वे सरकार पर अधिकार करने के लिये चुनावों में विजय प्राप्त करना

चाहते हैं। इसके लिये वे निरंतर प्रचार करते रहते हैं और क्रियात्मक काम भी करते हैं जिस से उन्हें जनता की सहानुभूति और सहायता प्राप्त हो सके। इस प्रकार राजनीतिक दल के लक्षण ये हैं। (१) एक संगठित व्यक्ति समुदाय, (२) जो देश के हित के लिये कार्य करना चाहता है, (३) जिनकी नीति और विचार-धारा एक है, और (४) जो वैधानिक उपायों पर सरकारी मशीन पर अधिकार कर अपने कार्यक्रम को पूरा करना चाहता है।

राजनीतिक गिरोह और दल में भेद यह है कि गिरोह तो व्यक्तिगत स्वार्थ या वर्ग-हित के लिये होते हैं और दल सार्वजनिक हित के लिये। इस भेद पर अब कम ध्यान दिया जाता है।

दलों का आधार—राजनीतिक दलों का मनोवैज्ञानिक आधार यह बतलाया जाता है कि मनुष्य में चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं : सहानुभूति, अनुकरण, स्पर्द्धा और प्रतिरोध। प्रत्येक समाज में सार्वजनिक विषयों पर कई विचार हो सकते हैं। योग्य व्यक्ति अपने विचारों को जनता के सामने रखते हैं। अन्य व्यक्ति उन का अनुसरण करने लगते हैं। अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिये और मत का प्रचार करने के लिये ये व्यक्ति अपना संगठन कर लेते हैं और इस प्रकार राजनीतिक दलों का जन्म होता है।

राजनीतिक दल कभी कभी नस्ली फ़र्क (Racial Differences) धार्मिक मतभेद अथवा भाषा के आधार पर संगठित किये जाते हैं। पर इस प्रकार के समुदाय केवल विद्वेष का प्रचार करने के और कोई क्रियात्मक कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार की दल बन्दी पिछड़े लोगों में ही अधिक दिनों तक चल सकती है। उन्हें आगे चलकर किसी न किसी सामाजिक और आर्थिक नीति को अपनाना होता है।

यही बात उन दलों के संबन्ध में भी लागू होती है जो राष्ट्रीयता का आधार लेकर बनते हैं। जब तक देश स्वाधीन न हो तब तक तो वे केवल राष्ट्रीयता का आधार लेकर खड़े रह सकते हैं। बाद में उन्हें भी एक सामाजिक और राजनीतिक नीति को अपना कर चलना होता है। सार्वजनिक भलाई के लिये ऐसा होना ठीक भी है और अच्छा भी कि जनता के सामने प्रत्येक दल के सामाजिक और राजनीतिक विचार स्पष्ट हों। इन विचारों के आधार पर कई दल बन सकते हैं। कुछ लोग वर्तमान अवस्था के समर्थक हो सकते हैं, कुछ लोग सुधार-वादी हो सकते हैं, और कुछ केवल सुधार से संतुष्ट न रह कर आमूल-चूल परिवर्तन की माँग कर सकते हैं। इन्हीं विचारों के आधार पर दलों की स्थापना की जा सकती है।

राजनीतिक दलों के कार्य—राजनैतिक दलों के अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं। (१) इस में प्रमुख कार्य अपने सिद्धान्तों के अनुसार जनता के सम्मुख एक निश्चित दृष्टिकोण, नीति और कार्यक्रम उपस्थित करना है। साथ ही हर सम्भव उपायों द्वारा जनता में अपनी विचार-धारा का प्रचार भी करना है। इसके लिये वे सभायें करते हैं, प्रदर्शन करते हैं, समाचार-पत्रों तथा अन्य उपायों द्वारा प्रचार का काम करते हैं। इस निरंतर प्रचार के कारण नागरिकों को विभिन्न बातों की अच्छाइयों और बुराइयों का पता लग जाता है। (२) इनके प्रचार का उद्देश्य अपने लिये नये समर्थकों को बनाना है। पर परोक्ष रूप से इससे राजनीतिक शिक्षा और चेतना भी फैलती है। प्रत्येक दल का प्रयत्न यह रहता है कि अपने दल को वह इतना प्रभावशाली बना ले कि देश का शासन उसके अनुसार चलाया जा सके। (३) इसके लिये राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं। वे उम्मेदवारों को चुनते हैं, वोटरों की सूची बनवाने में सहायता देते हैं। अपने उम्मेदवारों के

पक्ष में प्रचार करते हैं। मतदाताओं से अपने उम्मेदवार के समर्थन की प्रार्थना करते हैं, नियत दिन पर वोटर को चुनाव-स्थान पर ले जाने का प्रबन्ध करते हैं आदि यह सब इस लिये कि उनके उम्मेदवारों की विजय हो। (४) यदि उनका दल विजय प्राप्त करता है तो वे शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते हैं और अपना कार्यक्रम पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। प्रायः राजनीतिक दलों के अपने रिसर्च-विभाग भी होते हैं जहाँ सार्वजनिक मामलों में निरंतर खोजबीन के कार्य होते रहते हैं। (५) यदि उनका दल बहुमत में नहीं होता तो उनका प्रयत्न यह रहता है कि पदारूढ़ दल की भूलों से लाभ उठाकर उनके विपक्ष में प्रचार किया जाय। यही नहीं वे जनता के दुख-दर्द की शिकायत धारा-सभा में करते हैं, सरकारी कानूनों और शासन-प्रबन्ध की खराबियां बतलाते हैं और दशा में सुधार करने के लिये अपने सुझाव देते रहते हैं। वे इस बात के लिये भी तत्पर रहते हैं कि यदि पदारूढ़ दल किसी कारणवश त्यागपत्र देने को बाध्य हो जाय तो वे स्वयं शासन प्रबन्ध अपने हाथों में ले सकें। (६) राजनीतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य और सहयोग बनाये रखने का काम करते हैं। उत्तरदायी सरकार में तो यह कार्य अत्यंत सरल होता है क्योंकि उसमें धारा-सभा और कैबीनेट दोनों में ही एक दल का बहुमत रहता है। पर अनुत्तरदायी सरकारों में और विशेष तौर पर यदि वे शक्ति के विभाजन के सिद्धान्त पर संगठित हों, यह कार्य कुछ कठिन होता है पर साथ ही अत्यंत आवश्यक भी। इनमें राजनीतिक दलों के बिना सरकारी विभागों में एक गति अवरोध उत्पन्न हो जाय और कुछ भी काम न हो सके। (७) वे सरकार के कामों को अपने दृष्टिकोण से जनता को बतलाते हैं। वे नागरिकों को समझाते हैं कि उनकी पार्टी जनता की भलाई के लिये क्या कर चुकी है, क्या कर रही है और आगे क्या करना चाहती है। साथ ही वह

जनता के विचारों, उनकी कठिनाइयों और इच्छाओं को सरकार के कानों तक पहुंचाते हैं जिससे पार्टी उन पर ध्यान रखते हुये कार्य करे। (८) राजनीतिक दल का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह अपने सदस्यों को संगठित और अनुशासन में रक्खे। संगठन और अनुशासन के बिना कोई भी राजनीतिक दल अपनी उन्नति नहीं कर सकता।

राजनीतिक दलों की उपयोगिता—(१) प्रजातन्त्रीय शासन के लिये राजनीतिक दल आवश्यक हैं। इनके बिना सरकार चल ही नहीं सकती। यदि ये न हों तो धारा-सभा में जितने भी सदस्य होंगे उतने ही भिन्न भिन्न दृष्टिकोण होंगे। अतएव किसी विषय पर विचार करने या निश्चय पर पहुंचने में ही बहुत देर लग जायगी। फिर भी इस बात की गारंटी न रहेगी कि उस निर्णय के अनुसार कोई कार्य भी होगा या नहीं। (२) यदि दल न हों तो सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत बातों का काफी प्रभाव हो। प्रतिनिधि भी अपने स्वार्थ के लिये गिरोह बनाने लगें और जनहित के लिये कोई काम न हो सके। राजनीतिक दल व्यक्तिगत बातों के स्थान पर नीति और कार्यक्रम को प्रधानता देते हैं। (३) बिना राजनीतिक दलों के स्थायी सरकार बनना ही असंभव हो जाय। गिरोह नित्य बनते और बिगड़ते रहें। राजनीतिक दल इस अव्यवस्था और अस्थिरता का अंत कर चुनावों के परिणामों के आधार पर स्थायी सरकारों का बनना सम्भव कर देती है। (४) राजनीतिक दलों के कारण कानून बनने के पहले उन पर अच्छी तरह विचार हो लेता है और अधिक समय भी नहीं लगता। बजाय इसके प्रत्येक सदस्य अपनी अपनी बात कह कर व्यर्थ समय बर्बाद करे कुछ प्रमुख विचारों को लेकर उन पर अच्छी तरह सोच विचार कर लिया जाता है। (५) राजनीतिक दलों के कारण धारा-सभ

में एक सतर्क विरोधी दल भी रहता है। विरोधी दल हमेशा सरकारी कामों पर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है और सरकार के बुरे कामों और दोषों से लाभ उठाना चाहता है। अतएव सरकारी दल भी सावधान रहता है। ऐसी दशा में शासन निरंकुश नहीं हो सकता। (६) इनके कारण नागरिकों में राजनीतिक जाग्रति पैदा होती है और उन्हें राजनीतिक शिक्षा मिल जाती है। (७) राजनीतिक दल नस्ली, साम्प्रदायिक, धार्मिक भेद भावों के ऊपर राजनीतिक एकता उत्पन्न करने में बहुत सहायक होते हैं। उनका दृष्टिकोण सीमित और मनोवृत्ति संकुचित न रह कर व्यापक हो जाती है। (८) राजनीतिक दलों ने सरकारी विभागों को सामञ्जस्यतापूर्वक चलना सम्भव कर दिया है। (९) इन्हों ने मतदाताओं के काम को सरल करके प्रजातंत्र को एक व्यवस्थित रूप दे दिया है। १०) राजनीतिक दल अन्य अनेक ऐसे कार्य करते हैं जिनसे राजनीति का कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है। यह कार्य बहुधा सामाजिक क्षेत्र में और सेवा का होता है। (११) इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल अपने रिसर्च-विभाग भी रखते हैं जहाँ बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।

दल बन्दी के दोष—एक ओर जहाँ राजनीतिक दलों ने महत्व-पूर्ण कार्य किये हैं दूसरी ओर उसमें कुछ दोष भी हैं। (१) वे समाज में गिरोह बन्दी (Factionalism) पैदा कर देते हैं। ये गिरोह देश का कुछ भी भला नहीं करते। ये वातावरण को कटु और विषाक्त बना देते हैं जिसका परिणाम सार्वजनिक जीवन के लिये बुरा होता है। (२) उत्तरदायी शासन में सत्ता केवल बहुसंख्यक दल के पास रहती है। विरोधी दल में चाहें कितने ही योग्य व्यक्ति क्यों न हों उनकी सेवा से लाभ नहीं उठाया जा सकता। (यह विचार ठीक नहीं है

क्योंकि विरोधी दल अपनी आलोचना और क्रियात्मक सुझावों द्वारा भी जनता की सेवा करता है।) (३) दलबन्दी में एक बड़ी अस्वाभाविक बात यह है कि विरोधी दल का कार्य बिना भले बुरे का ध्यान रक्खे सरकारी कार्यों का विरोध भर करना रह जाता है। उसका प्रयत्न यह रहता है कि जैसे भी हो सरकारी दल को बदनाम कर अपना स्वार्थ साधन किया जाय। ब्राइस के शब्दों में पार्लियामेण्ट एक आखाड़ा बन जाता है.....जिसमें देश के हित भुला दिये जाते हैं। विरोधी दल का कार्य नासमझी से विरोध करना नहीं है वरन् क्रियात्मक सुझाव देते हुये दोषों को बतलाना है। यह दोष दलबन्दी का नहीं वरन् राजनीतिक शिक्षा की कमी का है।) (४) दलबन्दी धारा सभा को ही नहीं वरन् सारे देश को बाँट देती है और इनमें आपस में बराबर कहा-सुनी, वाद,विवाद, और संघर्ष होता रहता है। देश भक्ति का विचार एक दम भुला दिया जाता है। दलबन्दी की भावना इतनी उग्र हो जाती है कि गुण-दोष पर विचार किये बिना पार्टी का समर्थन किया जाने लगता है। (५) दल अपने स्वार्थ-साधन के लिये झूठे और गन्दे प्रचार का आश्रय लेते हैं। सनसनीदार असत्य खबरें दी जाती हैं और यदि आवश्यकता हुई तो बेईमानी और हिंसापूर्ण उपाय भी अपनाने में संकोच नहीं किया जाता। (६) दल का अनुशासन स्वतन्त्र विचार की कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ता। इस प्रकार अनुशासन के नाम पर स्वतंत्रता का अपहरण किया जाता है। (७) दलगत शासन में बहुत बेइमानी, पक्षपात और गड़बड़ी रहती है। सरकारी स्थानों को अपने संबन्धियों, मित्रों और दल के व्यक्तियों से भर लिया जाता है जिसका प्रभाव देश के शासन पर भी पड़ता है। (८) पार्टी पर प्रायः कुछ महत्वाकांक्षी और प्रभावशाली व्यक्ति अधिकार कर लेते हैं। उनका मत ही दल का मत होता है और उनकी नीति ही दल की नीति। ये लोग दल के नाम पर तरह तरह के जायज़ और नाजायज़

काम किया करते हैं। साधारण सदस्यों की कोई सुनवाई नहीं होती। (९) लोकमत को प्रसन्न करने के लिये कभी कभी हानिकारक कानून भी पास कर दिये जाते हैं और आवश्यक कानूनों को भी इस लिये रोक रक्खा जाता है कि लोकमत अभी उसके लिये शीघ्रता नहीं कर रहा। (१०) पार्टी के नेता जिन लोगों से धन की सहायता लेते हैं उन से तरह तरह के समझौते कर लेते हैं। इससे धनिक-वर्ग का लाभ होता और जनता अंधेरे में रहती है। (११) स्थानीय संस्थाओं में दलबन्दी के प्रवेश में सार्वजनिक जीवन को ही कलुषित कर दिया है। व्यक्ति योग्यता और सेवा के आधार पर न चुने जाकर दलबन्दी के अनुसार चुने जाते हैं।

इन बगुणों को देखने से पता लगता कि इनमें से अनेक दोषों को नागरिकों की राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक दलों के प्रजातंत्रीय संगठन से दूर किया जा सकता है। प्रजातंत्रीय संगठन से हमारा तात्पर्य यह है कि दल के साधारण सदस्य कार्यकारिणी कमेटियों को चुनें और ये चुने हुये प्रतिनिधि ही दल की नीति और उसका कार्यक्रम निर्धारित करें।

—: ० :—

सत्रहवाँ अध्याय

लोकमत

लोकमत को इस नाम के उपयुक्त बनने के लिये यथार्थ में सार्वजनिक होना चाहिये।

—ए. एल. लावेल

पीछे हम निरंतर लोकमत और जनमत (Public Public) शब्दों को प्रयुक्त करते आये हैं। अतएव इनका अर्थ भी समझ लेना उचित होगा। यदि इसका साधारण शाब्दिक अर्थ देखा जाय तो आपको पता चलेगा कि इसका अभिप्राय 'जनता की राय' है। पर शाब्दिक अर्थ इसके अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करता क्योंकि जनता शब्द स्वयं भी अस्पष्ट है। यदि इसे समस्त नागरिक समाज मान कर भी चला जाय तब भी लोकमत का ठीक मतलब समझ में नहीं आता क्योंकि कोई भी राय समस्त नागरिक समाज की नहीं हो सकती। मतों में भिन्नता का होना एक स्वाभाविक बात है। फिर क्या यह समझा जाय कि लोकमत जैसी कोई बात ही नहीं होती ?

यह धारणा ठीक नहीं है। वास्तव में लोकमत से हमारा तात्पर्य नागरिकों की राय से नहीं है क्यों कि नागरिकों की तो प्रत्येक प्रश्न पर अलग अलग राय होती। लार्ड ब्राइस के शब्दों में इस रूप में तो यह अनेक विरोधी विचारों, विश्वासों और इच्छाओं का समूह हो जायगा तो प्रति दिन बदलता रहेगा। अतएव यह विचार ठीक नहीं

है। जनता की विचार-धारा में अनेक छोटी बड़ी धारायें आकर मिलती हैं। इनमें कुछ अधिक शक्तिशाली होती हैं क्योंकि उनके पीछे उनके समर्थकों का अडिग विश्वास होता है। जब इनमें एक धारा स्पष्टतया सबसे अधिक शक्तिशाली होती है और देश में नागरिकों का एक बहुसंख्यक अंश उसे मानता है तो उसे ही 'लोकमत' या 'जनमत' का नाम दे दिया जाता है। लावेल (A. L. Lowell) ने लोकमत पर विचार करते हुये कहा है कि इसे यथार्थ में सार्वजनिक होना चाहिये। इस के लिये बहुमत काफी नहीं है और न सर्वसम्मति आवश्यकीय है। पर यह मत ऐसा होना चाहिये कि जो अल्पसंख्यक इससे सहमत न भी हो वे भी आशंका से नहीं वरन् अपने विवेक से यह अनुभव करें कि इसे मानना चाहिये। यदि उनकी प्रजातंत्रीय भावना पूर्ण है तो उनका सहयोग मन में बिना कुछ भी बुरा ख्याल लाये दिया जाना चाहिये।

लोकमत का महत्व—लोकमत का मानव जीवन में एक महत्व-पूर्ण स्थान है। समाज में कोई भी बात बिना लोकमत का सहारा पाये अधिक दिन तक नहीं चल सकती और लोकमत की मांग को अधिक समय तक ठुकराया भी नहीं जा सकता। यह बात जीवन के सभी क्षेत्रों में समान रूप से लागू होती है। समाज की नैतिकता भी लोकमत के ऊपर निर्भर है। जहाँ सरकार की पहुंच नहीं होती वहाँ भी लोकमत का नागरिक आदर करते हैं। यह बात रहन-सहन के ढंग को देखने से स्पष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति लोकमत की उपेक्षा करते हैं उन्हें दकियानूस (Conservative) या पोंगापंथी कहा जाता है।

प्रजातंत्र में लोकमत को एक विशेष स्थिति प्राप्त हो जाती है। प्रजातंत्र जैसा कि आप जानते हैं जनता के शासन का ही नाम है।

अतः यह स्वाभाविक है कि इसमें लोकमत का पूरा ध्यान रक्खा जाय और उसका आदर किया जाय। बिना लोकमत ध्यान दिये कोई भी सरकार लोकप्रिय नहीं रह सकती।

डिक्टेटर शाही यद्यपि ऊपर से शासन करने में विश्वास करती है पर लोकमत की सर्वथा उपेक्षा करना उसके लिये भी सम्भव नहीं होता। अतएव वह लोकमत के अनुसार यदि कार्य नहीं करने पाती तो स्वयं लोकमत को अपने विरुद्ध बनने से ही रोकने का प्रयत्न करती है। इसके लिये यह भाषण और प्रकाशन की स्वतन्त्रता पर बंधन लगा देती है, अपनी आलोचना नहीं होने देती, अन्य राजनीतिक दलों को दबा देती है। पर इसी से उसे संतोष नहीं होता। अतएव वह जनता को अपना समर्थक बनाने के लिये यानी लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिये प्रचार का आश्रय लेती है। यही नहीं प्रजातन्त्र में विश्वास न रहने पर भी वह कुछ प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं को बना रहने देती है जिस से नागरिक धोके में आ जाय। साथ ही वह इस बात का भी पूरा प्रबन्ध कर लेती है कि कोई विरोधी व्यक्ति धारा-सभा में न पहुंच जाय। इससे लोकमत का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

लोकमत का निर्माण—लोकमत के निर्माण के कई साधन हैं। पर इसके पूर्व कि उन पर विचार किया जाय पहले हमें नागरिकों के लोकमत से संबन्ध को भी देख लेना चाहिये।

यह स्पष्ट है कि बिना नागरिकों के सोचने विचारने के लोकमत के बनने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। पर सभी नागरिकों को न

तो इतनी समझ होती है और न इतनी दिल चस्पी और समय ही कि वे इस ओर ध्यान दें। बहुत थोड़े ऐसे नागरिक हैं जो सार्वजनिक कार्यों में निरन्तर रुचि लेते हैं, इन विषयों पर सोचते समझते हैं और स्वतन्त्र रीति से अपने विचार बनाते और उनका प्रकाश न करते हैं। इन व्यक्तियों को मतों का प्रतिपादक कहा जाता है। दूसरे वे व्यक्ति होते है जो व्यक्ति तो सोचने का कष्ट नहीं उठाते पर अन्य व्यक्तियों के विचारों की समालोचना कर सत्य असत्य, उचित अनुचित बतलाया करते हैं। इन्हें मतों को ढालने वाला कहा जाता है। इन के पश्चात् उन व्यक्तियों के नाम आता है जो सार्वजनिक कार्यों में उदासीन हैं। वे बहुत कम पढ़ते या सोचते हैं। वे तो प्रचलित मतों को लेकर उनका ही समर्थक करने लगते हैं। वे नेताओं, पड़ौसियों मित्रों के मतों से प्रभावित हो जाते हैं। समाज के यही नागरिक संस्था में सबसे अधिक होते हैं। इनके सहयोग से ही कोई मत लोकमत बन पाता है। उन्नत देशों में इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। पिछड़े देशों में अधिक जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार होता जाता है इस प्रकार के नागरिक कम होते जाते हैं। यही कारण है कि प्रजातंत्र में शिक्षा पर इतना बल दिया जाता है।

लोकमत के निर्माण और प्रचार के अन्य साधन ये हैं :—

प्रेस—प्रेस एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके अंतर्गत प्रकाशन के सभी साधन आ जाते है जैसे समाचार पत्र, सामयिक पत्रिकायें, पुस्तकें, पेम्फलेट, बुलैटिन आदि। शिक्षा के प्रसार से इनका महत्व और भी बढ़ गया है। इनमें प्रमुख स्थान समाचार पत्रों को दिया जाना चाहिये। समाचार-पत्र केवल समाचारों को ही साधारण ढंग से नहीं देते। वे तथ्यों को पाठकों के सम्मुख इस प्रकार रखते हैं कि

समाचार-पत्र के स्वामियों का अपना मतलब हल हो। समाचारों के अतिरिक्त पत्रों में सम्पादकीय लेख, टिप्पणियाँ, अन्य लेख तथा पत्र रहते हैं। इनके द्वारा सामयिक मामलों पर विचार किया जाता है और पत्र का दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। प्रायः समाचार-पत्र या तो प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों के हाथों में रहते हैं और उनके प्रचार के साधन बनते हैं अथवा वे ऐसे व्यक्तियों के हाथों में होते हैं जो राजनीतिक में प्रमुख स्थान रखते हैं। बहुत कम पत्र अब ऐसे होते हैं जो तटस्थ-वृत्ति से समाचारों, तथ्यों और विचारों को पाठकों को देते हैं। फिर भी समाचार-पत्र दोनों ही पक्षों की कुछ न कुछ बातें तो देते ही हैं और इसी आधार पर नागरिकों को अपने विचार बनाने की सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त समाचार पत्रों में सरकारी कामों की सूचना और उनके गुण-दोष के बारे में भी बातें रहती हैं। इसी प्रकार का काम प्रकाशन के अन्य ढंग से भी किया जाता है। कभी-कभी ये सनसनीदार और असत्य समाचारों को देकर जनता को भ्रम में भी डालने का भी प्रयत्न करते हैं।

सभायें—सार्वजनिक और निजी सभाओं द्वारा भी नागरिकों तक विचार पहुंचाये जा सकते हैं। इसमें वक्ता और श्रोता का सीधा सम्पर्क होता है। वक्ता की सरल ढंग से कही हुई बात सुनने वालों के हृदय पर असर कर जाती है। सभायें हिन्दुस्तान जैसे देश के लिये जहाँ ८८ प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं और भी महत्व पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार सभायें उस काम को और भी अच्छी तरह करती हैं जिन्हें प्रेस करता है।

राजनीतिक दल—राजनीतिक दल भी लोकमत के निर्माण और उसके प्रकाशन के बड़े साधन हैं। राजनीतिक दलों का यह ए

महत्वपूर्ण कार्य है कि सभी सम्भव उपायों से वे जनता से सीधा सम्पर्क बनाये रक्खें और सामयिक विषयों पर अपने मत और नीति से उन्हें परिचित रक्खें। ऊपर हम देख चुके हैं कि इनका सदैव यह प्रयत्न रहता है कि नागरिक उसके मत के अनुयायी बन जायें।

रेडियो और सिनेमा—यह उन साधनों में से हैं जिसने प्रचार-कार्य को बहुत सरल बना दिया है। इसके द्वारा बड़े-बड़े नेताओं के विचार लोगों को घर बैठे ज्ञात हो जाते हैं। आज-कल के व्यस्त जीवन में जिन नागरिकों को इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे सभाओं में जाकर भाषण सुनें उनके लिये ये साधन बहुत सहायक होते हैं। इससे नेताओं को भी स्थान-स्थान पर दौड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। हिन्दुस्तान में रेडियो और चित्र-पटों की सम्भावना का अभी पूरा प्रयोग नहीं किया गया है।

शिक्षण संस्थायें—नागरिकों के दृष्टिकोण और विचार धारा को ढालने में इनका भी एक महत्वपूर्ण भाग होता है। शिक्षण संस्थायें नागरिकों को स्वयं सोचना ही नहीं सिखलाती। वहाँ भी सामयिक बातों पर भाषण और विवाद होते रहते हैं जिनका प्रभाव भी लोकमत के बनने में कम नहीं पड़ता।

धार्मिक संस्थायें—इस संबन्ध में धार्मिक संस्थाओं और धार्मिक पदाधिकारियों के महत्व को भी नहीं भुलाया जा सकता। हिन्दुस्तान जैसे धर्मप्रधान देशों में तो धर्म का लोकमत पर अत्यधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ही। पर यूरपीय देशों में भी नारियों को मताधिकार देने के बाद से धर्म का प्रभाव बढ़ गया है। स्त्रियाँ स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति वाली होती हैं। पर दुर्भाग्यवश धर्म का लोकमत पर प्रभाव प्रायः बहुत प्रतिगामी रहा है। धर्माधिकारी प्रायः अपरिवर्तन-वादी होते हैं और नई बातें समझने में असमर्थ रहते हैं।

प्रतिनिधयात्मक संस्थायें—प्रतिनिधयात्मक संस्थाओं में जो सामयिक विषयों पर विचार और विवाद होते रहते हैं उसको भी नागरिक बहुत चाव से पढ़ते है और उसका भी लोकमत पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

सच्चे लोकमत के निर्माण में अनेक कठिनाइयां है जिनके कारण ठीक से लोकमत नहीं बन पाता। (१) इसमें सब से बड़ी बाधा **भाषण की स्वतंत्रता पर रोक है**। यदि नागरिकों को स्वतंत्रता पूर्वक अपने विचारों को कहने नहीं दिया जाता तो वह लोकमत को प्रभावित ही कैसे कर सकते है। इसके अर्थ यह होंगे कि सरकार के कामों और उसकी नीति के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा और अधिकारी अपनी मनमानी करेंगे। (२) इसके समान ही दूसरी बाधा **प्रकाशन पर प्रतिबन्ध** है। यदि नागरिकों को अपने विचारों को छापने या तथ्यों को बतलाने की सुविधा न दी जायगी तो वे न तो दोनों पक्षों की बातें जान सकेंगे और न कोई ठीक राय बना सकेंगे। (३) सच्चे **और यथार्थ समाचारों तथा सूचनाओं का अभाव** भी लोकमत के ठीक होने में एक **बड़ी बाधा है**। जब नागरिक दो स्थानों पर दो प्रकार की सूचना पाता है तो उसकी समझ में नहीं आता कि किस पर विश्वास करे। अतएव यह आवश्यक है कि निष्पक्ष सूचनायें दी जायं। जहाँ तथ्यों के संबन्ध में मत भेद हो वहां तथ्यों को जाँच करने वाले निष्पक्ष कमीशन हो। (४) संकुचित मनोवृत्ति भी सच्चे लोकमत के बनने में बाधक होती है। इसके कारण नागरिक सभी बातों पर ठण्डे दिमाग से सोचना ही नहीं चाहता। यदि वह ठीक से सोचेगा ही नहीं तो उसके विचार भी भ्रमपूर्ण होंगे। (५) **लोकमत बनाने के साधनों पर एकाधिकार** भी सच्चे लोकमत के मार्ग में बाधक होता है। यदि प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि पर एक पक्ष का

ही अधिकार हो तो दूसरा पक्ष अपना दृष्टिकोण जनता के सामने रख ही नहीं सकता। अतएव निर्णय भी एक पक्षीय और दोष पूर्ण होगा। आज कल पूञ्जीपति घर घर इन साधनों को अपने अधिकार में कर मध्यवर्ग और निम्नवर्ग की आवाज़ को कुचलने का प्रयत्न कर रहे हैं। (६) शिक्षा की कमी भी इसमें बड़ी बाधक होती है। शिक्षा का प्रभाव सोचने के ढंग और दृष्टिकोण पर भी पड़ता है। इसके न रहने पर नागरिकों को सुनी हुई बातों पर निर्भर रहना होता है। (७) नागरिकों की निष्क्रियता भी लोकमत को कुछ व्यक्तियों की वस्तु बना देती है। सच्चे लोकमत के लिये यह आवश्यक है कि सभी नागरिक स्वयं सोचें और अपने विचार प्रगट करें। वे दूसरों की राय पर अवलम्बित न रहें। यदि लोकमत को सच्चा बनाना है तो ऊपर बताई हुई सभी बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

लोकमत का पता लगने का उपाय प्रेस या प्रकाशन नहीं है क्योंकि समाचार-पत्र और सामयिक साहित्य प्रायः एक पक्षीय होता है और उनकी ग्राहक-संख्या से भी कोई ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सार्वजनिक सभाओं से भी किसी निर्णय पर पहुंचना सम्भव नहीं है क्योंकि धनी व्यक्तियों में उत्साही कार्य कर्ता प्रत्येक सभा के लिये अच्छी भीड़ एकत्रित कर सकते हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार लोकमत को जानने का एक मात्र उपाय समझदार और निष्पक्ष नागरिकों में मिल जुल कर उनकी राय जानना है। बहुसंख्यक दल का मत सर्वदा लोकमत नहीं हुआ करता। लोकमत जानकारी और विवेक पर आधारित होता है और सार्वजनिक हित को अपने ध्यान में रखता है।

—: ० :—

अठारहवाँ अध्याय

स्थानीय स्वशासन

नागरिकों की स्थानीय असेम्बलियां स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति होती हैं।.....एक राष्ट्र भले ही अपनी स्वतंत्र सरकार बनाले किन्तु म्यूनिस्पल संस्थाओं की प्रवृत्ति के बिना उसमें स्वतंत्रता की भावना नहीं हो सकती।

—डि टोकिविली

आज के राज्यों का क्षेत्रफल प्रायः बहुत अधिक होता है। और केन्द्रीय सरकार के लिये इस बात में बड़ी कठिनाई हो जाती है कि वह स्थानीय मामलों को देख रेख भी करे। अतः विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) के सिद्धान्त पर स्थानीय शासन का कार्य प्रायः स्थानीय बोर्ड को दे दिया जाता है। प्रारम्भ में ये बोर्ड सरकारी होते थे। किन्तु उन्नीसवीं सदी में इन बोर्डों में भी जनता के प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त लागू किया जाने लगा और इन्हें स्वशासन की एक महत्वपूर्ण इकाई मान लिया गया। स्थानीय स्वशासन से हमारा अभिप्राय यह है कि स्थानीय मामलों का प्रबन्ध स्थानीय व्यक्ति अपने प्रतिनिधियों द्वारा करें।

स्थानीय बोर्ड और संघ की इकाईयों के अंतर को समझ लेना अच्छा होगा। (१) स्थानीय बोर्ड केन्द्रीय या इकाइयों की सरकार के आधीन होते हैं जब कि संघ की इकाइयों की सरकारें केन्द्रीय सरकार के आधीन नहीं होती। वे अपनी कार्य-सीमा में पूर्णतया स्वाधीन और सर्वोपरि होते हैं। (२) स्थानीय बोर्ड पर ऊपर की

सरकार हमेशा कुछ नियंत्रण रखती है। पर संघ की इकाइयों की सरकार पर कोई नियंत्रण नहीं होता। स्थानीय बोर्ड की सत्ता को घटाया या बढ़ाया जा सकता है, पर संघ की इकाइयों के सम्बन्ध में ऐसी घटी बढ़ी केवल शासन-विधान में संशोधन होने पर ही हो सकती है। (३) पर ऊपर बताई हुई बातें स्थानीय बोर्ड की सच्ची पहिचान नहीं है। उनकी सच्ची पहिचान तो उनके कार्यों का रूप है। स्थानीय बोर्ड के काम केवल स्थानीय महत्व के होते हैं। उदाहरण के लिये सफाई, पानी तथा बिजली का प्रबन्ध, नालियों को बनवाना, बीमारी की रोकथाम, आग बुझाने का प्रबन्ध आदि। इसके विपरीत संघ की इकाइयों के कार्य केवल स्थानीय ही नहीं होते। वे प्रादेशिक होते हैं।

उपादेयता—स्थानीय स्वशासन की संस्थायें हमारे लिये बहुत उपयोगी हैं। नीचे इन लाभों पर प्रकाश डाला जायगा।

(१) इनमें शासन में बहुत सुविधा (Convenience) हो जाती है। आज के राज्य बहुत बड़े बड़े हैं और केन्द्रीय सरकार बहुत दूर होती है। यदि यह दूरी अधिक न भी हो तब भी उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह स्वयं देश में फैले हुए तमाम नगरों तथा गाँवों का प्रबन्ध करे। ऐसा करना उसके लिये एक भारी मुसीबत बन जायगी। केन्द्रीय सरकार के खुद ही इतने कार्य बढ़ गये हैं कि उनके लिये उसे कठिनाई पड़ जाती है फिर स्थानीय शासन का बोझा वह और कैसे उठा सकती है?

(२) इनसे स्थानीय शासन की निपुणता भी बढ़ जायगी। एक दूर बैठी हुई केन्द्रीय सरकार दूर दूर के नगरों और गांवों का प्रबन्ध कभी भी ठीक तरह नहीं कर सकती। न तो वह उनकी आवश्यकता का ठीक अनुमान ही लगा सकती है और न समय पर उनका काम ही कर

सकती है। स्थानीय मामले अधिकतर ऐसे हैं जिनमें प्रति दिन देख भाल की आवश्यकता होती है। अतएव ये काम वही व्यक्ति अच्छी प्रकार कर सकते हैं जो उन स्थानों के रहने वाले हों और उन स्थानों की आवश्यकताओं को समझ सकते हों। यही नहीं यह शासन प्रबन्ध निपुणता पूर्वक उन्हीं स्थानों से किया जा सकता है, दूर बैठ कर नहीं। अतएव यह काम स्थानीय व्यक्तियों के करने से ही हो सकता है। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को लागू कर स्थानीय प्रतिनिधात्मक संस्थाय बना दी गई हैं। ये संस्थायें अपने क्षेत्र के अन्दर देख भाल तथा प्रबन्ध करती हैं।

(३) केन्द्रीय शासन यदि स्थानीय प्रबन्ध करना भी चाहे तो यह बहुत खर्चीला हो जायगा। पर यदि यही काम स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को सौंप दिया जाय तो केन्द्रीय सरकार पर यह बोझ बहुत कम हो जायगा। ये सत्तायें स्वयं अपने खर्च के लिये स्थानीय कर लगा कर अपनी आमदनी कर सकती हैं और कुछ सहायता उन्हें सरकार से मिल सकती है। स्थानीय सत्तायें स्वयं देख समझ सकती हैं कि वे अपनी आर्थिक व्यवस्था को कैसा बनायें। यदि वे नये कर लगाती हैं तो इनका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर आता है। अतः उन्हें मितव्ययी होना पड़ता है।

(४) सुविधा, निपुणता और मितव्ययता की बातें यदि छोड़ भी दी जायें तो भी नागरिक शिक्षा की दृष्टि से ही ये संस्थायें इतनी उपयोगी हैं कि इन को बनाये रखना आवश्यक है। (क) इनके द्वारा नागरिकों को स्थानीय शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। इससे उन्हें पता चलता है कि शासन-प्रबन्ध किस प्रकार होता है। यह शिक्षा उन्हें आगे चलकर राज्य के उत्तरदायित्वों को उठाने के

योग्य बना देती है। (ख) स्थानीय शासन का अभ्यास नागरिकों की सुस्ती और उदासीनता का अंत कर देता है और सार्वजनिक कामों के प्रति उनमें चाव पैदा करता है। प्रारम्भ में नागरिकों को राज्य की जटिल बातों को समझना और उनमें दिलचस्पी लेना कठिन होता है। पर नगर या गाँव के शासन का उनके हितों पर सीधा असर होता है। अतः इन बातों में दिलचस्पी न लेना सम्भव ही नहीं होता। अतः यहाँ उसे अपनी सेवा भाव की प्रवृत्ति को क्रियात्मक रूप देने का अवसर मिलता है। (ग) स्थानीय स्वशासन सामान्य हितों के कार्यों में नागरिकों की रुचि उत्पन्न करता है। वह नागरिकों को जागरूक बना देता है जिससे उनके हितों पर आँच न आवे। वह उनमें नागरिक चेतना उत्पन्न करता है और उन योग्यताओं का विकास करता है जो उत्तम नागरिकता के उपयुक्त हैं। (घ) स्थानीय स्वशासन मिल-जुल कर कार्य करने की प्रवृत्ति को पैदा करता है। इससे उनमें सामाजिकता बढ़ती है, भले-बुरे की पहिचान आ जाती है। इसके साथ ही आपस में समझौता करने की आवश्यकता भी स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी पता चलता है कि सभी बातों में कुछ न कुछ सचाई का अंश होता है जिसे ग्रहण कर लेना चाहिये। यह जानकारी उन्हें सहन शील बना देती है। (ङ) नागरिकता का यह प्रारम्भिक अभ्यास आगे जीवन में बहुत काम आता है। इसी कारण स्थानीय स्वशासन को प्रजातंत्र की शिक्षण-भूमि कहा गया है।

(५) सार्वजनिक सेवा-कार्य भी ये सत्तायें जितना करती हैं उतना किसी अन्य संस्था से किया जाना सम्भव नहीं दीखता। स्वच्छता का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त ये पानी और बिजली का प्रबन्ध करती हैं। ये स्थानीय यातायात के साधनों का प्रबन्ध भी करती हैं। पार्क, खेल के मैदान, सड़कें, घंटाघर, पुस्तकालय, शिक्षण-संस्थायें, बाजार आदि

बनवाना भी इन्हीं का कार्य है। साथ ही नगर को सुन्दर बनाने के लिये भी ये प्रयत्नशील रहती हैं।

स्थानीय बोर्डों के कार्य—हम कह आये हैं कि स्थानीय बोर्ड का कार्य केवल स्थानीय है। ये कार्य प्रत्येक देश में एक से होते है। पर इस सम्बन्ध में आम सिद्धान्त यह है कि (१) राष्ट्रीय महत्व के कार्य देश की केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये जाते हैं। इनमें प्रमुख कार्य ये हैं : रक्षा, आंतरिक शांति तथा व्यवस्था, विदेशी मामले, यातायात तथा सन्देश के साधन, विदेशी व्यापार, मुद्रा तथा विनिमय आदि। (२) कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो स्थानीय महत्व के होते हैं और जो स्थानीय सत्ता द्वारा ही सुविधापूर्वक निपुणता से और मितव्ययता से किये जा सकते हैं। ये काम है स्वच्छता, तथा स्वास्थ्यों सड़कों, नालियों तथा पुलों का निर्माण, पानी तथा रोशनी का प्रबन्ध, प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध, पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर, कला मन्दिर आदि चलाना, अस्पतालों का खोलना और चलाना, जन्म और मृत्यु का लेखा आदि। (३) इनके अतिरिक्त संघ शासन और कभी-कभी एकात्मक शासनों में भी इन दोनों के बीच की सरकारें भी होती हैं। इनका काम ऐसे कार्य करना होता है जो स्थानीय भी नहीं होते और जिनके लिये राष्ट्रीय प्रबन्ध भी आवश्यक नहीं है। इसके अंतर्गत न्याय और पुलिस, ग्राम-सुधार, शिक्षा, मनोरंजन, कृषि, सिंचाई आदि विषय आ जाते है। जहाँ यह बीच की सरकार नहीं होती वहाँ केन्द्रीय सरकार ये काम भी करती है।

स्थानीय बोर्ड पर नियंत्रण—यद्यपि स्थानीय बोर्डों को अपने कामों को करने की काफी स्वतन्त्रता रहती हैं। पर वे पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होते। केन्द्रीय सरकार उन पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण अवश्य रखती

है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। आज की स्थानीय समस्यायें ऐसी हैं जिनको पूर्णतया स्थानीय बोर्डों की मर्जी पर नहीं छोड़ा जा सकता उदाहरण के लिये प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के साधनों को ही ले लिया जाय। ये बातें एक देश के लिये इतनी महत्वपूर्ण हैं कि इन मामलों में लापरवाही को सहन नहीं किया जा सकता। यही नहीं इन विषयों में स्थानीय बोर्डों को मनमाने काम करने की अनुमति भी नहीं दी जा सकती। इस संबन्ध में ऊपर की सरकार जो सिद्धान्त या नियम स्थिर करती है उनका पालन करना और उनके अनुकूल कार्य करना स्थानीय सत्ताओं के लिये आवश्यक है। फिर जब इन सत्ताओं को ऊपर से आर्थिक सहायता दी जाती है तो यह भी देखा जाना ठीक ही है कि इस सहायता का दुरुपयोग तो नहीं किया जा रहा। किन्तु नियन्त्रण के नाम पर तफसील की बातों मे हस्तक्षेप करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। इसमे आत्म निर्भरता जाती रहती है और कुछ भी काम नहीं हो पाता। अतएव अच्छा यह होगा कि सरकार व्यापक नियम बना दे और उनके अंतर्गत स्थानीय सत्ताओं को काम करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दे। सरकार उन्हें परामर्श और चेतावनी तो दे पर हस्तक्षेप कवल तभी करे जब शासन प्रबन्ध औसत मापदण्ड से नीचे गिर जाय।

स्थानीय स्वशासन की संस्थायें—यह सभी देशों में एक सी नहीं होतीं। हिन्दुस्तान में इन को दो भागों मे बाटा जा सकता है। शहरी और देहाती। शहरी संस्थाओं में प्रमुख हैं। कारपोरेशन, म्यूनिस्पेलिटी, टाउन एरिया, नोटीफाइड एरिया कुछ स्थानों पर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और कन्टोनमेंट बोर्ड भी हैं। देहाती क्षेत्रों में गाँव पंचायतें और जिला बोर्ड हैं।

सफलता की दशा—इन संस्थाओं की मुख्य बुराइयाँ हैं : बेईमानी, गिरोहबन्दी, पक्षपात, उदासीनता और प्रबन्धहीनता। इस अवस्था में सुधार के लिये सर्व प्रथम तो उत्तम नागरिकता पर बल देना होगा। बिना योग्य और समझदार नागरिकों के प्रजातंत्रीय संस्थाओं का चलना असम्भव है। दूसरे स्थानीय बोर्ड के कर्मचारियों की नियुक्ति प्रान्तीय आधार पर की जानी चाहिये। उनके पद स्थानीय होने चाहिये। पर उनके काम से असन्तोष होने पर उनके तबादिले की माँग की जा सकती है। तीसरे, बोर्ड का सैक्रेट्री अथवा एक्ज़ेक्यूटिव अफसर प्रान्तीय सर्विस का व्यक्ति होना चाहिये जिससे पक्षपात का अत किया जा सके। बोर्ड के काम में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिये। बोर्डों को यथेष्ट सत्ता दी जानी चाहिये। नागरिकों को भी स्थानीय विषयों में जागरूक रहना चाहिये, तभी स्थानीय संस्थायें ठीक से चल सकती है।

—: ० :—

उन्नीसवाँ अध्याय

विश्व-शाँति की समस्या

छोटे छोटे राज्यों का ज़माना अब बीत चुका.....एटम बम्ब के इस युग में कोई राष्ट्र दुनियावी बातों से अलग और बेखबर नहीं रह सकता।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

I राष्ट्रीयता के गुण-दोष

आप देख आये हैं कि राष्ट्रीयता एक आत्मिक भावना है। इस में व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि उनका राष्ट्र कुछ ऐसी विशेषतायें रखता है जो उसे अन्य जन-समूहों से पृथक कर देती हैं। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि उन का राष्ट्र एक है और वे उसके अविभाज्य अंग हैं। इस प्रकार की आंतरिक एकता और बाह्य पृथकता की भावनाएं राष्ट्रीयता की परिचायक है।

राष्ट्रीय भावना धर्म अथवा नस्ल पर आधारित चेतना से भिन्न होती हैं। धर्म और नस्ल के विचार तो भौमिक (Territorial) न होकर वर्गगत होते हैं। इसके विपरीत राष्ट्रीयता का सबन्ध एक विशेष प्रदेश और उसके समस्त स्थायी निवासियों से होता है। किसी प्रादेशिक जन-समूह में समान इतिहास, परम्पराओं, भावनाओं, आशाओं आदि के कारण जब स्वाधीन पूर्वक सामान्य जीवन बिताने की एक उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है तो उसी को राष्ट्रीयता का नाम दिया जाता है।

आधुनिक काल में राष्ट्रीयता का उदय प्रादेशिक स्वाधीनता की भावना के साथ हुआ। राष्ट्रीय भावना ने स्वतंत्रता के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों में जनता को बल दिया और उन्हें एक आधार दिया। राष्ट्रीय की स्वाधीनता की माँग को अब 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार' कहते हैं। पीछे आप उस पर विचार कर चुके हैं। आधुनिक काल में बहुत समय तक राष्ट्रीयता और प्रजातंत्रवाद का भी साथ रहा है। जब तक राष्ट्रीय भावना का उपयोग अत्याचार और अन्याय से मुक्ति पाने, देश को स्वाधीन करने और प्रजातंत्र की स्थापना के लिये किया जाता रहा। यह एक पवित्र और ऊँचा उठाने वाली प्रवृत्ति मानी जाती रही। इसने अनेक साम्राज्यों और निरकुश सरकारों का उन्मूलन कर उनके स्थान पर प्रजातंत्रीय संस्थाओं को जन्म दिया। इसने पराधीन देशों की जनता को साते से जगाकर उसमें आशा और विश्वास पैदा कर दिया। इन कारणों से इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी।

पर जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता एक प्रगति शील शक्ति के रूप में हमारे सन्मुख आई, दूसरी ओर वही अनेक बुराइयों का कारण भी बन गई। उसने जनता में एकता और त्याग की जिन भावनाओं को जन्म दिया उन्हीं का दुरुपयोग किया जाने लगा। फलस्वरूप वह स्वतन्त्रता की सामर्थक होने के स्थान पर निरंकुशता की हामी बन गई। आंतरिक शासन में वह डिक्टेटरशाही के रूप में प्रगट हुई और नागरिकों की स्वतन्त्रता को छीनने का साधन बनी। दूसरे देशवासियों के सम्बन्ध में वह साम्राज्यवाद के रूप में प्रगट हुई। आधुनिक डिक्टेटरशाही और साम्राज्यवादी दोनों ही विकृत (Perverted) राष्ट्रीयता के सहयोग का परिणाम है। दोनों ने ही राष्ट्रीयता के नाम को कलुषित किया है। दोनों ही जनता की राष्ट्रीय

भावना का मानव की घोषणा करने के लिये दुरुपयोग करता है पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ये राष्ट्रीयता के स्वाभाविक परिणाम है क्योंकि विशुद्ध राष्ट्रीयता का इनसे कोई वास्ता नहीं है यह बुराइयाँ तो राष्ट्रीयता का स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र से विच्छेद हो जाने के कारण उत्पन्न हुई। राष्ट्रीयता की विकृतता निम्नलिखित रूपों में प्रगट होती है :—

(१) राष्ट्रीयता ने लोगों के दृष्टिकोण को राष्ट्र सीमा में बन्द कर दिया। पहले वे राष्ट्र की भी नहीं सोचते थे केवल अपनी या अपने वर्ग के हित की सोचते थे। इस दृष्टिकोण से यह एक सुधार तो है। पर यही काफी नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि वे दूसरे राष्ट्रों की भावनाओं और हितों का भी पूरा ध्यान रक्खें। पर उनकी विचार-धारा कुछ ऐसी बन जाती है कि वे विश्व बधुत्व की दृष्टि से सोच ही नहीं सकते। (२) राष्ट्रीयता की भावना ने उनमें न्याय के प्रति आदर कम कर दिया। व्यक्ति अब यह सोचते हैं कि चाहें उनकी बात न्यायपूर्ण हो या नहीं उनकी ही बात मानी जानी चाहिये। यदि वे स्वाधीन और शक्तिशाली हों तो वे निर्बल राष्ट्रों के अधिकारों तथा हितों की पूर्ण उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार वे न्याय के आधार को स्वीकार नहीं करते। और यह सब किया गया है राष्ट्रीय राज्य प्रभुता के सिद्धान्त के नाम पर। (३) राष्ट्रीयता ने लोगों में एक झूँठा बड़प्पन और अभिमान पैदा कर दिया है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेषताओं और कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर बतलाता है और दूसरों के गौरव को कम करके दिखलाना चाहता है। कुछ लोग अपनी नस्ली अच्छाई के आधार पर अपना बड़प्पन दिखलाना चाहते हैं तो कुछ रंग-भेद के आधार पर यही नहीं कुछ राष्ट्र अपनी एकता और संगठन को सुदृढ़ बनाने के नाम पर हीं बेवश अल्पसख्यकों को दबाना और सताना शुरू कर देते हैं।

(४) इस प्रकार की उग्र और आक्रमक राष्ट्रीयता (aggressive nationalism) का परिणाम अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण और उनके शोषण के रूप में सामने आता है। जनता से राष्ट्रीयता के नाम पर साम्राज्यवाद का समर्थन करने को कहा जाता है। लोगों को समझाया जाता है कि राष्ट्र की रक्षा, प्रतिष्ठा, अथवा समृद्धि के लिये पिछड़े देशों पर प्रभुत्व का होना अतीव आवश्यक है। (५) धीरे-धीरे ये साम्राज्यवादी प्रवृत्ति और पूँजीवादी लिप्सा घर में भी प्रजातन्त्र की जड़ें खोखली कर देती है। अतएव राष्ट्र के लिये दृढ शासन के नाम पर प्रजातन्त्रीय प्रणाली को त्याग कर डिक्टेटर शाही कायम कर दी जाती है। घरेलू मामूलों में साम्राज्यवाद का स्वाभाविक परिणाम यही होता है।

ये बुराइयां थीं तो पहले से ही किंतु राष्ट्रीयता के नाम पर इनके दोषों को छिपाकर इन्हें एक भड़कीला और आकर्षक आवरण देने का प्रयत्न किया जाता है और इसमें सफलता भी मिल जाती है। पर राष्ट्रीयता के नाम का दुरुपयोग करने वालों की यह जीत मानव-समाज के लिये बहुत मँहगी पड़ती है। इसकी कुछ झलक हम दो बार भीषण विश्वव्यापी नर संहार के रूप में पा चुके हैं।

II साम्राज्यवाद

विदेशियों के दूसरे देश या देशों पर आधिपत्य को साम्राज्यवाद कहा जाता है। आधुनिक साम्राज्यवाद की नींव पराधीन देश के शोषण (Exploitation) पर आधारित होती है। साम्राज्यवादी देश का प्रयत्न यह होता है कि अपने देश के नागरिकों के हित में अधिकृत देश के प्राकृतिक साधनों आदि को प्रयुक्त किया जाय। साम्राज्यवादियों की यह धारणा और विश्वास है कि इससे उनकी

अपनी आर्थिक उन्नति होती है । प्रतिष्ठा बढ़ती है और साथ ही शक्ति भी बढ़ती है ।

साम्राज्यवाद कई प्रकार का हो सकता है सांस्कृतिक, राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का उद्देश्य केवल अपनी संस्कृति का प्रचार करना होता है । इसके लिये राजनैतिक आधिपत्य आवश्यक नहीं है । राजनैतिक साम्राज्यवाद में अधिकृत देशों से यह आशा की जाती है कि साम्राज्यवादी सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार करें, समय पर उसकी सहायता करें और प्रभुसत्ता के चिह्न स्वरूप उसे कुछ वार्षिक भेंट दें । सैनिक साम्राज्यवाद में अधिकृत देशों को इस लिये रक्खे जाते हैं कि ऐसा करना साम्राज्यवादी देश के लिये सामरिक दृष्टि से बहुत आवश्यक है । यों तो सभी साम्राज्यों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अधिकृत देश के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण किया जाता है किंतु आधुनिक साम्राज्यवाद मुख्यतः आर्थिक ही होता है आधुनिक युग में पहले यह साम्राज्यवाद मुख्यतः व्यापारिक (Commercial) था साम्राज्यवादी देश दूसरों देशों पर इसलिये अधिकार करते थे कि अधिकृत देश के व्यापार पर उसका एकाधिकार हो जाय । किंतु औद्योगिक क्रांति के पश्चात साम्राज्यवाद का रूप केवल व्यापारिक नहीं रह गया । उसके बाद साम्राज्यवादी देश अधिकृत देश के बाजार, कच्चे माल, आदि सभी को अपने हित में प्रयुक्त करने लगे हैं । साथ ही वह अपना तैयार माल भी उस देश में अच्छे दामों में खपाने का प्रयत्न करते हैं । यही नहीं अधिकृत देश के प्राकृतिक साधनों का भरपूर शोषण आधीन देशों में कारखाने आदि खोलकर लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि साम्राज्यवादी देश अपने आधीन देशों के आर्थिक जीवन पर पूरा नियन्त्रण रखता है जिससे

उनके देशवासियों को अधिकतम लाभ हो। कभी-कभी यह नियन्त्रण बिना राजनीतिक कब्जे के भी किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का आर्थिक साम्राज्यवाद जिसे 'डालर कूटनीति' (Dollor Diplomacy) कहा जाता है इसी प्रकार का है।

साम्राज्यवाद का प्रारम्भ प्रायः खाली प्रदेशों पर अधिकार करने अथवा बसे हुये देशों को जीत लेने से होता है। पर इसके अन्य ढंग भी हो सकते हैं। भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्य की शुरूआत एक व्यापारिक कम्पनी के लिये प्राप्त की गई सुविधाओं से हुई। बाद में कम्पनी ने भारतवर्ष की राजनीतिक अस्थिरता और फूट से लाभ उठा कर अपने कार्य-क्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र को धीरे-धीरे बढ़ा लिया। अन्य देशों में इसाई धर्म-प्रचारकों ने साम्राज्यवाद की नींव डाली। धर्म-प्रचारकों के बाद व्यापारी पहुंचे और उनके पीछे सेना। साम्राज्यवाद का यह क्रम अफ्रीका के कई प्रदेशों में रहा।

आधुनिक साम्राज्यवाद के अनेक कारण बतलाये जाते हैं। इनमें से कुछ है: कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने के लिये बाज़ार और अतिरिक्त आबादी के विकास के लिये भूमि की आवश्यकता, पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाने की इच्छा आदि। पर इसका मूल कारण आर्थिक है। जहाँ तक सभ्यता के प्रसार के दावे का प्रश्न है साम्राज्यवाद के अधिकारी लेखक पार्कर मून (Parker Moon) और होब्सन (Hobson) स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि साम्राज्यवादियों ने कहीं भी जनता की बौद्धिक या भौतिक उन्नति के लिये प्रयत्न नहीं किया। भारतवर्ष को ही देख लीजिये। लगभग २०० वर्ष के ब्रिटिश शासन के पश्चात भी भारत में अभी अज्ञान, अशिक्षा और गरीबी का ही बोलबाला है। इन दोनों ही विद्वानों का मत है कि पिछड़े देशों

के लिये यूरपीय देशों का आधिपत्य एक अभिशाप प्रमाणित हुआ है। यूरोपियन जहाँ-जहाँ गये इन्होंने शराब-ख़ोरी, व्यभिचार और मूत्र-रोग को फैलाया। यह ठीक है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कुछ अच्छा काम भी किया। पर जहाँ धर्म-प्रचारकों के पीछे सेना पहुंचे वहां यदि धर्म का अर्थ लोग ठीक से न समझ सकें तो आश्चर्य ही क्या है?' जहाँ तक अतिरिक्त आबादी के निकास के लिये भूमि का प्रश्न है यह एक व्यर्थ का बहाना है। गोरी जातियों के बसने योग्य सभी भूमि अब किसी न किसी देश के आधीन हो चुकी है। बीसवीं सदी के बाद कोई भी भूमि ऐसी न रही थी जो आबाद न हो। न कोई ऐसे पिछड़े देश ही थे जहाँ गोरी जातियाँ रह सकती हों। अतएव यह युक्ति असंगत है। साम्राज्यवादी देशों के लिये अब चारा यही रह गया है कि या तो वे एक-दूसरे के अधिकृत देश छीनने का प्रयत्न करें अथवा गोरी जातियों के देशों में ही अपने साम्राज्य का विस्तार करें।

प्रश्न यह उठता है कि यथार्थ में साम्राज्यवाद का मूल कारण क्या है? धर्म अथवा सभ्यता का प्रचार, पिछड़ी जातियों की उन्नति अथवा अतिरिक्त आबादी के लिये स्थान तो बिना साम्राज्यवाद के भी प्राप्त किया जा सकता है। फिर एक देश का दूसरे पर आधिपत्य क्यों है? लेनिन (Lenin) ने इसकी आर्थिक व्याख्या दी है। उसके अनुसार जब पूंजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में संचित हो जाती है और अन्य व्यक्ति इतने निर्धन हो जाते हैं कि वे अधिक वस्तुएँ नहीं ख़रीद सकते तो अपने नफे को बनाये रखने के लिये वे पूंजीवादी सरकार पर यह दबाव डालते हैं कि वह दूसरे देशों पर अधिकार कर ले जिससे नये बाज़ारों पर कब्ज़ा किया जा सके और उनका लाभ कम न हो। जनता को यह कह कर धोका दिया जाता है कि अपनी रक्षा, भलाई अथवा प्रतिष्ठा के लिये ऐसा

करना आवश्यक है। उग्र राष्ट्रवादी बिना सोचे-समझे इसमें विश्वास कर लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चन्द पूंजीपतियों के लिये समस्त जनता के हितों का बलिदान हो जाता है। पर साम्राज्यवाद को राष्ट्रीयता का स्वाभाविक परिणाम कहना अनुचित है। आधुनिक साम्राज्यवाद में पूंजीपतियों का जो हाथ है उस पर भी पूरा ध्यान देना चाहिये।

साम्राज्यवाद के समर्थकों का कहना है कि साम्राज्य एक बड़े भूभाग के लोगों में सम्पर्क स्थापित कर पिछड़े लोगों को उन्नत जातियों के दर्ज़े पर लाता है, निर्बल जातियों को नई शक्ति देता है और विभिन्न संस्कृतियों में सामंजस्य स्थापित कर एक ऐसी नई संस्कृति को जन्म देता है जो उन सबसे अच्छी होती है। पर ये कथित लाभ आपसी सहयोग के द्वारा भी प्राप्त किये जा सकते हैं। साम्राज्यवादी शोषण इनके लिये आवश्यक नहीं है। जापान ने उन्नीसवीं सदी में जो उन्नति की वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

साम्राज्यवाद की बुराइयाँ इतनी सुस्पष्ट हैं कि उनके बारे में कुछ कहना व्यर्थ है। साम्राज्यवाद विश्व की शांति और व्यवस्था में सब से बड़ी बाधा है। अधिकांश युद्ध साम्राज्यवाद के कारण होते हैं। इनके कारण राष्ट्रों में आपस में अविश्वास, स्पर्द्धा और वैमनस्य बढ़ता है जिसके फलस्वरूप बराबर झगड़े होते रहते हैं। अनेक लोगों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। परतन्त्र हो जाने से उनको उन्नति में बाधा पड़ जाती है। पराधीन देशों का आर्थिक शोषण भी साम्राज्यवाद का एक दुष्परिणाम होता है। कुछ विचारकों का तो यह भी कहना है कि साम्राज्यवाद के दोषों का फल साम्राज्यवादी देश और अधिकृत देश दोनों की जनता को भोगना पड़ता है। दूसरों का शोषण करते-

करते साम्राज्यवादी देश के लोगों का भी नैतिक अधःपतन हो जाता है। उनके मन में भी स्वतंत्रता के प्रति आदर भाव कम हो जाता है और इसका असर साम्राज्यवादी देश के आतारक शासन पर भी पड़ता है।

III फासिज़्म

फासिज्म की कोई परिभाषा दे सकना संभव नहीं है। केवल इसका वर्णन भर किया जा सकता है। (१) फासिज्म का विश्वास है कि राष्ट्र या समाज ही सब-कुछ है। व्यक्ति राष्ट्र की उन्नति का एक साधन-मात्र है। वह व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार व्यक्ति समान नहीं हो सकते। जो व्यक्ति जितना योग्य है उसी के अनुसार उसे अधिकार भी होने चाहिये। कोरी स्वतन्त्रता की बातें करना व्यर्थ है। (२) फासिज्म प्रजातंत्र में भी विश्वास नहीं करता। उसका विश्वास यह है कि शासन उन व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिये जो सामाजिक भलाई का ध्येय अपने सन्मुख रखते हों और चारित्रिक दृष्टि से ऊँचे हो। (३) यही नहीं फासिज्म शांति रखने में विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि युद्ध एक उत्तम वस्तु है। यह मनुष्यों के चरित्र को उच्च बनाता है। उसके अनुसार शांति की बातें करना कायरता है, वह नागरिकों को सैनिक बनाना चाहता है। (४) साथ ही वह राज्य की सीमा को बढ़ाने में विश्वास करता है यानी वह साम्राज्यवाद का भी हामी है। वह चाहता है कि राज्य की आज्ञा मानने के लिये व्यक्ति सदैव तत्पर रहें। (५) वह शासन की आलोचना का सहन नहीं करता और न वह विरोधी दलों को ही रहने देता है। (६) वह अन्तर्राष्ट्रीयता का भी विरोधी है और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के विरुद्ध है। उसके

अनुसार राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है; सब कुछ राज्य के ही अंतर्गत है। (७) फासिज्म मज़दूरों को स्वतन्त्र संघ बनाने की अनुमति नहीं देता और उन पर पूरा नियंत्रण रखता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फासिज्म उग्र राष्ट्रीयता का ही एक रूप है और सैनिकवाद, पार्टी की डिक्टेटर शाही, साम्राज्यवाद आदि में विश्वास करता है। आर्थिक क्षेत्र में यह पूंजीवाद को मानता है। वह प्रजातंत्र, शांतिवादिता, स्वतन्त्रता, समानता, समाजवाद, लोकमत, आदि में विश्वास नहीं करता। वह जनता की राष्ट्रीय भावना का दुरुपयोग कर आंतरिक एकता तथा दृढ़ता के नाम पर डिक्टेटर-शाही और वाह्य शक्ति के नाम पर साम्राज्यवाद स्थापित करना चाहता है। यूरोप में इसका सर्व-प्रथम विकास इटली में हुआ। उसके बाद यह जर्मनी में फैला। तत्पश्चात् यह और भी अन्य देशों में फैला। नाज़ी-पराजय के पश्चात् अब इसका पतन हो गया है।

साम्राज्यवाद और फासिज्म के साथ राष्ट्रीयता की इस घनिष्टता से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जिसका उपयोग अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। यदि इसका साथ प्रजातंत्र और अंतर्राष्ट्रीयता से हो तो यह बहुत प्रगतिशील प्रवृत्ति हो जाती है यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो यह डिक्टेटरशिप और साम्राज्यवाद के रूप में प्रगट हो सकती है। अतएव यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के अवगुणों को ठीक से समझा जाय जिससे इसके ख़तरों से बचा जाय।

IV अंतर्राष्ट्रीयता

अंतर्राष्ट्रीयता से हमारा अभिप्राय एक ऐसे दृष्टिकोण से है जिस में अपने राज्य के हित के साथ अन्य राज्यों के हितों का भी ध्यान

रक्खा जाता है। इसमें दृष्टिकोण का राष्ट्र और राज्य के संकीर्ण दायरे में बन्द नहीं रक्खा जाता। यदि नागरिक केवल अपने ही देश के हित का ध्यान रखते हैं और दूसरों को भुला देते हैं तो इस का परिणाम यही होगा कि आपस में वैमनस्य स्पर्द्धा और संघर्ष फैलेगा। प्रत्येक देश केवल अपने स्वार्थ की सोचेगा। उनके स्वार्थों में आपस में टक्कर होगी और इसका फल होगा विश्व में अशांति। यथार्थ में पिछली कई सदियों से हो भी यही रहा है। राज्य यह सोचते हैं कि उनका हित सहयोग में नहीं वरन् शक्ति-प्रदर्शन में है। वे शक्ति द्वारा बलपूर्वक मनमानी करना चाहते हैं और अपने हित के लिये दूसरों को दबाना चाहते हैं। जब तक वे इस दृष्टिकोण को त्याग नहीं देते संसार में शांति का बना रहना असम्भव है। मानव-समाज का कल्याण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही सम्भव है संघर्ष द्वारा नहीं। पर दुर्भाग्यवश इस सत्य को अभी भी पूरा तरह नहीं समझा गया जिसके परिणामस्वरूप अभी तक एक स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि कोण नहीं बन पाया।

कुछ लोगों का विचार यह है कि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दो विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। ऐसा विचार ठीक नहीं है। जहाँ तक विशुद्ध राष्ट्रीयता का प्रश्न है उसका अन्तर्राष्ट्रीयता से कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार समाज में व्यक्ति साथ-साथ रह सकते हैं और दोनों के हितों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है उसी प्रकार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में भी सामंजस्य सम्भव है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि संकुचित मनोवृत्ति को त्याग कर दृष्टिकोण को इतना व्यापक बनाया जाय कि उसमें दूसरे राष्ट्रों की भलाई भी सम्मिलित हो जाय। फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों मे कोई विरोध उपस्थित न होगा।

यदि ऐसा कोई अवसर हो भी तो उसका भी हल उस नागरिक सिद्धान्त के अनुसार कर लेना चाहिये कि बड़े हितों के सामने छोटे हितों का त्याग किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये यह आवश्यक है कि हम थोड़ा-सा त्याग करने के लिये तत्पर रहें। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध तभी उत्पन्न होता है जब व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को संकुचित बना कर अपनी विचार-धारा को राष्ट्रीय परिधि में सीमित कर देता है। यदि आपसी-झगड़ों का निपटारा न्याय के सिद्धान्तों पर शांतिपूर्वक नहीं होता तो शक्ति का प्रयोग स्वाभाविक है। अतः मानव सभ्यता की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि जिस प्रकार राजकीय-क्षेत्र से हिंसा को निकाल दिया गया है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यही किया जाय। यानी शांतिपूर्ण उपायों से अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों को सुलझाने के प्रयत्न किये जॉय।

अन्तर्राष्ट्रीयता और शांतिवादिता का भी घनिष्ट संबन्ध है। पर अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक शांति भंग करने वालों को यों ही छोड़ देना उचित नहीं समझते। उनका विश्वास है कि मानव-विरोधी कार्यों और प्रवृत्तियों की रोक-थाम के लिये सभी सम्भव उपायों को प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

V अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

केवल अतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही यथेष्ट नहीं है। जब तक मिल-जुल कर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को हल करने के प्रयत्न नहीं किये जायगें कोई विशेष लाभ न होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता पर विद्वान लगभग गत ५०० वर्षों से ज़ोर देते आ रहे हैं। दाँवे

(Dante), पियरे डुबाय (Pierre Dubois), ग्रोशस (Hugo Grotius), कान्त (Kant) आदि दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी योजनायें लोगों के सन्मुख रक्खीं। पर समय इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उपयुक्त न था। अतएव कुछ परिणाम न निकला। पर पिछली दो शताब्दी की घटनाओं और अविष्कारों ने हमारी दुनियाँ की शक्ल ही बदल दी है। आर्थिक, बौद्धिक, सामाजिक रूप मे दुनियाँ अब एक हो गई है। यातायात और सन्देश के नवीनतम साधनों ने संसार के व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँध दिया है। संसार के किसी भी भाग में होने वाली घटनायें दूसरों पर भी प्रभाव डालती हैं। अतएव कोई भी राष्ट्र अब दुनियाबी बातों से बेखबर नहीं रह सकता। सब के लिये सहयोग-पूर्वक रहना अब आवश्यक हो गया है।

यूरोप में राज्यों के गुट्ट तो १६ वीं शताब्दी से ही बनने लगे थे पर वे अन्तर्राष्ट्रीय शांति और न्याय के लिये प्रयत्नशील न थे। उनका उद्देश्य साथी राज्यों के लिये लाभदायक स्थिति बनाये रखना होता था। इन गुट्टों में आपसी झगड़े चलते रहते थे। सर्वप्रथम सन् १८६६ ई० में जाकर कहीं एक ऐसी कान्फ्रेंस हुई जिसे सच्चे अर्थ में राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की संस्था कहा जा सकता है। इस हेग कान्फ्रेंस की दूसरी बैठक ८ वर्ष के बाद और हुई। पर साम्राज्यवादी लिप्सा राज्यों के आपसी सहयोग में बाधिक हो रही थी। यही नहीं राज्यों और राजनीतिज्ञों को सहयोग की आवश्यकता और उसकी उपयोगिता में विश्वास न था। वे शक्ति के बल पर संसार में अपना प्रभुत्व बनाये रखने की इच्छा रखते थे। इन सबका स्वाभाविक परिणाम लड़ाइयों के रूप में सामने आता था।

यों तो लड़ाइयाँ होती ही रहती थीं पर प्रथम विश्व युद्ध (सन् १६१४-१६१६ ई०) की भीषणता तथा भयानकता ने विचारकों और दार्शनिकों में एक तहलका मच दिया। लोगों ने यह अनुभव किया कि यदि युद्ध को रोकने के उपाय नहीं किये गये तो मनुष्य की सभ्यता का ही विनाश होकर रहेगा। इस विचार के फलस्वरूप युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये एक संस्था खोलने की चर्चा चल पड़ी। युद्ध के पश्चात यही राष्ट्र-संघ (League of Nations) के रूप में हमारे सन्मुख आई।

राष्ट्र-संघ—राष्ट्र-संघ की स्थापना मुख्यतः अमेरिका के प्रेसीडेन्ट बुड्रो विल्सन (Woodrow Wilson) के प्रयत्नों द्वारा हुई। इसके विधान में राष्ट्र-संघ के तीन लक्ष्य बतलाये गये थे : (१) अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा व्यवस्था रखना, (२) ऐसे झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे का प्रयत्न करना जो शांति भंग कर सकते हैं और (३) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना। अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये निशस्त्रीकरण (Disarmament) का प्रस्ताव किया गया। झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिये हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को स्वीकार किया गया और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बनाये रखने के लिये आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में मिलकर काम करने का निश्चय किया गया। इस प्रकार यह आशा की गई कि राज्यों का पारस्परिक वैमनस्य और अविश्वास दूर हो सकेगा और अंतर्राष्ट्रीय सबन्ध अच्छे बनाये जा सकेंगे।

राष्ट्र-संघ जिनेवा (Geneva) ने १० जनवरी १६२० ई० को कार्य करना प्रारम्भ किया। संघ की सदस्यता सभी स्वाधीन राज्यों, उपनिवेशों और डामीनियनों के लिये खुली रक्खी गई थी। विजेता

राज्य इसके प्रारम्भिक सदस्य थे। पर अमेरिका ने प्रारम्भ से ही पृथक रहने का निश्चय कर लिया। भारतवर्ष को भी विजेता राष्ट्र होने के नाते स्थान दिया गया। यद्यपि वह पूर्णतया स्वाधीन न था फिर भी यह सोचा गया कि युद्ध को जीतने में भारतवर्ष ने जन-धन से इतनी सहायता दी है कि उसे इसकी सदस्यता दे दी जानी चाहिये। सन् १९२२ ई० तक संयुक्त राष्ट्र, सोवियत रूस, टर्की, अफ़गानिस्तान और मिश्र को छोड़ कर शेष सभी आधुनिक राज्य इसके सदस्य बन गये। कोई भी सदस्य राज्य संघ से दो वर्ष का नोटिस देने के बाद सदस्यता से त्याग-पत्र दे सकता था। विधान के विरुद्ध कार्य करने पर राज्यों को संघ से निकाला भी जा सकता था। यह आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है कि सोवियत् रूस ही एक-मात्र ऐसा राज्य था जिसे राष्ट्र-संघ ने फिनलैण्ड पर १९३९ ई० में आक्रमण करने के पश्चात् सदस्यता से पृथक किया गया। राष्ट्र-संघ ने जापान के मंचूरिया और इटली के अबसीनिया पर आक्रमण करने पर यह कदम उठाना उचित नहीं समझा।

राष्ट्र-संघ के तीन प्रमुख विभाग थे : सभा (Assembly) परिषद् और कार्यालय (Secretariat)। सभा में सभी सदस्यों के प्रतिनिधि रहते थे। यद्यपि इनकी संख्या तीन तक हो सकती थी पर उनका मत एक ही होता था। सभा का वार्षिक अधिवेशन जिनेवा में होता था। पर इस सितम्बर अधिवेशन के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार अन्य बैठकें भी बुलाई जा सकती थीं। सभा राष्ट्र-संघ की अधिकार सीमा में आने वाले प्रत्येक विषय पर विचार कर सकती थी। पर इसके विशेष कार्य बजट पास करना, परिषद् के अस्थायी सदस्य चुनना, परिषद् की रिपोर्ट सुनना और उस पर विचार करना, नये सदस्य राज्यों के प्रवेश की अनुमति देना और संघ के

विधान में संशोधन करना था। पर सभा केवल विचार-विनिमय करने वाली संस्था थी। इसे साधारणतया सर्वसम्मति से निर्णय करने होते थे। पर कुछ विषयों में यह बहुमत द्वारा भी काम कर सकती थी।

परिषद की सदस्य संख्या चौदह नियत की गई थी। इसके कुछ सदस्य स्थायी होते थे और कुछ अस्थायी। अस्थायी सदस्यों को सभा तीन वर्ष के लिये चुनती थी। जब कभी परिषद् के सन्मुख किसी ऐसे राज्य का मामला उपस्थित होता था जो स्वयं परिषद् का सदस्य न हो तो उसके सदस्य भी संघात बैठकों में उपस्थित हो सकते थे। यही बात उन राज्यों के विषय में थी जो राष्ट्र संघ के सदस्य न थे। परिषद के स्थायी और अस्थायी सदस्यों का समान रूप से प्रतिनिधित्व और एक मत देने का अधिकार प्राप्त था। इसकी बैठकें प्रायः तीसरे या चौथे महीने होती थीं। इसका कार्य निशस्त्रीकरण की योजनायें बनाना, मेन्डेटड (Mandited प्रदेशों के शासन की देख-भाल और कार्यालय की नियुक्तियों के लिये स्वीकृति देना था। यह नये राज्यों की अल्पसंख्यकों-सबन्धी सन्धियों (Minority Treaties) के अनुसार उनके अल्पसंख्यकों की देख भाल भी करता थी। इसके निर्णयों के लिये सर्व-सम्मति का होना आवश्यक समझा जाता था। परिषद को एक प्रकार से सभा की कार्यकारिणी समझा जाता था।

कार्यालय में अनेक उप-विभाग थे। कार्यालय का प्रधान सैक्रेटरी-जनरल कहलाता था। इसका काम राष्ट्र-संघ के विवरणों को प्रकाशित करना, सूचना और आँकड़े एकत्रित करना और उन्हें वितरित करना था। राष्ट्र-संघ का व्यय सदस्यों के चन्दे से चलता था।

स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय एक कानूनी संस्था थी। इसका काम इसके सन्मुख पेश होने वाले मामलों का निर्णय करना था।

इसके पन्द्रह न्यायाधीश और चार उप-न्यायाधीश होते थे। न्यायालय का स्थान हेग (Hague) था। न्यायाधीश परिषद् तथा सभा द्वारा ९ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते थे। न्यायालय स्वयं तीन-तीन वर्षों के लिये अपना प्रधान और उप-प्रधान चुनता था। इसका वार्षिक अधिवेशन जून में होता था किन्तु आवश्यकतानुसार इसकी बैठक किसी समय हो सकती थी। इसके कार्य दो प्रकार के थे : न्याय-संबन्धी और परामर्श-संबन्ध। जहाँ झगड़ों के दोनों पक्षों में यह सन्धि या समझौता होता था कि वे आपसी झगड़ों का निपटारा शान्ति-पूर्ण ढंग से करेंगे वहाँ मामला इसके सामने आता था। आपसी व्यवस्था से भी न्यायालय द्वारा निर्णय कराया जा सकता था। न्यायालय सभा या परिषद् के पूछने पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सबन्ध में अपना परामर्श भी दे सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संगठन (International Labour Organisation) राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत एक स्वाधीन संस्था बनाई गई थी। यही एक मात्र ऐसी संस्था है जो राष्ट्र संघ के १९४६ ई० में समाप्त होने के पश्चात् भी चल रही है। यही नहीं, यह संस्था ही अपने कार्यों में सबसे अधिक सफल भी हुई है। इसका उद्देश्य श्रम के महत्व को मानना, श्रम संघों को स्वीकार करना, उचित वेतन की व्यवस्था कराना, काम के घंटों को कम करा कर ४४ घंटे करा देना, सप्ताह में एक दिन की पूरी छुट्टी दिलवाना, बच्चों की मज़दूरी बन्द कराना, नर-नारियों को समान कार्य के लिये समान वेतन दिलाना, फैक्टरियों के निरीक्षण पर और सामाजिक बीमे पर ज़ोर देना है। कोई भी राज्य इसका सदस्य हो सकता है चाहे वह लीग का सदस्य हो या न हो।

इसके दो उप-विभाग थे : अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम कान्फ्रेंस (I.L.C.) और अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-कार्यालय। कान्फ्रेन्स में प्रत्येक सदस्य-राज्य चार

प्रतिनिधि भेजता है। इनमें दो सरकारी होते हैं और दो ग़ैर सरकारी। ग़ैर सरकारी प्रतिनिधियों में एक मज़दूरों का और दूसरा मिल-मालिकों का होता है। ग़ैर सरकारी प्रतिनिधि भी सरकार नियुक्त करती है। कान्फ्रेंस साधारण बहुमत से प्रस्ताव पास करती है पर समझौतों के लिये दो-तिहाई का बहुमत आवश्यक समझा जाता है। अधिवेशन वार्षिक होते हैं। आवश्यकतानुसार अतिरिक्त बैठकें भी बुलाई जा सकती हैं।

कार्यालय का प्रबन्ध चौबीस सदस्यों की एक समिति करती है। इसमें बारह सदस्य सरकारी और शेष बारह ग़ैर सरकारी होते हैं। सरकारी सदस्यों में आठ स्थान स्थायी हैं। भारतवर्ष को भी इनमें एक प्राप्त है। ग़ैर सरकारी सदस्यों में ६ मजदूरों के और ६ मिल-मालिकों के होते हैं। यह समिति अपना प्रधान स्वयं चुनती है। उसका कार्य-काल तीन वर्ष होता है। इसकी बैठकें तिमाही होती हैं। इसका काम डायरेक्टर की नियुक्ति करना, बजट का स्वीकार करना, कमीशनों के सदस्यों को चुनना और कान्फ्रेन्स का कार्यवाही के लिये विषय तय करना होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संगठन मज़दूरों की हालत की जाँच और उसके सुधार के लिये बना था। इस कार्य को अब भी यह बहुत खूबी के साथ कर रहा है। इसके प्रयत्नों के फल-स्वरूप मज़दूरों की स्थिति में काफ़ी सुधार हुए हैं। अब यह संगठन नवीन संयुक्त-राष्ट्रीय-संघ (U. N. O.) से सम्बन्धित है।

जहाँ एक ओर अन्तराष्ट्रीय-श्रम-संगठन अपने उद्देश्यों को पूरा करने में बहुत कुछ सफल हुआ वहां दूसरी ओर राष्ट्र-संघ को सफलता नहीं मिली। फल-स्वरूप प्रथम विश्व-युद्ध से भी विनाशकारी

द्वितीय विश्व-युद्ध हमारे सामने आया। राष्ट्र-संघ की विफलता का मूल कारण इस संस्था की खराबी न थी वरन् इसके सदस्यों की दिलमिल और स्वार्थ-परायण नीति थी।

जहाँ तक निशस्त्रीकरण का प्रश्न है राष्ट्र-संघ कुछ भी नहीं कर सका। कारण स्पष्ट था। निशस्त्रीकरण तभी सम्भव हो सकता था जब कि सदस्य-राज्य यह स्वीकार करें कि वे हिंसा द्वारा अपने कार्यों को पूरा नहीं करना चाहते। यही नहीं वे आपसी अविश्वास और मनो-मालिन्य को दूर कर मिल कर काम करें। पर ऐसी भावनाओं का उनमें सर्वथा अभाव था। शक्ति और हिंसा में उनका विश्वास उस समय भी था और अब भी है। वे निशस्त्रीकरण की बातें तो करते थे पर उनका ध्यान सदैव यह बना रहता था कि अस्त्र-शस्त्रों में उनकी स्थिति दूसरों से किसी प्रकार कम न हो जाय। परिणाम यह हुआ कि बातें बहुत हुईं पर फल कुछ न निकल सका। इससे अधिक सफलता तो वाशिंगटन कान्फ्रेंस (१९२१-२२ ई०) को मिल गई जिसमें नौ-सेना को घटाने का निर्णय किया गया था। यह कांफ्रेंस राष्ट्र-संघ द्वारा नहीं बुलाई गई थी।

खुले आम सन्धियाँ करने और शांति-पूर्ण फैसले कराने के संबंध में भी कोई विशेष प्रगति न हो सकी। यह ठीक है कि बहुतेरी संधियों को प्रकाशित किया गया। फिर भी गुप्त-सन्धियाँ और गुट्ट-बन्दियाँ चलती रहीं। जहाँ तक न्यायालय या पंचायत द्वारा झगड़ों के निर्णय कराने का प्रश्न है बड़ी शक्तियाँ इसके लिये तत्पर न थीं। इसमें उन्हें अपनी मान-हानि मालूम देती थी। इस कारण इस सम्बन्ध में भी अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। प्रारम्भ में छोटे-मोटे मामलों

को सुलझाने में इसे कुछ सफलता मिली भी। उदाहरण के लिये सन् १९२१ में इसने सविया और अलबानिया के बीच एक झगड़े को निपटाया, सन् १९२४ ई० में ग्रीस और बलगारिया के सीमा-सम्बन्धी झगड़े को सुलझाया और सन् १९२३ ई० में ग्रीस और इटली के मामले का निपटारा किया। इस प्रकार की प्रारम्भिक सफलता से यह आशा हो उठी थी राष्ट्र-संघ सम्भवतः युद्ध रोकने में सफल हो सके और एक नई सभ्यता का सूत्रपात हो। पर जापान ने जब सन् १९३१ ई० में मचूरिया पर आक्रमण किया तो राष्ट्र-संघ उसकी रक्षा के लिये कुछ भी न कर सका। यही नहीं राष्ट्र संघ द्वारा आक्रमक ठहराये जाने पर वह सन् १९३३ ई० में उससे पृथक भी हो गया। राष्ट्र-संघ की इस निर्बलता ने उसका खोखलापन ज़ाहिर कर दिया। जो कमी शेष थी वह इटली द्वारा अबसीनिया पर आक्रमण किये से पूरी हो गई। अबसीनिया और इटली दोनों ही राष्ट्र-संघ के सदस्य थे। पर राष्ट्र-संघ अपने सदस्य की भी रक्षा न कर सका। जब राष्ट्र-संघ ने इटली का आंशिक आर्थिक बायकाट करने का निर्णय किया तो इटली ने उसकी सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया। कुछ दिन पश्चात् यह पता चला कि ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ने ही गुप्त रीति से अबसीनिया के आक्रमण की अनुमति दे दी थी। इटली की इस सफलता ने नाज़ी जर्मनी के भी हौसले बढ़ा दिये और उसने चैकोस्लोवाकिया और आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लिया। इसी बीच में स्पेन में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया था जिसमें इटली और जर्मनी खुले आम फ्रांसिस्ट नेता फ्रांको का पक्ष ले रहे थे पर राष्ट्र-संघ ने इस सम्बन्ध में भी ढिलमिल नीति से काम लिया। चीन और जापान के युद्ध में भी यह कुछ न कर सका। इसका परिणाम यह हुआ कि शांतिवादी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं और हिंसावादियों को यह विश्वास हो गया कि वे निडर होकर अपनी शक्ति का खुला प्रयोग कर सकते हैं।

जब हम इस प्रश्न पर विचार करने बैठते हैं कि राष्ट्र-संघ क्यों असफल हुआ तो सर्वप्रथम हमारे सामने एक ऐसे राज्यों के समूह का ख़ाका खिंच जाता है जिनका सम्मिलित शक्ति में विश्वास न था। राष्ट्र-संघ के विधान को विजित राज्यों के साथ की गई संधियों का एक अंग बनाकर प्रैसीडैन्ट विल्सन ने उसे दूसरों पर लाद दिया था। यथार्थ में किसी को उसके संबन्ध में विशेष उत्साह न था। प्रैसीडैन्ट विल्सन स्वयं संयुक्त-राष्ट्र (U. S. A.) को इसकी सदस्यता स्वीकार कर लेने को राज़ी न कर सके। सोवियत् रूस को इसमें तब तक सम्मिलित नहीं किया जब तक हिटलर और मुसोलिनी के डर ने ब्रिटेन-फ्राँस को बेबस न कर दिया। फिर भी सोवियत् की 'सामूहिक शांति' के लिये प्रयत्नों की माँग पर किसी ने ध्यान न दिया और ब्रिटेन और फ्रान्स बराबर इसी आधार पर कार्य करते रहे कि किसी प्रकार सोवियत् और नाज़ी जर्मनी को भिड़ा कर स्वयं लाभ उठाया जाय। इस लिये वे इटली तथा जर्मनी को बराबर बढ़ावा देते रहे। साम्यवाद का हौवा उनके लिये काल बन बैठा।

राष्ट्र-संघ की एक बुनियादी कमज़ोरी यह भी थी कि उसका विधान विजित राज्यों के साथ की गई संधियों का एक अंग थी। अतः प्रारम्भ से ही लोगों में यह भावना ज़ोर पकड़ गई कि राष्ट्र-संघ तो विजित राज्यों की लाभदायक स्थिति को बनाये रखने वाली एक संस्था है। यह विचार इसलिये और भी दृढ़ हो गया कि राष्ट्र संघ के विधान में ऐसा कोई उपाय न सुझाया गया था जिसके अनुसार पुरानी संधियों और व्यवस्था में शान्तिपूर्वक परिवर्तन कराये जा सकें। फिर जब इटली और जर्मनी शांति की संधियों को भंग करने लगे तो उनका विश्वास राष्ट्र-संघ की उपयुक्तता से और भी हिल गया। राष्ट्र-संघ के कारनामों ने भी यह स्पष्ट कर दिया कि एक बड़ी शक्ति के आगे किसी छोटी शक्ति के साथ न्याय होने की आशा

करना व्यर्थ है। यही कुछ ऐसे कारण थे जिन्होंने राष्ट्र-संघ के नैतिक आधार को ठेस लगा कर उसे निर्बल कर दिया।

यद्यपि राष्ट्र संघ अपने मुख्य उद्देश्य में असफल रहा फिर भी उसने यह प्रमाणित कर दिया कि यह दोष संघ का नहीं वरन् उसके सदस्यों की ढिलमिल नीति और सामूहिक प्रयत्नों में अविश्वास का है। इससे लोगों में यह भावना और भी दृढ़ हो गई कि अगला अंतर्राष्ट्रीय-संघ इससे कहीं अधिक शक्तिशाली होना चाहिये। इसकी असफलता से उनका इस उपाय पर से विश्वास नहीं हट गया। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को सभी ने स्वीकार किया। द्वितीय विश्व युद्ध ने तो उसकी आवश्यकता को विशेष रूप में स्पष्ट कर दिया।

यही नहीं, राष्ट्र संघ ने कुछ बहुत उपयोगी काम भी किये। आर्थिक क्षेत्र में युद्ध के पश्चात् जब आस्ट्रिया में एक बड़ा आर्थिक संकट आया तो इसने बड़ी मदद की। इसी प्रकार की आर्थिक सहायता अन्य देशों को भी दी गई। दूसरी समस्या जिसका हल इसे करना पड़ा शरणार्थियों का था। युद्ध के पश्चात् कोई भी देश विदेशियों को रखने को तैयार न था। युद्ध के समय सहस्रों व्यक्ति बे घरबार और बेकाम हो गये थे। कुछ तो अपना नाम, ठिकाना, नागरिकता तक को भूल बैठे थे। इन सबको राष्ट्र संघ ने यथास्थान पहुँचाया। लगभग तीन लाख शरणार्थियों को इसने सहायता दी। तीसरा काम जो इसने सफलतापूर्वक किया स्वास्थ्य सम्बन्धी था। इसने महामारी के कारणों पर अनुसन्धान कराये। स्वास्थ्य और स्वच्छता के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने के लिये बाकायदा एक खोज विभाग खोला गया। यही नहीं महामारी के फैलने पर उसकी रोकथाम के लिये भी इसने सक्रिय सहायता की। अफीम तथा अन्य नशीली वस्तुओं के

उत्पादन तथा उसकी बिक्री पर नियन्त्रण करने के लिये भी इसने प्रयत्न किये। इनका उत्पादन कम करवाया गया और खपत रोकी गई। भारतवर्ष ने भी लाखों रुपये का घाटा उठाकर इस सम्बन्ध में अपनी उदारता का परिचय दिया।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र-संघ ने स्त्रियों और बच्चों के अनैतिक व्यापार को बन्द करने के लिये प्रयत्न किये। इस सम्बन्ध में खोज करने के लिये सन् १९२३ ई० में एक कमेटी नियुक्त की गई। छह वर्ष के परिश्रम के उपरान्त इस कमेटी ने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का पता लगाया जो गोरे बच्चे और औरतों का व्यापार करते थे। साथ ही दासों के व्यापार का भी प्रश्न था। राष्ट्र-संघ इन्हें रोकने में काफी सीमा तक सफल हुआ। यही नहीं राष्ट्र संघ ने बौद्धिक क्षेत्र में भी सहयोग स्थापित करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। इसके संसार के प्रसिद्ध विद्वान तथा विचारक सदस्य थे। इसका उद्देश्य आपस में सम्पर्क स्थापित करना, दूसरों की संस्कृति तथा सभ्यता को समझना था। राष्ट्र संघ का यह विश्वास था कि इस उपाय के द्वारा आपस मतभेद, और ग़लतफ़हमियों को बहुत कुछ सीमा तक दूर किया जा सकता है। बात ठीक थी और इसमें सफलता भी मिली। पर फासिज्म के उदय होने के पश्चात् ये सारी बातें हवा हो गईं।

राष्ट्र संघ की निर्बलता ने उसे असफल कर दिया। स्वार्थ ने राज्यों को अंधा कर दिया। उन्होंने सामूहिक प्रयत्नों की उपेक्षा की। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी ने अपने शत्रुओं में फूट डाल कर एक एक कर उन्हें पराजित करके अपने आधीन करना प्रारम्भ कर दिया। इस द्वितीय विश्व-युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना विश्व शान्ति सदैव खतरे में रहेगी। शान्ति

और सुरक्षा बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि आपसी सम्बन्धों को कुछ नियमों पर आधारित किया जाय। जब युद्ध चल ही रहा था तो ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री चर्चिल और प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट ने एक घोषणा-पत्र २ जनवरी १९४२ ई० को प्रकाशित कराया जो 'एटलाँटिक चार्टर' के नाम से जाना जाता है। इस चार्टर में आठ धारायें हैं: (१) हस्ताक्षर कर्त्ताओं के देश अपने लिये प्रदेश आदि के किसी प्रकार के लाभ को नहीं चाहते। (२) वे ऐसे कोई भौमिक परिवर्तन नहीं चाहते जो वहाँ की जनता की स्वतंत्रतापूर्वक दी गई राय के विरुद्ध हो। (३) वे सब मनुष्यों के अपनी इच्छा के अनुसार शासन प्रणाली कायम करने के अधिकार का आदर करते हैं। उनकी इच्छा है कि जिन लोगों को बलपूर्वक उनके सर्वोपरि अधिकारों और स्वशासन से वंचित कर दिया गया है उन्हें वे अधिकार दुबारा दे दिये जाँय। (४) अपने वर्त्तमान उत्तरदायित्वों को ध्यान में रखते हुए वे यह प्रयत्न करेंगे कि छोटे-बड़े, विजयी और विजित सभी राज्यों को समान शर्तों पर अपनी आर्थिक समृद्धि के लिये आवश्यक कच्चा माल पाने और व्यापार करने की सुविधा हो। (५) वे आर्थिक क्षेत्र में सभी राष्ट्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं जिससे सबके लिये बहतर मजदूरी की अवस्था, आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो सके। (६) नाजी जर्मनी के नाश के पश्चात् वह इस प्रकार की शाँति की स्थापना करना चाहते हैं कि वे सभी राष्ट्र अपनी-अपनी सीमा में सुरक्षित रह सकें और लोगों को इसका विश्वास रहे कि सब देशों में भय और अभाव से मुक्त रह सकेंगे। (७) ऐसी शाँति में सभी व्यक्तियों को समुद्र और महासागर में बेरोक टोक आने-जाने की सुविधा होनी चाहिये। (८) वे विश्वास करते हैं कि संसार के सभी राष्ट्रों को शक्ति का प्रयोग छोड़ देना

चाहिये। आक्रमणकारी राष्ट्रों का निरस्त्रीकरण किया जाना चाहिये। वे अन्य राष्ट्रों को भी शस्त्रीकरण के बोझे से बचाने का उपाय करेंगे। इस घोषणा-पत्र पर बाद में २६ राष्ट्रों ने हस्ताक्षर कर दिये थे। भारतवर्ष में इस घोषणा-पत्र का बहुत स्वागत हुआ किंतु जब प्रधान मन्त्री चर्चिल ने यह बतलाया कि यह घोषणा भारतवर्ष पर लागू नहीं होती तो इससे भारतवासियों को बहुत निराशा हुई और उनका उत्साह इस युद्ध के सम्बन्ध में बहुत कुछ मंद पड़ गया। इस घोषणा-पत्र के अतिरिक्त स्वर्गीय प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने चार स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) का भी उल्लेख किया जो उनके अनुसार सबको प्राप्त होनी चाहिये। इसमें भय और अभाव से छुटकारे के अतिरिक्त विचार और आत्मा की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित थी। लेकिन लोगों को अब कोरी घोषणाओं में विश्वास नहीं रह गया। वे इन घोषणाओं को कार्य रूप में परिणित होता देखना चाहते हैं। वे यह नहीं चाहते कि प्रेसीडेन्ट विल्सन के चौदह शाँति-उद्देश्यों और पिछले राष्ट्र-संघ के समान नई व्यवस्था की व्यर्थ की माया-पच्ची प्रमाणित हो।

संयुक्त-राष्ट्रीय-संघ (United Nations Organisation) संयुक्त-राष्ट्रीय- संघ के विधान की रूपरेखा ब्रिटेन, संयुक्त-राष्ट्र सोवियत रूस और चीन के प्रतिनिधियों ने डम्बर्टन ओक्स के स्थान पर ७ अक्टूबर १९४४ ई० को स्वीकार किया। फिर इसे अन्य राज्यों तथा लोगों के विचारार्थ प्रचारित किया गया। इस पर सैन फ्रांसिस्को कान्फ्रेन्स में २५ अप्रैल से लेकर २६ जून १९४५ ई० तक संयुक्त राज्यों ने विचार किया और थोड़े से परिवर्तनों के साथ स्वीकार कर लिया गया। इस कान्फ्रेन्स के लिये उन सभी राज्यों को निमंत्रण भेजा गया था जिन्होंने जर्मनी या जापान पर १ मार्च १९४५ ई० तक

युद्ध की घोषणा कर दी थी। ४६ राज्यों ने इस निमन्त्रण को स्वीकार किया। ३० अप्रैल की बैठक में श्वेत रूस, यूक्रेन और अर्जेन्टाइना को भी इसका सदस्य बना लिया गया। डेनमार्क को ५ जून १९४५ ई० को सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार इन कान्फ्रेन्स में ५० राज्य सम्मिलित हुए जिन्होंने संयुक्त-राष्ट्रीय-संघ के विधान को स्वीकार किया।

इस विधान में इस बात की स्पष्ट घोषणा की गई है कि संयुक्त-राष्ट्रों की जनता युद्ध से मनुष्य मात्र को छुटकारा दिलाना चाहती है। इसमें मानव के बुनियादी अधिकारों में विश्वास प्रगट किया गया है और नर-नारियों के समान अधिकारों को स्वीकार किया गया है। इसमें ऐसी अवस्था लाने के प्रयत्न करने का विश्वास दिलाया गया है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्याय का पालन किया जायगा और सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्न होंगे। उन्होंने यह भी इरादा प्रगट किया कि सिवाय सामान्य हितों की रक्षा करने के वे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग न करेंगे और आपसी सहयोग से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे।

इस विधान में सदस्य राज्यों की समानता और समान अधिकारों, के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। यह भी माना गया है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में युद्ध न करेंगे और न उसकी धमकी ही देंगे वे सबको अपने उद्देश्यों के पूर्ति में सहायता देंगे और अपसभी राज्यों को कोई मदद न देंगे। वे इस बात का भी ध्यान रखेंगे कि जो राज्य इस संघ के सदस्य नहीं हैं वे भी इसके विधान के अनुसार कार्य करें। विधान के अनुसार संघ राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करेगा।

प्रारम्भिक सदस्यों के अतिरिक्त अन्य शांतिप्रिय राज्य भी इसके सदस्य बन सकते हैं। नये सदस्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद (Security council) की सिफारिश पर जनरल असेम्बली (Geu-

eral Assembly) निर्णय करेगी। विधान में राज्यों द्वारा सदस्यता से त्याग-पत्र दिये जाने का कोई नियम नहीं है। पर विधान का लगातार उल्लंघन किये जाने पर सदस्य राज्य को संघ से निकाला जा सकता है।

संघ के ६ मुख्य विभाग हैं: (१) जनरल असेम्बली, (२) सुरक्षा परिषद, (Security Council) (३)आर्थिक और सामाजिक परिषद (Economic) (Social Council) (४) ट्रस्टीशिप परिषद (Trusteeship Council), (५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और (६) कार्यालय (Secretariat)।

संयुक्त राष्ट्रीय संघ की जनरल असेम्बली के अधिकार बहुत सीमित हैं। असेम्बली सुरक्षा-परिषद का ध्यान ऐसे मामलों की ओर आकर्षित कर सकती है जो शांति भंग कर सकते हैं। पर इस सम्बन्ध में अपनी ओर से वह कोई सिफारिश नहीं कर सकती। हां वह शांति बनाये रखने के लिए मोटे सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है। वह निशस्त्रीकरण के सिद्धान्तों पर भी विचार कर सकती है। साथ ही वह सुरक्षा परिषद तथा अन्य विभागों की रिपोर्टों पर विचार कर सकती है। वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मामले पर विचार और सिफारिश तभी कर सकती है जब वह मामला सुरक्षा-परिषद के सन्मुख उपस्थित न हो। ऐसे विषयों की सूचना समय-समय पर परिषद असेम्बली को देती रहेगी। असेम्बली के सन्मुख शांति और सुरक्षा को खतरे में डालने वाले मामलों को कोई भी संघ का सदस्य, सुरक्षा-परिषद या बाहरी राज्य पेश कर सकता है। इसे नये सदस्यों के प्रवेश और बजट को स्वीकार करने के भी अधिकार हैं। यही नहीं यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिये खोज-कार्य कर सकती है और सिफारिशें कर सकती है। प्रत्येक सदस्य पाँच प्रतिनिधि भेज सकता है पर उसका मत एक होता है कार्य

वाही के नियम साधारण बहुमत से तय होते हैं और अन्य महत्वपूर्ण निर्णय दो-तिहाई के बहुमत से। इसका अधिवेशन वार्षिक होता है पर विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं।

सुरक्षा-परिषद के ग्यारह सदस्य हैं। ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र, चीन, फ्रांस, सोवियत् रूस इसके स्थायी सदस्य हैं। शेष ६ सदस्य अस्थायी हैं जिन्हें असेम्बली दो वर्ष के लिये चुनती है प्रति वर्ष ३ नये सदस्य चुने जाने चाहिये। यह चुनाव भौगोलिक परिस्थिति का ध्यान रखते हुये होना चाहिये। सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्य युद्ध को रोकना है। वह शस्त्रीकरण पर नियन्त्रण रक्खेगी। परिषद में साधारण बातें किन्हीं सात सदस्यों के बहुमत से तय हो सकती हैं किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष कार्यवाही की आवश्यकता होगी वहाँ इन सातों में पांचों स्थायी सदस्यों का मत भी शामिल होना चाहिये। पर यदि कोई सदस्य झगड़े, में एक फरीक हो तो उसे मत देने का अधिकार न होगा।

सब के सदस्य सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानने को बाध्य हैं। सुरक्षा-परिषद के सदस्य स्थायी रूप से संघ के प्रधान कार्यालय के स्थान पर रहते हैं। समय-समय पर परिषद की बैठकें होती रहती हैं। यदि प्रस्तुत विषय से उसका कुछ सम्बन्ध हो तो अन्य सदस्य भी इनमें अपने प्रतिनिधि भेज सकते हैं। पर मत देने का अधिकार उसे न होगा। झगड़ा होने पर पहले दोनों पक्षों से आपसी बातचीत, मध्यस्थता, पंचायत, न्यायालय या प्रादेशिक प्रबन्धों द्वारा झगड़ा तय करने को कहा जायगा। पर सुरक्षा-परिषद को यदि शाँति भंग होने का डर हो तो वह स्वयं खोजबीन कर सकती है। कोई भी सदस्य ऐसा मामला पेश कर सकता है। झगड़े का फरीक भी यदि वह 'शाँतिपूर्ण निपटारे' से सहमत हो तो अपना मामला पेश कर सकता है। झगड़े का डर होने पर सुरक्षा-परिषद कोई अस्थायी प्रबन्ध कर

सकती है। संघ के उद्देश्यों के उल्लङ्घन करने पर आर्थिक हस्तक्षेप या सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है। कूटनीतिक सम्बन्धों तथा समस्त सन्देश तथा यातायात के साधनों के सम्बन्ध को भी तोड़ा जा सकता है। यदि इससे काम न चले तो शक्ति का उपयोग किया जा सकेगा। इसके लिये सदस्यों से सैनिक सहायता की मांग की जा सकेगी। सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में एक 'मिलीटरी स्टाफ कमेटी' बनाई गई है। इस कमेटी का काम सैनिक मामलों में सुरक्षा-परिषद को परामर्श और सहायता देना है।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् की सदस्य संख्या १८ है। ये सदस्य जनरल असेम्बली द्वारा तीन वर्ष के लिये चुने जायेंगे। प्रत्येक वर्ष ६ नये सदस्यों का चुनाव होगा। यह परिषद साधारण बहुमत से अपने निर्णय करेगी। प्रत्येक निर्वाचित सदस्य का एक प्रतिनिधि तथा वोट होगा। विशेष संगठना के प्रतिनिधियों को भी कार्यवाही में भाग लेने की अनुमति दी जा सकती है पर वे मत न दे सकेंगे। ये विशेष संगठन अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने का स्वतन्त्र होंगे। इनके इस परिषद के साथ समझौते होंगे जिन पर जनरल असेम्बली अपनी स्वीकृति देगी। आर्थिक और सामाजिक परिषद का उद्देश्य यह होगा कि लोगों के रहन-सहन का माप-दण्ड ऊँचा हो, बेकारी न रहे, सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी उन्नति हो, अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और बौद्धिक सहयोग हो और बिना भेदभाव के सभी राज्य मानव अधिकारों को मानें और उनका आदर करें। यह परिषद विशेषज्ञों की समितियाँ भी नियुक्त कर सकेगी।

ट्रस्टीशिप परिषद इसलिये बनाई गई है कि उन प्रदेशों के शासन पर जो ट्रस्टों को सौंपे हुये हैं या उनके सुपुर्द किये जायेंगे नियन्त्रण रक्खा जा सके। इन प्रदेशों में वर्तमान मेन्डेट (Mandate)

प्रदेश भी हैं। इसका कार्य राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक तथा बौद्धिक उन्नति की ओर ध्यान देना है जिससे ये पिछड़े देश स्वाधीन होने तथा स्वशासन के योग्य बनें। विधान में इस बात का भी स्पष्ट निर्देश है कि इन क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक तथा व्यापारिक मामलों में सभी सदस्य राज्यों तथा उनके नागरिकों को समान समझा जाय और न्याय के सम्बन्ध में कोई भेद भाव न किया जाय।

इस परिषद का काम यह होगा कि वह ट्रस्टों को प्रश्नावली भेजे। जिसके आधार पर वे इन प्रदेशों के संबन्ध में अपनी वार्षिक रिपोर्ट जनरल असेम्बली के पास भेजते रहें। इस परिषद के सदस्य सभी ट्रस्टी होंगे। साथ ही उतनी ही संख्या में जनरल-असेम्बली अन्य सदस्यों में से तीन वर्ष के लिये चुना करेगी। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर होगी।

अन्तराष्ट्रीय न्यायालय को भी संघ का एक प्रमुख अंग मान लिया गया। संघ के सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय न्याय लय के चाटर बनाने में भाग लेंगे। सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश और जनरल असेम्बली की स्वीकृति पर अन्य राज्य भी इसमें भाग ले सकेंगे। इस न्यायालय का कार्य यह होगा कि जो मामले इसके सम्मुख प्रस्तुत हों उनपर अपना निर्णय दे। राज्य आपसी समझौतों से अपने झगड़ों को अन्य शांति-पूर्ण उपायों से सुलझाने का निर्णय कर सकते हैं। संघ के विभिन्न विभाग तथा विशेष संगठन भी न्यायालय से परामर्श लेने के अधिकारी होंगे।

संघ के कार्यालय का प्रधान सेक्रेटरी-जनरल होगा। विधान के अनुसार उसे तथा अन्य कर्मचारियों को किसी सरकार से न तो कोई हिदायतें लेनी चाहिये और न माँननी चाहिये। राज्यों का भी यह कर्तव्य होगा कि वे ऐसा कोई कार्य न करें। सेक्रेटरी-जनरल को चुनाव परिषद

की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करेगी। उसका कार्य यह होगा कि वह संघ के कार्यों का वार्षिक विवरण जनरल असेम्बली के सम्मुख उपस्थित करें। कार्यालय के शेष कर्मचारी असेम्बली के नियमों के अनुसार सक्रेटरी-जनरल करेगा।

विधान इस बात को स्पष्ट कहता है कि राज्यों के समस्त समझौतों तथा सन्धियों की सूचना संघ को दी जाना चाहिये। जो समझौते या सन्धियाँ संघ की जानकारी में होंगी उन्हें संघ के किसी भी विभाग के सम्मुख अपने दावे के लिये न रक्खा जा सकेगा। संघ का चार्टर हर हालत में सर्वोपरि रहेगा और उसके विपरीत किये गये समझौते आदि मान्य न होंगे।

संघ के विधान में संशोधन करने के लिये कभी भी जनरल असेम्बली द्वारा दो तिहाई के बहुमत एक संशोधक कान्फ्रेन्स बुला सकती है बशर्ते कि सुरक्षा-परिषद के कोई सात सदस्य इस प्रस्ताव से सहमत हों। यदि इस प्रकार की कान्फ्रेन्स ६ वर्ष तक न बुलाई जावे तो यह निर्णय जनरल असेम्बली साधारण बहुमत से और सुरक्षा परिषद के सात सदस्यों की सहमति से कर सकती है। इस कान्फ्रेन्स के दो-तिहाई से दिये गये सुझाव मान्य होने के लिये दो-तिहाई राज्यों द्वारा अंतिम रूप से स्वीकार किये जाने चाहिये। इनमें सुरक्षा परिषद के पाँचों सदस्य भी सम्मलित होने चाहिये। तभी वह संशोधन लागू हो सकेगा।

यह है उस संयुक्त-राष्ट्रीय संघ के विधान की रूपरेखा जिससे लोगों ने बहुत आशायें बाँध रक्खी हैं। इसमें बड़ी शक्तियों की स्थिति को स्पष्टतया स्वीकार कर लिया गया है। यह अच्छा भी है क्योंकि बिना इन राज्यों की सहमति और सहयोग के अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकता। अन्य उपायों द्वारा राष्ट्र-संघ की दुर्बलता को कम करने का प्रयत्न किया गया है। यह सब तो ठीक है

पर कठिनाई यह है कि बड़े राज्य स्वयं आपस में मेल से काम नहीं ले रहे हैं। इनमें से प्रत्येक प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की धुन में है। साम्राज्यवादी लिप्सा अभी तक शाँति होती नहीं दिखलाई देती। फ्राँस और होंलैण्ड के कारनामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वो अभी दुनियाँ की हवा से बेखबर हैं। अफ्रीका की रंग-भेद की नीति भी अभी तक ज्यों को त्यों कायम है। निशस्त्रीकरण की ओर अभी कुछ भी प्रगति नहीं हो पाई अभी भी नये नये नरसंहार के लिये विनाशकारी शस्त्रों की खोज जारी है। इससे यह प्रतीत होता है कि दुनियाँ में शाँति के दिन अभी नहीं आये। यदि राज्य आज चुप हैं तो केवल इसलिये कि वे युद्ध के कारण थके हुए हैं।

इस समय तीन प्रमुख राज्य है: ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र और सोवियत रूस। इनमें संयुक्त राष्ट्र पक्का पूँजीवादी देश है। विश्व का सबसे अधिक धनवान देश यही है। यहाँ प्रजातन्त्रीय शासन तो है पर आर्थिक विषमता भी सबसे अधिक है। इसके विपरीत सोवियत रूस ने पूँजीवाद का अन्त कर वर्ग-भेद तो मिटा दिये हैं पर अभी तक वह प्रजातन्त्रीय शासन तथा स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता। ब्रिटेन की वर्तमान समाजवादी सरकार इन दोनों के बीच एक मध्यवर्ती स्थान रखती है। वहाँ प्रजातन्त्रीय शासन द्वारा जनता की भलाई के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। संसार की शान्ति के लिये ब्रिटेन की सफलता बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि वह अपने प्रयत्नों में सफल होता है तो साम्यवाद की शासन-प्रणाली की निष्फलता प्रमाणित हो जायगी। यदि वह असफल होता है तो प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली से लोगों का विश्वास हट जायगा। ब्रिटेन का स्थान इसलिये और भी महत्वपूर्ण है कि वह रूस और अमेरिका के दो विरोधी आदर्शों में मेल कायम कर सकता है। भारतवर्ष भी शीघ्र ही स्वतन्त्र

होकर न्याय और प्रजातन्त्र के पक्ष को दृढ़ कर सकता है।

संसार में शान्ति स्थापित करने के दो ही ढंग इस समय दिखलाई देते हैं : शक्ति के बल पर स्थापित एकता। यह तरीक़ा फासिस्टों तथा साम्राज्यवादियों ने अपनाया पर वे असफल रहे। दूसरा तरीक़ा है शान्तिपूर्ण तथा वैधानिक उपायों से स्थापित एकता। दूसरी प्रकार की शांति तभी सम्भव है जब राज्य इस बात को स्वीकार कर लें कि वे हिंसा द्वारा या बलपूर्वक दूसरों से अपनी बात मनवाने का प्रयत्न न करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि साम्राज्यवाद इस प्रकार की कल्पना के बिल्कुल विरुद्ध है साम्राज्यवाद के अंतर्गत पूर्ण शान्ति रहना असम्भव है। दूसरे अर्थ इसके यह भी हुये कि हमें ऊँच नीच तथा भेदभाव को भुला देना होगा। अफ्रीका में अफ्रीका तथा ऐशियावासियों के साथ किया जाने वाला अमानुषिक व्यवहार संसार में कभी शान्ति नहीं रहने देगा। तीसरी बात यह है कि अपने देश में अल्पसंख्यकों के साथ बराबरी का व्यवहार करना होगा। इसके कारण गत बीस वर्षों से यूरोप में इतना झगड़ा रहा है और आगे ऐशिया तथा अफ्रीका में भी यही समस्या उठ सकती है। पर इससे भी अधिक आवश्यक बात यह है कि सभी राज्यों में प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणालियाँ स्थापित की जांय और ये सरकारें इस बात का प्रयत्न करें कि जन-साधारण की अशिक्षा, गरीबी, बेकारी, बीमारी को दूर किया जा सके। यही नहीं सबों का रहन-सहन का मापदण्ड ऊँचा हो। सभी व्यक्ति यह समझ सकें कि वह भी मनुष्य हैं और उन्हें भी जीवन का उपभोग करने का समान अधिकार है। जब इस प्रकार की व्यवस्था संसार में स्थापित हो जायगी तो फिर झगड़ों का कोई प्रश्न ही नहीं उठ खड़ा हो सकेगा। शक्ति का महत्व स्वयं ही आता रहेगा। सभी बातें न्याय और लोकमत के अनुसार की जांयगी। किन्तु यदि इस

प्रकार की व्यवस्था कायम नहीं होती तो शान्ति कठिन है। बल-प्रयोग और अधिकार-लिप्सा के कारण हम दो भीषण रक्तपातों को तो देख ही चुके हैं। कौन कह सकता है कि एटम-बम के इस युग में आगे अब क्या हो? मानवता इस समय एक गम्भीर संकट से गुजर रही है। यह उसके जीवन-मृत्यु का प्रश्न है। इस प्रश्न का निर्णय नागरिकों की समझ और उनके प्रयत्नों पर निर्भर है। अतएव यह आवश्यक है कि हम में से प्रत्येक यथाशक्ति दुनियाँ में शांति सुरक्षा तथा प्रसन्नता के हेतु तन, मन, और धन से, कार्य करें। यदि सब नागरिक अपने कर्तव्य पूरा करेंगे तो कोई कारण नहीं कि हमारा भविष्य उज्ज्वल न हो और यह संसार ही स्वर्ग न बन जाय।

APPENDIX I

U. P. Board's Questions

on

Civics Theory

N.B.—Only five questions are in each case to be attempted.

1928

1. What do you understand by the term Civics ? How is the subject related to Politics, Economics and Ethics ?

2. Explain the proposition that Civics or Politics should be studied after the manner of exact sciences like Physics or Chemistry.

3. "Co-operation is the main spring of life". Comment.

4. "Rights are only the counter part of duties." Explain.

5. Show how citizenship means the right ordering of loyalties—to self, family, religion, city and nation.

6. "The only true foundation of liberty is law and order." Explain.

7. On what principles is the State justified in regulating the intellectual and moral life of the citizens ?

8. "The problem of democratic govt. is essentially an ethical problem." Explain.

9. Should the Executive and Judicial functions of government be exercised by separate set of officials ?

10. What are the functions which, in your opinion, Municipal Boards should perform ?

11. What are the main objects of the League of Nations ? Indicate the salient features of its constitution.

1929

1. What is the justification for teaching Civics at Colleges ?

2. What are the chief functions which in your opinion, every government should perform ?

3 "Life, liberty and the pursuit of happiness are the inalienable right of man." Comment.

4. It has been said that the doctrine of Equality is a monstrosity. What do you think ?

5. What principles should regulate the resolutions of the Executive and Legislature ?

6. Explain the proposition of Professor McTaggart that "not society, but the individual is the end of social life."

7. Treitschke said that nothing can be above the State and there is no standard of justice to which it is obliged to conform. Criticise.

8. What do you know of the International Labour Office at Geneva ?

9. What methods will you employ to awaken and maintain popular interest in municipal affairs ?

10 What should be the relations of the Judiciary with the Executive and the Legislature ?

1930

1. Define Civics and briefly discuss its scope and methods.

2. Distinguish between "Society" and "State" and briefly discuss their mutual relations.

3 What are the chief forms of government and why is democratic government generally preferred ?

4. What are the various purposes of punishment ?

5. What are the duties that a citizen owes to the State ? To what extent can the State compel him to perform them ?

6. "Local Self-Government is a necessary step to National Self-Government." Discuss.

7. How far is the State justified in removing social evils like drink and early marriage by legislation ?

8. What part do political parties play in the work of the State and the education of the citizen ?

9. What is "Nationalism" and "Internationalism" ? Are the two necessarily incompatible ?

10. State the reasons for and against Woman franchise.

1931

1. Is social life possible without government ? What is the necessity and origin of government ?

2. Distinguish the province of Civics from that of Politics and Religion.

3. "Give the State as little as you can and get as much out of the State as you can." Explain and show how far you agree with this attitude of a citizen.

4. "Family is the eternal school of ,social life." Explain and discuss how social virtues are first developed in family life

5. What part do villages and towns play in national life ? How are they organised for civic purposes ?

6. "Man's higher progress is a series of subordinations of a smaller self to a higher and wider self." Explain and state the relation of one's duties to his family, to his locality, and to his nation.

7 What do you understand by Democracy ? Discuss the merits and defects of a democratic government.

8 What are the various organs and divisions of government ? Enumerate the main fucntions which each of them performs.

9 What do you understand by the term rights of man ? How are they recognised and made secure to a citizen ?

0. "Men are born for the sake of one another. Either teach them or bear with them." Explain and discuss the place of society and education in human life.

1932

1. 'State is the first essential condition of civilised life ' Explain.

2. What do you understand by the terms 'equality' and 'liberty' ?

3 How do you define citizenship ? What are the obligations of the citizen towards the State ?

4. Describe the different theories of the origin of society and criticize them.

5. What is the end of the State ? By what means does the State realise the end.

6. Give a brief description of the different types of constitutions, explaining the grounds on which they are classified.

7. Give a definition of 'rights', and state what rights should, in your opinion be guaranteed by the State.

8. On what grounds is the right of the State to punish based ?

9. What is the difference between the relation of a citizen with his religious community and with his State ?

10 Can you distinguish between good and bad laws ? If so, what is the basis of distinction ?

11. What is the meaning of 'adult franchise' ? State the grounds for and against its adoption in any country.

1933

1. Distinguish between Society, State and Government.

2. Why do men obey the State ? Are there any circumstances in which men have a right to disobey ?

3. What is the origin of Property ? On what grounds should individuals be allowed to hold property ?

4. What do you understand by the term 'Responsible Self-government '? What are the necessary conditions for the establishment of such a govetnment in any country ?

5. Clearly distinguish between a Federal and a Unitary Constitution.

6. Do you consider it the necessary duty of a State to make primary education free and compulsory and to make provision for health and sanitation ? If so, what are your reasons ?

7. What do you understand by the term 'Nationalism' ? What are its salient features ?

8. What functions and powers should be assigned to Municipal and District Boards, and why ?

9. Describe the difierent systems of electing representatives for a legislature, and discuss their merits and defects.

10. What are Natural Laws ? How are they related to Civil Laws ?

1934

1. What is the subject-matter of the science of Civics ? How is Civics related to History, Ethics, Economics, and Psychology ?

2. What are the principal functions of the State ? Is it the duty of the State to make men moral ?

3. Describe the conditions which are necessary for the establishment of a democratic form of government. What are the defects of democracy ? Illustrate your answer with reference to modern constitutions which you know.

4. Has a citizen the right to refuse to fight when called upon by his State ? Under what circumstances is it his duty to resist the commands of the State ?

5. Describe the different types of the executive in federal and unitary forms of government.

6. On what grounds do you justify the existence of second chambers ? Do these considerations apply in the case of Indian provinces ?

7. What do you understand by the terms 'liberty' and 'equality' ? Discuss the different meanings which have been given to them.

8. Describe the constitution, powers, and functions of the District Boards in the United Provinces.

9. On what principles are the powers and functions

of government distributed between the Central government, the Provincial governments, and local bodies ?

10. How far, and in what way, can the State promote industry, commerce, and the material welfare of the people ?

1935

1. Describe the different theories of the origin of 'Society' and 'State', and explain which of these is the most satisfactory.

2. What are the types of social organization ? How does the State differ from them ?

3. Describe the important forms of government found at the present time, and discuss their merits and defects.

4. Explain the terms 'right' and 'duty'. What are natural rights ?

5. How far is it the duty of the State to remove poverty, disease, and ignorance, and to promote religion and morals ? On what principles are the duties of the State fixed ?

6. On what lines are Political Parties organized in countries of the West ? Are Indian Parties divided on similar principles ? What are the advantages of the Party System ?

7. What do you understand by the term Sovereignty ? What are the characteristics of sovereignty ?

8. Describe the functions of the Judiciary, the methods of its appointment, and its organization .

9. How do you differentiate between the functions of the Central Government and the Local Government ? On what grounds do you justify the existence of local self-government ?

10. Write short notes on *any three* of the following :-

(*a*) The League of Nations, (*b*) Socialism, (*c*) Dominion Status, (*d*) Public Opinion, (*e*) Democracy.

1936

1. Distinguish between society, State, and government.

2. Explain the proposition that man is a social animal.

3. 'It is the right of the individual to be free.'

'It is the duty of the individual to obey.'

Is there any conflict between these propositions ?

4 Define the term 'Political rights'. On what grounds are these rights justified ? What do you think are the principal political rights ?

5. Explain the principles underlying Party organization, and describe the character and functions of parties.

6. What do you understand by the term 'constitution '? On what principles is the classification of modern constitutions based ?

7. What part does Public Opinion play in a modern State ? How is Public Opinion formed and expressed ? Explain the conditions which obstruct the formation and expression of genuine public opinion.

8. Define 'Law'. What are the sources of law and its kinds ?

9. Write notes on *any four* of the following :—

(*a*) Dictatorship, (*b*) Bureaucracy, (*c*) Confederation, (*d*) Co-operative Societies, (*e*) Adult Franchise, (*f*) Oligarchy, (*g*) Functional Associations, (*h*) Equality of Opportunities.

10. Discuss the proposition that the family is the greatest of educational institutions.

1937

1. Explain the relationship between Civics and History. What is the scope of Civics ?

2. Why is it necessary for man to move in associations ? How do you distinguish between the functions of a social club, an athletic association, and a State ?

3. Discuss briefly the more important theories regarding the origin of the State.

4. 'It is only in a world of duties that rights have significance'. Discuss and illustrate

5. Distinguish between good and bad laws. What means should a citizen adopt to get bad laws modified ?

6. What are the main functions of a modern State ? What kind of State can perform them most efficiently ?

7. What is meant by division or separation of Powers ? Is it necessary to have an independent judiciary in a civilized State ?

8. Discuss the importance of Local Self-government in the modern State, with special reference to India.

9 What are the aims and objects of the League of Nations? Give some account of its social and humanitarian activities.

10. Write short notes on *any three* of the following:—

(*a*) Democracy, (*b*) Federation, (*c*) Public Opinion, (*d*) Second Chambers, (*e*) Representative Government, and (*f*) Two party system.

11. Write a short essay on the merits and draw-backs of Democracy.

1938

1. Explain the following terms, making clear the distinctions between them :—

Association ; institution ; community ; family ; society; nation

2 What are the essential elements of a Sovereign State ? Do you consider the following to be Sovereign States ? Give reasons for your answer :—

Jews ; India ; Kashmir ; New Zealand ;
Municipal Board ; League of Nations ; Spain.

3. Describe the hindrances to good citizenship, and show how they may be removed.

4 What do you understand by the term 'equality'? Is it desirable to establish equality of all men in society ? In what sense is it possible to secure equality ?

5. What ought to be the aim of education ? How far does the present system of education fail to attain that sum ?

6 Explain the principles according to which you will determine the functions of the State. Can the State enforce temperance, truth telling, sanitation, and literacy ?

7. What are the conditions necessary for the success of democracy ? Are these conditions present in India to-day ?

8. Give an account of the different forms of government which are to be found in the world to-day.

9. Write brief notes on *any four* of the following :—

(*a*) Municipal trading ; (*b*) The economic minimum ; (*c*) The bicameral system ; (*d*) Vocational associations ; (*e*) Individualism ; (*f*) Plebiscite ; (*g*) Severeignty.

1939

1. What is the importance of the study of Civics in modern social life ? Explain the relationship and difference between Civics, Politics, and Economics.

2. What are the main types of associations in which a modern community organizes itself? Explain the terms Nation, State, Church, and Trade Union.

3. Discuss the origin and importance of Government.

4. Discuss the merits and demerits of democracy.

5 State the views of the individualist and socialist schools relating to the functions of Government.

6. How are the conflicting demands of law and liberty reconciled in a modern community?

7. 'Citizenship means the right ordering of loyalties.' Explain, and show as to how you would adjust your loyalties to family, town, community, and country.

8. On what grounds is the separation of the judiciary from the executive advocated? State its importance from the point of view of civic liberty.

9. Write short notes on *any four* of the following :—

(*a*) Rights of man.
(*b*) Universal suffrage.
(*c*) Proportional representation.
(*d*) Constitutional government.
(*e*) Dictatorship.
(*f*) Federal and Unitary governments.
(*g*) Bureaucracy and autocracy.

10 Critically discuss the aims and objects of the League of Nations.

1940

1. 'Man is, by nature and necessity, a social animal.' Explain clearly, giving illustrations.

2 Distinguish clearly between Society, State and Government.

3. 'Rights and duties are co-related to each others.' Discuss.

4. What are the most important theories of the origin of State ?

5. Describe the channels through which Public opinion expresses itself in a democratic State.

6. Discuss the chief features of a parliamentary form of the executive. Why are political parties necessary for its success ?

7. Write short notes on *any three* of the following :

(*a*) Sovereignty. (*b*) Citizenship, (*c*) Budget, (*d*) Franchise, (*e*) Second Chambers, (*f*) Nationalism.

8. Describe the social and humanitarian activities of the League of Nations.

9. 'The family is the most important of all associations.' Discuss.

10. Explain the proposition that law is the real basis of liberty.

1941

1. Define *Civics*. Explain clearly how Civics is related to Sociology, Ethics, and History.

2. 'Citizenship is a condition of life which guarantees to the citizen the enjoyment of all rights, civil as well as political, in the State.' Discuss.

3. Define *liberty*. Comment on the statement ; 'Restraints are necessary for the enjoyment of liberty.'

4. What do you understand by the term 'Constitution '? Explain clearly the distinction between rigid and flexible constitutions.

5. What is meant by '*Separation of Powers* '? What are its advantages ?

6. Describe the various functions which modern States have to perform. Which of these functions do you consider most important, and why ?

7. Write brief notes on *any three* of the following :—

(*a*) Dictatorship, (*b*) Adult Franchise, (*c*) Proportional Representation, (*d* Referendum, and (*e*) Initiative.

8. Discuss the advantages and disadvantages of bicameral legislatures.

9. ' government to be a good one must voice the opinion of its subjects and the best means to achieve this goal is to encourage local self-government as much as possible.' Discuss.

10. 'Education on the widest scale is essential to the working of democratic government.' Comment.

1942

1. 'The family is the cradle of social virtues.' Explain and discuss

2. What are the various types of 'association' ? How does the State differ from other associations ?

3. Describe some of the more important rights and duties of a citizen in a modern State.

4. What do you understand by the term 'sovereignty'? Explain its chief characteristics.

5. What are the important organs through which modern Governments carry on their activities ? What is the importance of an independent Judiciary ?

6. Define 'Democracy'. Discuss the part played by freedom of speech and freedom of the press in a democracy

7. Define *Law*. What are the chief sources from which Law is derive l ?

8. Give an account of the social contract theory, and add a short criticism.

9. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) Socialism ; (*b*) Federalism ; ( ) Public Opinion ; (*d*) Female Suffrage ; (*e*) Organic theory of State ; and (*f*) Equality.

10. What is meant by Party Government ? Explain its advantages and defects.

11. Discuss the Individualistic theory of State.

1943

1. Define *citizenship*. Distinguish a citizen from a resident alien.

2. Mention the important rights which every citizen of a modern State should possess.

3. Discuss the important functions of the State.

4. Why is it the duty of the citizen to obey the State ? Under what circumstances, if any, has the citizen the right to resist the State ?

5. Can liberty exist without law ? What do you understand by the phrases—Liberty of Speech and Liberty of the Press ?

6. 'The basic principle of a democratic form of government is that similar opportunities of self-development, in all spheres of life, are to be made available to every citizen.' Discuss.

7. What do you understand by the term 'Franchise'? Discuss the question of Universal Suffrage, with special reference to India.

8. 'An alert and intelligent Public Opinion is the first essential of democracy'. Discuss.

9. Estimate the value of local self-governing bodies in the administration of a democratic State. What are the functions which, in your opinion, should be assigned to them ?

10. Describe the main features of a federal government. Point out its advantages and disadvantages.

11. Write short notes on *any three* of the following:—

(*a*) Family ; (*b*) Government ; (*c*) Communism ; (*d*) Party system ; (*e*) Nationalism ; (*f*) Flexible constitutions.

1944

1. "Citizenship is the right ordering of several loyalties". Explain, giving illustrations.

2. What is an "association "? Why does man move in associations ? How would you classify them ?

3. Define a state. Distinguish it from Society, Government and Nation.

4. Give an outline of the Individualistic Theory regarding the function of the State and add a short criticism.

5. "Rights imply duties." Justify this remark, giving illustrations.

6. Explain the various forms of Equality. Equality is not opposed to Liberty, but is complementry to it. Do you agree ?

7 What is a Political Party ? Indicate the part it plays, (*a*) in the education of the citizen, and (*b*) in the formation of government.

8. State clearly the respective merits and demerits of Democracy and Dictatorship as forms of government.

9. Point out the essentials of a good electoral system. How does the electorate exercise control over the government in a modern State ?

10. Enumerate the qualities of a good citizen. What are the hindrances to good citizenship ?

11. Write notes on *any three* of the following :—

(*a*) Freedom of the Press ; (*b*) Unitary government ; (*c*) Representation of Minorities ; (*d*) Local Self Government ; (*e*) Internationalism ; (*f*) Town planning.

1945

1 Bring out the meaning of *any two* of the following statements :—

(*a*) 'The home is the primary school of civic virtues.'

(*b*) 'The State and its citizens are one'

(*c*) 'The foundation of every State is the education of its youth'

2. 'We should regard the modern State as the outcome of a gradual process of evolution'. Amplify the remark.

3. Why is the vote of a citizen the supreme test of his citizenship ?

4. Why should the State care for the poor ?

Is it just to tax one man to help in educating another man's children ?

5. What is the purpose of Law ?

Give an imaginary picture of a State without Law.

6. What do you understand by Public Opinion ? What methods would you suggest for the formation of a sound public opinion in India ?

7. Point out the main functions of the legislature in modern parliamentary government

Which do you prefer, a unicameral or a bicameral legislature ? Give reasons for your preference.

8. State briefly the theory of Separation of Powers.

Why is an independent judiciary regarded as the guardian of the liberties of the citizens ?

9. On what grounds, and to what extent would you advocate control of the local by the central government ?

10. Explain the term 'Constitution'.

Indicate briefly the merits and demerits of rigid and flexible constitutions.

11. Write notes on *any three* of the following :—

(*a*) Civil rights ; (*b*) Indirect election ; (*c*) Responsible government ; (*d*) Bureaucracy ; (*e*) Socialism ; (*f*) Monarchy ; (*g*) The Sovereignty of the State.

1946

1. Define Civics, and briefly discuss its scope and method.

2. What do you understand by the terms 'equality' and 'liberty' ?

3. Discuss the importance of Local Self-Government in the modern State, with special reference to India.

4. Give a careful account of the various types of associations.

5. Describe the main features of a Federal State. Point out its advantages and disadvantages.

6. What do you understand by 'Rights' and 'Duties'? What are 'natural rights'?

7. Define the term 'Franchise'. Discuss the question of Universal Suffrage, with special reference to India

8. Examine and discuss the proposition that 'man is a social animal.'

9 Write notes on *any three* of the following : –

(*a*) Sovereignty ; (*b*) Judiciary ; (*c*) Second Chambers; (*d*) Plebiscite ; (*e*) Dictatorship ; (*f*) Democracy.

10. What are the functions of a modern legislature ?

1947

1. What is the utility of the study of Civics ?

2. What are the various purposes of Punishment ?

3. What are the elements which constitute a 'nation'? Can India be regarded as one nation ?

4. 'State is the first essential condition of civilized life.' Explain.

5 Describe the Social Contract Theory of the origin of the State, and add a short criticism.

6. Point out the attributes of Sovereignty, and distinguish between Legal and Political Sovereignty.

7. Discuss the comparative merits and demerits of the Cabinet and Presidential forms of government.

8. Describe the essential and the optional functions of the State.

9. Give a correct definition of Liberty, and discuss its relation with Law.

10. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) Austin's theory of Sovereignty ; (*b*) Bureaucracy ; (*c*) Dictatorship ; (*d*) Direct Democracy ; (*e*) Public Opinion ; (*f*) Cumulative Voting.